

कृष्णदास संस्कृत सीरीज

३०

महाकविकालिदासविरचितं

मेघदूतम्

‘इन्दुकला’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः

श्री वैद्यनाथ झा शास्त्री



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

कृष्णदास संस्कृत सीरीज

३०

महाकविकालिदासविरचितं

मेघदूतम्

‘इन्दुकला’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः

श्री वैद्यनाथ ज्ञा शास्त्री



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : चतुर्थ, सन् २००२
मूल्य : पूर्वमेघ ३५.००
संपूर्ण ६०.००

© कृष्णदास अकादमी

पोस्ट बॉक्स नं० १११८
के. ३७/१८८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० १००८ के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८ (आफिस), ३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES

30

MEGHADŪTAM

Of

MAHĀKAVI KĀLIDĀSA

with

'Indukalā' Sanskrit-Hindi Commentaries

By

Sri Vaidyanath Jha



KRISHNADAS ACADEMY, VARANASI

Publisher : Krishnadas Academy, Varanasi.
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.
Edition : 4rth, 2002

© KRISHNADAS ACADEMY

Oriental Publishers & Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221 001
Phone : 335020
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

Also can be had from

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagan)
Post Box No. 1008, Varanasi-221 001 (India)
Phone : Off. 333458, Resi. : 334032 & 335020

समर्पणम्

स्तुतिरधामुदारमधुरां विलसत्प्रसादां
 विश्रामधामपुलिनां विशदार्थधाराम् ।
 हंसावगाहृनरसां नितरामगाधा—
 माराधयामि कविराजसरस्वतीं ताम् ॥ १ ॥
 श्री-कालिदासरसपिच्छिलकाव्यमार्गे
 प्रस्थानकौतुकमतीव शिशुत्वमेव ।
 जानन्तपि स्फुटमिदं पुनरेव गन्तु—
 मालम्ब्य सद्गुरुकराङ्गुलिमुद्यतोऽस्मि ॥ २ ॥
 स्वाभाविकं स्खलनमेव पदे पदे मे
 सम्भाव्यते यदपि दुर्जनहासहेतुः ।
 स्मृत्वा सतां परमपारकृपामकम्पा—
 माश्वासनादकर्वं ललितार्थटीकाम् ॥ ३ ॥
 श्रोतुर्विमुख्यमतिविभ्रममारहन्तीं
 चित्रां पटीमिव नटीमिव नाटकस्य ।
 वाचं निवेदयति सो विपुलार्थलक्ष्मीं
 स्मेराननं तमनिशं गुहमानतोऽस्मि ॥ ४ ॥
 कीर्तिधुरि-स्फुरति नामनि यस्य शश्व—
 दानन्द एव चरमावयवं विभर्ति ।
 तस्मै सुधीन्द्रतिलकाय सुदेशिकाय
 टीकामिमामुपहरत्यथ वैद्यनाथः ॥ ५ ॥

०

—ः व्याख्यातूमङ्गलाचरणम् :—

शृङ्गार-दैवतमनन्तगुणाभिरामं
रामानुजं हृदयरञ्जनमञ्जनाभम् ।
नेत्रामृतं निरूपमं वृषभानुजाया
ध्वान्तापहं किमपि धाम नमामि कृष्णम् ॥ १ ॥
विद्याविनोदरसिकं मधुरं निसर्गा-
दन्तेवसत्स्वतुलवत्सलमेव सत्सु ।
आन्वीक्षिकीहृदयवल्लभमार्यकीत्या-
नन्दाभिधं गुरुवरं प्रणमामि भक्त्या ॥ २ ॥
यस्मिन् प्रसीदति, निषीदति भाग्यलक्ष्मी—
रत्सृज्य दैवहतकं गमनोत्सुकापि ।
जागर्ति सुप्तनियतिः शरणागतानां
तं पूज्यपूजितगुरुं शरणं प्रपद्ये ॥ ३ ॥
श्रीमत्कवीन्द्रकलकीर्तिकृताग्रदूतं
शश्वद्रसोर्मिशतमेदुरमेघदूतम् ।
व्याख्यातुमाश्रयति सद्गुरुदत्तविद्यां
हृद्यामवद्यारहितामिह वैद्यनाथः ॥ ४ ॥

भूमिका

संस्कृत साहित्य से सम्बद्ध ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो स्वनामधन्य सर्व-मूर्धन्य कवि एवं सुनिपुण नाटककार कविकुल-गुरु “कालिदास” को न जानता हो । जिनका यज्ञःसौरभ शकुन्तलानाटक के माध्यम से समस्त विश्व को सुवासित कर रहा है, जिनकी काव्य-मधुरिमा पर वया प्राच्य और वया भारतीय समस्त सहृदयगण लट्ठ हैं । “कविकुलमूर्धन्य” नाम वाली पगड़ी जिनके सम्पर्क में सार्थक हुई उन कविकुल-सुधाकर “कालिदास” को कौन नहीं जानता ? आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है, खण्डकाव्य, महाकाव्य और नाटक सर्वत्र ही आपकी कवित्व-शक्ति पूर्णरूप से परिपक्व दिखाई पड़ती है । आप भारत के ही नहीं अपितु समस्त विश्व के महाकवियों में सर्वप्रथम गिने जाने वाले महाकवि हैं । काव्य के तीनों विधाओं में आपके समान विश्व का कोई भी कवि ऐसा मनोरम काव्य-प्रणयन नहीं कर सका । प्रकृति के मनोरम चित्रण करने में एवं अपनी रचनाओं के पात्रों के चरित्र का असाधारण चित्रण करने में महाकवि अद्वितीय हैं । इनकी रचनाओं में नाट्यकला की सुन्दरता का अवलोकन कीजिए या महाकाव्य का वर्णन-सौन्दर्य देखिये अथवा गीतिकाव्य के सरस करुण हृदयोदगारों का आनन्द लीजिए, सब उपर्युपरि है । महाकवि में वह अप्रतिम चमत्कार है जिस पर समस्त विश्व आश्र्वयान्वित हो रहा है, इनमें ऐसी ब्रह्माण्डव्यापिनी सर्वातिशायिनी प्रतिभा है जिसका एकत्र समागम संसार में दुष्प्राप्य है । आध्यात्मिक रहस्य का ऐसा सरस प्रतिपादन अन्यत्र दुलंभ है । इनकी शान्तिप्रदायिनी उपदेशमयी कविताकौमुदी जिज्ञासुजन के जिज्ञासात्म हृदय को आनन्द-सागर की लहरों में ऐसा डुबो देती है कि उससे निकलने का नाम नहीं लेना चाहता । । इनकी कविता में अपनी शकुन्तला की तरह अनाप्राप्त पुष्प की ताजगी, अखण्डित किसलयों की कोमलता, अनास्वादित रस का माधुर्य तथा अखण्ड सौभाग्यशाली पुण्यों के फल की पवित्रता आदि का समवाय मिलता है । इस कलाकार की कला में केवल रसिकता ही नहीं अपितु समाज-विज्ञान का भी अपूर्व एवं अद्भुत दर्शन होता है । संस्कृत साहित्य के एकमात्र

कालिदास ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपनी कविता में अपने युग की चेतना को रूपायित किया है (बाण को छोड़कर)। इनका काव्य भारत के प्राचीन इतिहास के देवीप्यमान युग का प्रकाश-स्तम्भ और पौराणिक ब्राह्मण-धर्म तथा वर्णश्रम धर्म का वास्तविक प्रतीक है।

जीवन :—दुःख है कि हम अपने इस महाकवि के जीवन के विषय में 'इदमित्थम्' नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा कोई निश्चयात्मक प्रमाण उपलब्ध नहीं हो मिला है। महाकवि स्वयं इतने बड़े निरभिमानी थे कि अपने सम्बन्ध में इन्होंने नाम के प्रयोग को छोड़कर और कुछ लिखा ही नहीं। आत्मशलाघा से ये कितनी दूर रहते थे एवं ये कितने विनम्र थे इसका परिचय हमें इनके रघुवंश महाकाव्य के निम्नलिखित पदों में मिलता है—

कव सूर्यप्रभवो वंशः कव चाल्पविषया मतिः ।

तितीर्षुदुस्तरं मोहादुपेनाऽस्मि सागरम् ॥

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।

प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्वाहुरिव वामनः ॥

रघुणामन्वयं वक्ष्ये तनुवार्चिभवोऽपि सन् ।

तदगुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥ (रघु०, १-२।३।९॥)

अतः ये कव और कहाँ उत्पन्न हुए? ऐसे महारत्न का जन्म किस स्तुत्य दम्पति ने दिया, एवं ये कव परलोक सिधारे—इन सब वातों का समुचित एवं सन्तोषप्रद उत्तर हमें नहीं प्राप्त हो सका है।

ऐसी जनश्रुति है कि महाकवि पहले महामूर्ख थे। किसी शारदानन्द नामक राजा की पुत्री विद्योत्तमा विदुषी एवं परम-सुन्दरी थी। अपनी विद्या के गर्व के कारण उसने 'शास्त्रार्थ में जो पुरुष मुझे परास्त करेगा उसी से मैं अपना विवाह करूँगी' ऐसी प्रतिज्ञा कर ली थी। तात्कालिक विद्वान् लोग उससे परास्त होकर ईर्ष्याविश उसका दपं-भंग करने के लिए उसका विवाह किसी महामूर्ख से कराना चाहते थे, और सब मिलकर ऐसे मूर्ख को खोजने लगे। कहा जाता है कि कालिदास वृक्ष की डाल पर बैठकर उसी डाल को इस तरह काट रहे थे जिससे उसके कटने पर डाल सहित कालिदास भी धराशायी हो जाते। पण्डितों ने इनकी कायंवाही को देखा और इन्हें महामूर्ख समझकर इन्हें नीचे उत्तरवाकर 'हमलोग तुम्हारा विवाह एक परमा सुन्दरी राजकुमारी से

करवा देंगे तुम कुछ न बोलना हमलोग राजसभा में तुम्हारा परिचय 'ये हमारे गुरुजी हैं' इस तरह देंगे इत्यादि वातें समझाकर अपने साथ ले गये। राजसभा में जाकर पण्डितों ने इनका पूर्वनियोजित ढंग से परिचय दिया तथा शास्त्रार्थ के लिए राजकुमारी को कहा एवं यह भी सूचित कर दिया कि 'इस समय हमारे पूज्य गुरुवर ने मौन व्रत ले रखा है अतः शास्त्रार्थ साङ्केतिक (इशारों से) होगा।' शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। विद्योत्तमा ने 'ईश्वर एक है' इस अभिप्राय से अपनी एक अंगुली उठाकर गुरुजी की तरफ दिखाया। गुरुजी ने 'यह मेरी एक आँख फोड़ने का संकेत कर रही है' ऐसा समझकर 'मैं तुम्हारी दोनों आँखें फोड़ दूँगा' इस अभिप्राय से अपनी दो अंगुली ऊपर उठाकर राजकुमारी को दिखाया। इस पर गुरुनी के जिध्यों ने एकजुट होकर ऐसा तर्क-कृतक प्रस्तुत किया कि विद्योत्तमा को परास्त होना पड़ा। अन्ततः इनका विवाह राजकुमारी से हो गया। कहा जाता है कि सुहागरात के शुभावसर पर बाहर कोई 'ऊँट' चिलाया और विनोद के लिए राजकुमारी ने अपने पति से किमिदम् (यह क्या है) ? ऐसा पूछा। उस मूर्ख ने पत्नी के प्रश्न को सुनकर घबराकर या उच्चारण की असमर्थता से 'उट्रोऽयम्' ऐसा उत्तर दिया। राजकुमारी पण्डितों के षड्यन्त्र को समझकर अपने दुर्भाग्य पर पछताती हुई पति महोदय को अपमानित कर राजभवन से निकाल दिया। उस मूर्ख के लिए पत्नी का अपमान असहा था। अतः उसने विद्या-प्राप्ति के लिए किसी 'काली मन्दिर' में जाकर आमरण उपासना प्रारम्भ कर दी। काली ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा, उस मूर्ख ने 'कवित्वपूर्ण विद्या दो' ऐसा वर माँगा। भगवर्ती के 'एवमस्तु' ऐसा कहकर अन्तर्धान हो जाने पर वह मूर्ख तत्क्षण सकल शास्त्र का पारद्वारा एवं अद्वितीय प्रतिभासम्पन्न विद्वान् हो गया। काली की उपासना के फलस्वरूप उन्हें विद्या मिली अतः उनका नाम 'कालिदास' पड़ा, ऐसा भी सुना जाता है। आगे यह भी किंवदन्ती है कि वरदान मिल जाने पर कालिदास को अपनी पत्नी के द्वारा किया गया अपमान भी स्मरण हो आया और उसका बदला लेने वे घर की ओर चले। जिस समय वे घर पहुँचे वह समय सम्भवतः रात का समय था अतः घर का द्वार बन्द था, उन्होंने बाहर से आवाज लगायी 'अनावृतकपाटं द्वारं देहि' (बन्द किवार खोलो)। विद्योत्तमा पति के स्वर से परिचित थी एवं पति की मूर्खतम् से भी, अतः उसने साश्रय पूछा—

‘अस्ति कश्चिद्वाग्वशेषः’ (क्या वाणी की कुछ विशेषता है ?) महाकवि ने पत्नी के विद्याभिभान का मर्दन करने के लिए उसके द्वारा प्रयुक्त वाक्य के तीन पदों को लेकर तीन काव्यों का निर्माण किया जो संस्कृत साहित्य के अनुठे काव्य हैं । जैसे कि ‘अस्ति’ इस वाक्यांश को लेकर ‘अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा’ इस चरण से प्रारम्भ होने वाला ‘कुमारसंभव’ महाकाव्य, ‘कश्चित्’ इस वाक्यांश को लेकर ‘कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा’ इस चरण से प्रारम्भ होने वाला ‘मेघद्रूत’ नामक खण्डकाव्य तथा ‘वाक्’ इस वाक्यांश को लेकर ‘वागर्थाविव सम्पृक्तौ’ इस चरण से प्रारम्भ होने वाला ‘रघुवंश’ महाकाव्य । यह किंवदन्ती बहुत प्रभिद्ध है ।

इनके सम्बन्ध में दूसरी जनश्रुति है कि २०० ई० में वर्तमान लङ्घा के महाराज कुमारदास स्वयं कवि थे और कलामर्जन भी । अतः उन्होंने कालिदास को अपनी राजसभा में ही नहीं रखा अपिन् अपना मित्र भी बना लिया । राजभोग का उपभोग करते हुए इनका सम्बन्ध किसी वेश्या से हो गया और उसी के द्वारा इनकी हत्या कर दी गयी । पर यह जनश्रुति विलकुल निराधार जान पड़ती है ।

कुछ लोग इन्हें महाराज विक्रमादित्य की समा के नवरत्नों में एक मानते हैं । जैसा कि इनके काव्यों में ‘विक्रम’ शब्द का साभिप्राय प्रयोग किसी विक्रम राजा के आश्रित होने का संकेत करता है ।

कालिदास का सम्प्रदाय :— कालिदास जाति के ब्राह्मण थे । ये किस सम्प्रदाय के थे ? इनके उपास्य देव कौन थे ? इन सब प्रश्नों का उत्तर हमें उनके काव्यों के आचि में किये गये मञ्जलाचरणों से मिलता है । रघुवंश के मञ्जलाचरण में उन्होंने जगत् के माता-पिता शङ्कर और पार्वती को प्रणाम किया है—जैसे

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र नाटक में उन्होंने अष्टमूर्ति शङ्कर की वन्दना की है । जैसे :—

एकैश्वर्यं स्थितोऽपि प्रणतबहुक्लेयः स्वयं कृत्तिवासाः,

कान्तासंभिश्चदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम् ।

अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बध्रतो नाऽभिमानः,

सन्मार्गलोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥

इसी प्रकार विक्रमोवंशीय ब्रोटक के मञ्जलाचरण में उन्होंने शङ्कर की प्रार्थना की है : जैसे—

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी

यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।

अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिन्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते

स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायाऽस्तु वः ॥

इसी प्रकार विश्वविश्रृत 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के मञ्जलाचरण में उन्होंने अष्टमूर्ति शङ्कर को ही प्रणाम किया है । जैसे—

या मृष्टिः स्फुरुराद्या, वहति विधिद्वत् या हविर्या च होत्री

ये द्वे कालं विद्यतः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।

यामाहुः सर्ववीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः

प्रत्यक्षाभिः प्रपस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥

इस प्रकार हम यह निश्चय कर सकते हैं कि ये भगवान् शिव के उपासक थे और इनका सम्प्रदाय 'शैव' था । परन्तु यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि विश्व के सर्वश्चेषु महाकवि कालिदास स्वयं शैव होते हुए भी सम्प्रदायिक संझीर्णता से बहुत ही दूर थे । यह बात मैं नहीं, उनका काव्य स्वयं कह रहा है । कुमारसंभव के द्वितीय सर्ग में ब्रह्माजी की स्तुति एवं रघुवंश के दशम सर्ग में की गयी 'विष्णु' की स्तुति इसका प्रमाण है । इतना ही नहीं, ये एक ही परब्रह्म के तीनों रूप (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) मानते हैं—जैसा कि कुमार संभव के सप्तम सर्ग में उन्होंने प्रतिपादित किया है । जैसे—

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमाऽवरत्वम् ।

विष्णोहंस्तस्य हरे: कदाचिद्-वेदास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ । (७।४४।)

कालिदास का स्थितिकाल—कालिदास का स्थितिकाल संस्कृत साहित्य के इतिहास में विभिन्न इतिहासज्ञों के अन्तःसाक्ष्य प्रमाणों के आधार पर इसा के पूर्वे प्रथम शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक के सात सौ वर्षों के लम्बे समय में झूल रहा है । यहाँ पर संक्षेप में प्रधान मर्तों का उल्लेख किया जायगा । उनमें सामान्यतः चार मर्त प्रधान हैं । जिसमें प्रथम है—

(१) धारा नगरी के राजा भोज का समय (१००५-१०५४) खूषट की ग्यारहवीं शताब्दी । वल्लालसेन नामक किसी विद्वान् ने कालिदास को

राजा भोज का सभा-पण्डित माना है। वल्लालसेन ने यह बात सुनी-सुनायी बातों के आधार पर लिखी है क्योंकि वे स्वयं भोज के समकालिक नहीं थे। यह बात उन्हीं के कथनों से पुष्ट होती है। क्योंकि जहाँ पर कालिदास को भोज का सभा-पण्डित उन्होंने कहा वहीं भारवि, दण्डी, माघ आदि कवियों को भी (जो विभिन्न समय के थे) भोज के सभा-पण्डित कहा है। अतः यह मत बिल्कुल नगण्य है। क्योंकि राजा भोज ग्यारहवीं शताब्दी के थे और कालम्बरी तथा हर्षचरित के रचयिता वाणभट्ट छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए थे। एवं वाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में कालिदास की प्रशंसा में लिखा है—

'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।'

प्रीतिमंधुरसन्द्रासु मञ्जरीविवद जायते ॥'

यदि कालिदास भोज के सभापण्डित होते तो उनकी प्रशंसा ५०० वर्ष पूर्व कैसे होती ? हो सकता है वल्लालसेन ने भोज के समय हुए परिमल कालिदास या कालिदास उपाधिवाले किसी और कवि को ही भ्रमदश दीप-शिखा 'कालिदास' मान लिया हो।

(२) दूसरा मत है चौथी शताब्दी के अन्त से पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक अर्थात् चन्द्रगुप्तविक्रमादित्य और समुद्रगुप्त का राज्यकाल। प्रो० लासेन, कनेल विलफोर्ड, जेम्स ग्रिन्सेप, प्रो० मैकडानल, प्रो० कीथ और विस्टेण्ट स्मिथ आदि विदेशी विद्वानों का कहना है कि गुप्तवंश के राजाओं के राज्यकाल में भारत का साहित्यसूर्य मध्याह्न के आकाश में स्थित होकर सारे संसार को अपने प्रखर किरणों से प्रभावित कर रहा था। कालिदास की रचना में जो तृप्ति और आनन्द की अजस्र धारा प्रवाहित हुई वह उसी सुख एवं समृद्धि के सौभाग्य समय में संभव हो सकती है। प्रो० विस्टेण्ट स्मिथ कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल में आये 'चीनांशुकमिव केतोः' इस उक्ति के आधार पर यह मानते हैं कि जिस बौद्ध धर्म के प्रभाव से भारत और चीन की पारस्परिक मैत्री होकर दोनों देशों की सम्यता के समिश्रण से एक तीसरी सम्यता उत्पन्न हुई उसका पूर्ण विकास गुप्त वंश के राज्यकाल में ही हुआ।

कामं तृप्तः सन्तु सहस्रशोऽये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।

नक्षत्रताराग्रहसंकुलाऽपि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥ (खण्डश, ६-२२)

रघुवंश के इन्दुमती स्वयंवर में सुनदा सर्वप्रथम मगध के राजा की प्रशंसा करती है। गुप्तवंश के राजा मगध पर शासन करते थे, यह बात तो निर्विवाद है ही। प्र०० कीथ सर्वप्रथम मगधेश्वर की प्रशंसा किये जाने को यह मानते हैं कि कालिदास ने इस तरह प्रचलनभाव से अपने आश्रयदाता का संकेत एवं कृतज्ञता धोषित करने के लिए प्रशंसा अपने काव्यों में की है। उनका कहना है कि कालिदास ने इसी तरह रघुवंश में 'आसमुद्रक्षिणीशानाम्' इस वाक्य के द्वारा समुद्रगुप्त के राज्यविस्तार का संकेत किया है, इसी तरह 'ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः' इस श्लोकांश में आये 'चन्द्र' शब्द के द्वारा अपने आश्रयदाता चन्द्रगुप्त का एवं 'कुमारकलं प्रसुवे कुमारम्' इस श्लोक में आये 'कुमार' शब्द के द्वारा उसके पुत्र कुमारगुप्त का संकेत किया है। उनका कहना है कि 'कुमारसंभव' नामक महाकाव्य की रचना कालिदास ने चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म के उपलक्ष्य में की है।

उन्होंने कालिदास को गुप्त काल में मानने के लिए कुछ ऐतिहासिक प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। उनका कहना है कि अश्वघोष कनिष्ठ के शासनकाल में विद्यमान थे। अश्वघोष एवं कालिदास की रचनाओं में अनेक स्थल पर भाव-साम्य है। भावसाम्य के कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं—

महाकवि अश्वघोष का अपने बुद्धचरित में सिद्धार्थ के जन्म का वर्णन—

वाता ववुः स्पर्शसुखा मनोज्ञा दिव्यानि वासांस्यवपातयन्तः ।

सूर्यः स एवाऽस्यधिकं चकासे जज्वाल सौम्याचिरनीरितोऽनिः ॥

(बुद्धचरित, १-२२)

यदि इस तरह करते हैं तो महाकवि कालिदास भी अपने कुमारसंभव में कार्तिकेय के जन्म का भी वर्णन उसी प्रकार करते हैं—

वाता ववुः सौख्यकराः प्रसेदुः आशाविधून्नो हुतभुग् दिवीपे ।

जलान्यभूवन् विमलानि तत्रोत्सवेऽन्तरिक्षं प्रससाद रात्यः ॥ (११-३७)

यदि अश्वघोष राजकुमार सिद्धार्थ जिस समय वनविहार के लिए राजमार्ग पर निकले उस समय उनको देखने के लिए उत्कण्ठित नगर-नारियों के मुख का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परम्परायासितकुण्डलानि ।

स्त्रीणां विरेजुमुखपङ्कजानि सत्तानि हर्षेभ्यव पङ्कजानि ॥

(बुद्धचरित, ३-१९)

तो कालिदास भी स्वयंवर में आते हुए अज को देखने के लिए उत्कण्ठित नगरस्थियों के मुख का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

तासां मुखैरासवगन्धर्भैर्व्यासान्तराः सान्द्रकुतृहलानाम् ।

विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्रः भरणा इवाऽस्मन् ॥ (रघुवंश, ७-११)

बुद्धचरित में तपस्या में लीन बुद्ध को तपस्या से विरत करने के लिए प्रयत्नशील काम को आकाशस्थ विशिष्टभूत इस प्रकार फटकारता है—

मोर्चं श्रमं नाहंसि मार ! कर्तुं हित्यात्मतामुत्सृज गच्छ शर्म ।

नैष त्वया कम्पयितुं हि शक्यो महागिरिमेस्त्रिवाऽनिलेन ॥

(बुद्धचरित, १३-५७)

रघुवंश में नन्दिनी सेवा में तत्पर दिलीप की परीक्षा के लिए मायानिमित सिंह भी राजा को उसी प्रकार कहता है—

‘अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रभितो वृथा स्यात् ।

न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छेति मारुतस्य ॥ (रघुवंश, २-३४)

इसी तरह सौन्दरनन्द में नन्द को बुद्ध के गौरव से एवं सुन्दरी दिया के अनुराग से हुई दुविधा का वर्णन अश्वधोष इस प्रकार करते हैं—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्षं, भायनुरागः पुनराचकर्षं ।

सोऽनिश्चयान्नाऽपि ययौ न तस्थो तरंस्तरङ्गेभिव राजहंसः ॥ (४-४२)

कुमारसंभव में तपश्चर्यारित पार्वती की परीक्षा के लिए आये हुए ब्रह्मचारी वेशधारी शिव ने शिव की निन्दा सुनाने के कारण जाती हुई पार्वती को अपना स्वरूप दिखला कर जैसी दुविधा में डाला—कालिदास के द्वारा उसका वर्णन देखिए—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्ग्यष्टि-निक्षेपणाय पदमुदधृतमुद्धन्ती ।

मार्गाऽचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराज-तनया न ययौ न तस्थो ॥

(५-८५)

इस प्रकार दोनों महाकवियों की रचनाओं में बहुत-से स्थलों पर समानता पायी जाती है जो इस बात को प्रमाणित करती है कि एक ने दूसरे का अनुकरण किया है । किसने अनुकरण किया और किसकी रचना अनुकायं है इसका विवेचन यदि किया जाय तो समय की कुछ जानकारी हो सकती है । प्रो० साहेब का कहना है कि महाकवि भास ने अपने नाटकों में जैसी प्राकृत भाषा का प्रयोग किया है वह अश्वधोष के द्वारा प्रयुक्त प्राकृत से परिष्कृत और अवाचीन है, इससे सिद्ध होता है कि महाकवि भास अश्वधोष से अर्वाचीन हैं । महाकवि

कालिदास भास से अर्वाचीन हैं यह बात तो निर्विवाद ही है क्योंकि कालिदास स्वयं मालविकास्त्रिमित्र नाटक के प्रारम्भ में भास को प्राचीन यशस्वी कवि मान चुके हैं । जैसे—प्रथितयशसां भाससौमिललकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य कृतौ कथं बहुमानः ? अब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कालिदास ने अश्वघोष का अनुकरण किया है । हम पहले ही लिख चुके हैं कि अश्वघोष कनिष्ठ के समय में विद्यमान थे । कनिष्ठ सम्भवतः खृष्ट की प्रथम या द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में पञ्जाव का शासन करते थे । इस स्थिति में भास यदि तृतीय शताब्दी के कवि माने जाएँ तो कालिदास उनसे परवर्ती कवि माने जाएँगे ।

दूसरी बात बाणभट्ट की रचनाओं से पता चलता है कि वे हर्षवर्द्धन के सभा-पण्डित थे । हर्षवर्द्धन सातवीं शताब्दी के मध्यभाग में राज्य करते थे एवं व्याणभट्ट ने कालिदास की प्रशंसा में ‘निर्गंतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिपु’ ऐसा लिखा है जिससे सिद्ध होता है कि कालिदास सातवीं शताब्दी के पूर्व विद्यमान थे ।

“सविजयतां रविकीर्तिः कविताऽश्रितकालिदासभारविकीर्तिः” द्वितीय पुलकेशी के इस प्रस्तरलेख से सिद्ध होता है कि कालिदास द्वितीय पुलकेशी जो ६३४ खृष्टाब्द का माना जाता है, के पूर्व विद्यमान थे । इस तरह कालिदास ६३४ खृष्टाब्द से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं ।

वत्सभट्ट नाम के कवि ने प्राचीन दशपुर आधुनिक मन्दसोर नाम के स्थान के सूर्यमन्दिर के प्रशस्ति की रचना की है । जिस प्रशस्ति पर मालव संवत् ५२९ का उल्लेख है । पूर्वोक्त लेख की भाषा और शैली में कालिदास की भाषा और शैली की समानता पायी जाती है । इससे सिद्ध होता है कि कालिदास मालव सं० ५२९ से पूर्व विद्यमान थे ।

प्रो० साहेब ने पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करना चाहा है कि कालिदास तृतीय शताब्दी से पीछे एवं पाँचवीं शताब्दी के पूर्व विद्यमान थे । एवं यह सिद्ध होता है कि कालिदास गुप्त वंश के राजाओं के राज्यकाल में विद्यमान थे । इनकी आनन्दपूर्ण शान्तिप्रदायिनी काव्यधारा उसी सौभाग्य समय में प्रवाहित हुई थी । एवं पूर्वोक्त पद्य में ‘चन्द्र’ शब्द के आधार पर इनके आश्रयदाता चन्द्रगुप्त द्वितीय को मान लिया जाता है, जिसका राज्यकाल ४३४

तक था । इस प्रकार सिद्ध हुआ कि महाकवि कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में उत्पन्न हुए थे ।

परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के इस मत का यदि ठीक से विवेचन किया जाए तो उनका कथन मात्र काल्पनिक सिद्ध होगा, सत्य नहीं । जिसका विचार हम आगे करेंगे ।

तीसरा मत है छठी शताब्दी अर्थात् विश्वविश्वात् ज्योतिषी वराहमिहिर का समय । इस मत को मानने वाले प्रमुख पाश्चात्य विद्वान् हैं—प्रो० मैक्स-मूलर, डॉ० भण्डारकर, प्रो. कर्न एवं डॉ० भाऊदा जी । इन लोगों का आधार आरतीय जनश्रुति है ।

कालिदास के ग्रन्थों के टीकाकर मलिलनाथजी ने मेघदूत की टीका में कालिदास को महाराज विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक माना है—पूर्वोक्त विद्वान् ने इसी पर निर्भर होकर इनको छठी शताब्दी का मान लिया है । क्योंकि कालिदास जिन नवरत्नों में एक थे उन्हीं में ज्योतिष के उद्भट् विद्वान् वराहमिहिर भी एक रत्न थे । ब्रह्मगुप्त के खण्डनखाद्य की टीका में अमरराज लिखते हैं—

‘नवाधिक-पञ्चशतसंख्याके वराहमिहिराचार्यो दिवं गतः’ ।

नवाधिक पञ्चशत का अर्थ ५०९ होगा ।

इस उक्ति के आधार पर वराहमिहिर की मृत्यु ५८७ खृष्टाब्द मानी जा सकती है । इस तरह कालिदास भी छठी शताब्दी के सिद्ध होते हैं । आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्ति असङ्ग के छात्र थे । असङ्ग ५४१ खृष्टाब्द में विद्यमान थे ।

स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पत्तोदड्मुखः खं

दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ।

इस इलोक की टीका में मलिलनाथ ने दिङ्नाग एवं निचुल शब्द को शिलष्ट माना है । दिङ्नागाचार्य वसवन्धु के भी छात्र थे । उसी समय उजजियनी में ‘विक्रमादित्य’ नामक राजा राज्य करते थे । कालिदास उन्हीं के सभा-रत्न थे, यह बात प्रमाणित होती है परन्तु यह मत भी निःसार ही प्रतीत होता है ।

अब हम कालिदास को प्रथम शताब्दी का सिद्ध करने से पहले पूर्वकथित मतों का संक्षेप में विवेचन कर वास्तविकता की ओर बढ़ें ।

गुप्तकाल में ही संस्कृतविद्या का पुनर्जागरण हुआ यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यह सर्वसम्मत मत नहीं है । वास्तविकता तो यह है कि संस्कृत

विद्या का चरमोत्कर्ष विक्रमादित्य और राजा भोज के समय में हुआ और उसे ही संस्कृत का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। जिन विद्वानों ने 'चीनांशुकमिव-' यहीं प्रयुक्त 'चीन' शब्द को देशपरक मानकर तात्कालिक सम्मता का आदान-प्रदान आदि की कल्पना की है वह भ्रम मात्र है सत्य नहीं। क्योंकि 'चीन' शब्द का मेदिनी कोश के 'चीनो देशांशुकब्रीहिभेदे तन्तौ मृगान्तरे' इस पंक्ति के अनुसार 'रेशमी' वस्त्र भी अर्थ है। और यही अर्थ शाकुन्तल के उक्त स्थल के उपर्युक्त रेशमीवस्त्र वाला मत पुष्ट हो जाता है। एवं इन्दुमती स्वयंवर में सर्वप्रथम मगधेश्वर की प्रशंसा करवाने के कारण कालिदास यदि मगध के राजाओं के आश्रित मान लिये जायें तो, उनकी जन्मभूमि के विषय में अनेक तरह के प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे मेघदूत में अलकापुरी की अत्यधिक प्रशंसा करने से वे अलकापुरी के कोई यक्ष मान लिये जायें एवं इन्हें कुमारसंभव में हिमालय की पर्यास प्रशंसा करने के कारण वे कोई हिमालयवासी किन्नर मान लिये जाएँ, रघुवंश में रघु और अज की अत्यधिक प्रशंसा करवाने के कारण उन्हें अयोध्यावासी मान लिया जाए, शाकुन्तल में शकुन्तला प्रस्थान के समय आचार को देखकर उन्हें मिथिलावासी ही न क्यों मान लिया जाए। इस प्रकार बहुतेरे प्रश्न हो सकते हैं। अतः विद्वानों का उक्त आधार भी बालू की भीति ही है।

इसी तरह 'ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः' इस इलोकांश एवं 'गुप्तमूल प्रयत्नतः' इत्यादि स्थलों को आधार मान कर यह कहना कि कालिदास ने अपने आश्रयदाता गुप्त वंशज राजाओं का एवं 'चन्द्र' पद से 'द्वितीय चन्द्रगुप्त' का निर्देश किया है तो यह कहना भी युक्तिमूलक नहीं प्रतीत होता क्योंकि जब कवि सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होता है एवं उन्हें यदि अपने आश्रयदाता का संकेत ही करना था तो स्पष्ट रूप से कह सकते थे। कुमारसंभव की रचना चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्मोत्सव पर की गयी यह भी कोरी कल्पना है, इसमें सत्यता नहीं क्योंकि इसमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं है।

इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने अश्वघोष का अनुकरण किया इस लिए वे अश्वघोष के परवर्ती हैं, यह भी नहीं कह सकते।

महाकवि कालिदास की रचना कवित्वप्रदर्शन मात्र के लिए अर्थात् 'कला कला के लिए' थी, जब कि अश्वघोष की रचना अध्यात्ममार्ग से अन्यमनस्क लोगों का ध्यान काव्य के माध्यम से अध्यात्म की ओर आकृष्ट करना था। जैसा कि उन्होंने सौन्दरनन्द में स्पष्ट रूप से लिख भी दिया है।

'इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थं गर्भा कृतिः'

श्रोतृणां ग्रहणार्थं मन्य मनसां काव्योपचारा रात्कृता । इत्यादि

अतः रचना की समता को लेकर किसी महाकवि की रचना को मौलिक और किसी की रचना को अनुकृतिमूलक कहना साहसमात्र है। वैसे यदि कहा जाय कि अश्वघोष ने ही कालिदास का अनुकरण किया तो युक्तियुक्त भी हो सकता है। जैसे —

अपने नगर में अपने पिता द्वारा अवरुद्ध सिद्धार्थ का वन-विहार के लिए निकलने पर नगर-स्त्रियों की उत्सुकता उतनी नहीं रही होगी जितनी कि कुमारसंभव में औषधिप्रस्थ में वरयात्रा के प्रसङ्ग में शिवजी या इन्दुमती स्वयंवर के अनन्तर अज की यात्रा में उसे देखने के लिए स्त्रियों की उत्सुकता अपूर्ण रही होगी, अतः महाकवि ने जो स्त्रियों के औत्सुक्य का वर्णन किया है वह स्वाभाविक है अतः मौलिक एवं मनोरम है। अश्वघोष को तो अनुकृतिमूलक है।

कालिदास ने अश्वघोष का अनुकरण नहीं किया इसमें एक युक्ति यह भी है कि अनुकरण आदर्श का; उत्तम का किया जाता है जो स्वयं अपूर्ण है उसका कोई भला क्या अनुकरण करेगा? अश्वघोष की भाषा-शैली अपरिमार्जित है च्युति-संस्कृति दोषग्रस्त और साथ ही उतना हृदयावर्जक भी नहीं जितनी कि महाकवि कालिदास की। कालिदास की शैली परिमार्जित, सरस एवं मनोरम है।

साथ ही महाकवि कालिदास कितने निरभिमानी ये इस बात को मैंने प्रारम्भ में ही लिख दिया है। ये अपने से प्राचीन प्रतिष्ठित कवियों का यशो-गान करने में थोड़ा भी नहीं हिचकिचाते और न अपनी प्रतिष्ठा भज्ञ ही मानते थे। अतः उन्होंने मालविकागिनिमित्र में लिखा है कि—

'भास-सौमिलककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य कृतो कथं बहुमानं' इत्यादि। यदि कालिदास महाकवि अश्वघोष का अनुकरण किये होते तो उपर्युक्त पंक्ति में क्या उनका नामोल्लेख नहीं करते? अवश्य

करते। और भी 'चोरी' चोरी की तरह की जाती है। महाकवि कालिदास यदि अश्वघोष का अनुकरण किये होते तो वे यह साहस कभी नहीं कर सकते थे कि एक ही भाव को अपने दो महाकाव्यों (कुमारसंभव और रघुवंश) में उल्लेख करते। अतः इस आधार पर उन्हें चौथी शताब्दी के शेष भाग से पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का मानना कल्पनामात्र है।

प्रो० मैक्समूलर का यह कहना कि संस्कृत विद्या का चरमोत्कर्ष छठी शताब्दी से हुआ और उस समय कालिदास विद्यमान थे, फर्गुसन के कथन पर आधारित है। फर्गुसन का कहना है कि "खृष्ट के ५० वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नाम का कोई राजा था ही नहीं, अतः कालिदास प्रथम शताब्दी के नहीं माने जा सकते। अपितु, उज्जयिनी के महाराज विक्रमादित्य ने ५४४ ई० सन् में भारत से शकों को भगाकर उस विजयोपलक्ष्य में ६०० वर्ष पूर्व अपना संवत्सर स्थापित किया और उसी समय कालिदास उत्पन्न हुए।"

परन्तु फर्गुसन के इस मत का खण्डन प्रो० फ्लीट और हनेल ने महाकवि कालिदास के ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ के इस श्लोक—

धन्वन्तरिक्षपणकाऽमरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघर्षणर-कालिदासाः ।

स्थातो वराहभिहिरो रृपते: सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

को आधार मानकर किया है। कुछ यूरोपीय विद्वान् ज्योतिर्विदाभरण ग्रन्थ को महाकवि कालिदास की कृति नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि ज्योतिर्विदा-भरण ग्रन्थ में वर्णित ग्रहादि की दशा से यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के पश्चात् किसी नवीन विद्वान् ने इसका निर्माण किया है और कालिदास के नाम से प्रचरित कर दिया है। 'अस्तु' ज्योतिर्विदाभरण ग्रन्थ भले ही कालिदास विरचित न हो परन्तु यह तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि कालिदास विक्रम के नवरत्नों में एक थे। अब रही बात खृष्ट के ५० वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नामक राजा के रहने और न रहने की, तो इस पर यदि विचार किया जाय तो यह भी सिद्ध हो जाता है कि खृष्ट के ५० वर्ष पूर्व विक्रम थे।

डॉ० राजबली पाण्डेय ने अपने "विक्रमादित्य" नामक ग्रन्थ में पर्याप्त प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि खृष्ट से ५७ वर्ष पूर्व विक्रम नामक राजा थे। यूरोपीय विद्वान् ने जो चन्द्रगुप्त (द्वितीय) को ही उज्जयिनी के महाराज विक्रमादित्य मानकर यह लिखा है कि 'उसी ने ५४४ ई० सन् में शकों को भारत

से भगाया और ६०० साल पहले का संवत्सर चलाया' बिलकुल निराधार एवं वेतुका लगता है। यदि उसे अपने नाम से ही संवत्सर चलाना था तो ६०० साल पहले से क्यों चलाता? साथ ही यूरोपीय विद्वानों ने अपने उक्त कथन में कोई प्रमाण भी नहीं दिया है। अतः यह भी मत अनादरणीय ही है।

अब हम भारतीय विद्वानों के सम्मत प्रथम शताब्दी वाले मत का उल्लेख करने जा रहे हैं।

भारत की बहुप्रचलित जनश्रुति के आधार पर मालवनरेश विक्रम संवत्सर के प्रवर्तक जो खृष्ट से ५७ वर्ष पूर्व हुए थे उन "विक्रमादित्य" की सभा के नवरत्नों में कालिदास भी एक रत्न थे।

महाकविकालिदास गुप्तवंश के राजाओं के आश्रित नहीं थे अपितु खृष्ट से पूर्व प्रथम शताब्दी के विक्रमादित्य के आश्रित थे, निम्नलिखित प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है।

जै० के० सुब्रह्मण्यम् ने कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक से जो सूक्ष्म प्रमाण प्रस्तुत किये हैं वह महत्त्वपूर्ण हैं। उनका कथन है कि— महाकवि ने अपनी नवीन रचना के विषय में यह लिखा है कि—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चाऽपि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।"

इत्यादि। यहाँ प्रयुक्त "पुराण" पद शिल्षण है। महाकवि ने पुराण शब्द के द्वारा "पुराणरूपातवृत्त" का संकेत किया है। अर्थात् प्राचीन कवियों ने जो प्राचीन (रामायण, महाभारत आदि) रूपातवृत्तों का आश्रयण लेकर अपने काव्यों की रचना की है उसका मैत्रे (कालिदास ने) उल्लंघन किया है, इसलिए वह उपेक्ष्य नहीं है, काव्य-मर्मज्ञजन उसकी परीक्षा करके इस बात का निर्णय कर सकते हैं। वस्तुतः महाकवि ने उक्त नियम का उल्लङ्घन किया है। मालविकाग्निमित्र के भरतवाक्य—

"आशास्यमीतिविगमप्रभृतिप्रजानां

संपत्स्यते न खलु गोप्तरि नाऽग्निमित्रे ॥"

में प्रयुक्त "गोप्तरि, अग्निमित्रे" पद की समझी को भावलक्षणा मानकर उस समय "अग्निमित्र" जीवित थे यह सिद्ध होता है। अग्निमित्र पुष्यमित्रशुज्ज्वल के पुत्र थे। इनका समय खृष्ट से पूर्व प्रथम शताब्दी माना गया है।

महाकवि की रचनाओं के अवलोकन से यह बात (प्रथम शताब्दी की) और भी प्रमाणित हो जाती है। गुप्तवंश के राजाओं के समय चोरी जैसे अपराधों

में मनु, वशिष्ठ और आपस्तम्ब ऋषियों की स्मृतियों के आधार पर मृत्युदण्ड का विश्वान था । जैसा कि 'अँगूठी की चोरी में पकड़े गये मल्लाह को प्राण-दण्ड दिया जाता है' । अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में कालिदास ने ऐसा अभिनीत करवाया है । परन्तु गुप्तकाल में वैसा कठोर दण्ड—चोरी जैसे अपराध के लिए नहीं था । उस समय याज्ञवल्क्य-स्मृति की मान्यता थी । और भी, कालिदास ने अपने नाटकों में मृतपति के धन का दायभाग विधवा को नहीं दिया जाता है वह राज-कोष की चीज़ है, ऐसा वर्णित किया है जो कि मनु, वशिष्ठ, बौद्धायन और आपस्तम्ब स्मृतिसम्मत है । परन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार विधवा को उसके मृतपति के धन का दायभाग मिलता है—ऐसी व्यवस्था गुप्तकाल में थी । इससे सिद्ध होता है कि कालिदास शुज्जवंश के राजाओं के समय में ये न कि गुप्तवंश के राजाओं के समय ।

कालिदास अपने आश्रयदाता का स्पष्ट संकेत अपनी रचना में ही करते हैं । जैसे कि शाकुन्तल के प्रारम्भ में सूत्रधार नटी से कहता है 'आर्य ! रस-भावदीक्षागुरुरेविक्रमादित्यस्याऽभिरूपभूयिष्ठा परिषद् । अस्यां च कालिदास-ग्रथितबस्तुना नवेनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माप्तिः' । पूर्वकाल में आजकल के समान उपाधि के तौर पर नाम का प्रयोग नहीं किया जाता था अतः उक्त बावजूद में प्रयुक्त 'विक्रमादित्य' का अर्थ—

मालवनरेश खूट के पूर्व प्रथम शताब्दी में विद्यमान संवत्सर-प्रवर्तक विक्रमादित्य' ही है, न कि चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी ।

महाकवि को प्रथम शताब्दी ई० पू० सिद्ध करने में उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द भी प्रमाण है । उन्होंने कुमारसंभव के तृतीय सर्ग में एक श्लोक में लिखा है—'त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श'

यहाँ पाणिनि व्याकरण के नियम से लोक में 'त्रियम्बक' प्रयोग ही साधु है और उसी का प्रयोग होना चाहिए था । परन्तु उक्त प्रयोग होने के कारण यह सिद्ध होता है कि कालिदास के समय पाणिनि व्याकरण पूर्ण रूप से लोक में प्रचलित नहीं हो पाया था । इसी तरह उन्होंने 'पातयामास' का जहाँ प्रयोग उचित था वहाँ 'पातयाम्' का पृथक् और 'आस' का पृथक् प्रयोग किया है, जैसे—'तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्' । (रघुवंश, ९६१) इत्यादि ।

इसी प्रकार जहाँ-जहाँ महाकवि ने प्राकृत का प्रयोग किया वहाँ-वहाँ मागधी प्राकृत का ही—जिसका उल्लेख ईसा के पूर्व में प्राप्त होता है।

इस तरह हम निश्चयपर्वक यह कह सकते हैं कि 'महाकवि कालिदास' शृङ्खल के पूर्व प्रथम शताब्दी में हुए थे न कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय।'

महाकवि की जन्मभूमि

जन्मसमय की तरह इनकी जन्मभूमि भी विवादास्पद ही है। भिन्न-भिन्न प्रदेश के विद्वान् इन्हें अपने-अपने यहाँ का सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। कश्मीर प्रदेश के विद्वानों का कहना है कि कालिदास ने अपनी रचनाओं में कई बार 'प्रत्यभिज्ञान' शब्द का प्रयोग कर कश्मीर के 'प्रत्यभिज्ञान-शैव सम्प्रदाय' की ओर संकेत किया है; एवं इन्होंने हिमालय का तथा उसमें होने वाले पदार्थों का बहुत ही बारीकी से वर्णन किया है एवं केशर-पुष्प का भी वर्णन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि कालिदास कश्मीर के रहने वाले थे। बंगाल के विद्वान् इन्हें बंगाल का सिद्ध करते हैं। उनका तर्क कालिदास के नाम पर आधारित है। काली की उपासना बंग देश में अधिक है और कालिदास काली (देवी) के उपासक थे जैसा कि उनके नाम से ही प्रतीत होता है, अतः वे बंगकवि थे ऐसा उनका कहना है। मैथिलों का कहना है कि महाकवि मिथिला के थे। वे लोग महाकवि के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के चतुर्थ अंक में दशायी गई परिपाटी को आधार मानकर उन्हें मैथिल कहते हैं। साथ ही मिथिला के प्रत्येक परिवार में काली-देवी का एक विशेष घर बनाया जाता है जो काली की प्रबल उपासना का द्योतक है, अतः काली के उपासक कालिदास मिथिला के थे, ऐसा सिद्ध करते हैं। वे लोग वर्तमान 'उच्चैठ' गाँव में वर्तमान काली की मूर्ति को ही कालिदास की उपास्या मानते हैं। कई लोग इन्हें मालवा का भी मानते हैं। 'अस्तु'—भारत की भिन्न-भिन्न भूमि इसे अपना पुत्र कहने को उत्सुक हैं; कहती है, परन्तु यह निराला-बच्चा कभी नहीं कहता कि मेरी माँ (जन्मभूमि) कौन है। केवल वह अपने धात्री (पालन-पोषण करने वाली) का निर्देश करता है। उज्जयिनीनरेश महाराज विक्रमादित्य की सभा में इनका जीवन निर्वाह हुआ और इनकी रचना में उज्जयिनी के प्रति इनका विशेष अनुराग देखकर (मेघदूत में) हम यह निश्चय करते हैं कि महाकवि की जन्मभूमि भी उज्जयिनी ही रही होगी।

कालिदास की काव्यकला

कालिदास की रचनाएँ साहित्य जगत् में अपनी शानी नहीं रखतीं। भाव; कल्पना, आदर्श और भाषा की आधार-शिला पर साहित्यकला की जो सुन्दर अद्वालिका का निर्माण महाकवि ने किया है वह दूसरी जगह देखने को नहीं मिलती। कला की आलोचनात्मक अग्नि-परीक्षा में भी इनकी रचनाएँ इतनी खरी, ज्योत्स्नामयी और उत्कृष्ट निकलती हैं कि विश्व की आँखें चकाचौंध में पड़ जाती हैं। इनकी रचनाओं में वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता पायी जाती है जिसके कारण इनके काव्यों को ध्वनिप्रधान माना गया है—उत्तम माना गया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट उत्तमकाव्य का लक्षण लिखते हैं—“इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुद्धिः ।”

(काव्यप्रकाश, १-४)

इनकी रचनाओं का भाव-तत्त्व जिसे साहित्य में रस या काव्य की आत्मा कहा जाता है, कल्पना के विविध उड़ान एवं उदात्त आदर्शों से सम्बन्धित होकर इतना परिपक्व हो जाता है कि सर्वश्रेष्ठ कहलाने लगता है। कालिदास प्रकृति के पक्षके पुजारी हैं। परन्तु इनकी प्रकृति जड़ नहीं, अपितु संवेदनशील है, सजीव है। इनकी रचनाओं में क्या तो बड़ा-से-बड़ा पर्वत और क्या तो छोटा-से-छोटा पुष्प सभी अपना-अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं और संवेदनशील हैं। यदि ऐसा न होता तो रघुवंश में दिलीप का जयकार पेड़-पौधे भला किस तरह कर सकते ? शकुन्तला की विदाई पर लताएँ पाण्डुपत्र छोड़कर अपने आँसू कैसे गिराने लगतीं ? कालिदास ने यद्यपि बाह्य-प्रकृति के भी वर्णन में मानव प्रकृति की तरह अन्तररत्म स्तर तक घुसकर निश्चित दृष्टि रखी हैं, पर उन्होंने प्रकृति के कोमल, कान्त एवं मधुर पहलू का ही वर्णन किया है—भीषण या भद्दे का नहीं।

कालिदास की शैली साहित्यजगत् में अपना अनुपम स्थान रखती है। इनकी शैली के कारण ही इन्हें विश्व-वन्द्य कवि माना गया है। भद्रा-से-भद्रा या नीरस-से-नीरस कथानक क्यों न हो ये अपनी कल्पना के द्वारा उसका ऐसा मार्मिक एवं चमत्कृति-पूर्ण वर्णन करेंगे कि हृदय आनन्द-सागर में डूबने-सा लगता है। इनकी शैली वैदर्भी है, जिसका लक्षण विश्वनाथ ने लिखा है—

माधुर्य-व्यञ्जकैवर्णं रचना लितातिमका ।

अवृत्तिरत्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ (साहित्यदर्शण)

उपर्युक्त सभी बातें कालिदास की रचनाओं में दृष्टिगत होती हैं। ऐसी ललित, परिष्कृत एवं प्रसादगुण-सम्पन्न रचना अन्यत्र दुर्लभ है।

कालिदास की रचना में अलङ्कार का भी दर्शन होता है। ये अलङ्कार आनुषंज्ञिक हैं, कालिदास ने इन्हें जबरदस्ती लादने का प्रयास नहीं किया है। उनका तो कहना है— “किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाऽकृतीनाम्”। इन्हें तो उपमा का आचार्य ही माना गया है। कहा भी है ‘उपमा कालिदासस्य’ इति। परन्तु उपमा के अतिरिक्त उत्त्रेक्षा, दृष्टान्त, रूपक, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, स्वभावोक्ति अलङ्कारों की भी कमी इनकी कविता-कामिनी को नहीं है।

संक्षेप में उनकी काव्य-कला की छटा देखें। क्या ही स्वाभाविक एवं मनोरम युक्ति है उनकी—

अवचितबलिपुष्पवेदिसम्मार्गदक्षा ।

नियमविधिजलानां वर्हिषाच्चोपनेत्री ॥

वे सौन्दर्य के कवि तो हैं ही, साथ ही साथ उनमें सत्यम् शिवम् की भी गरिमा भरी पड़ी है। सौन्दर्य को सत्यता की कसीटी में परख कर उससे शिवत्व का सन्देश देना कवि के लिए वाएँ हाथ का खेल लगता है। वे कहते हैं—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः ।

प्रीतिस्तिरथैजैनपदवद्बूलोचनैः पीयमानः ॥

त्वामारुढं पवनपदवीमुदगृहीतालकान्ता ।

प्रेषिष्यन्ते पर्यकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः ॥

स्वभाव-चित्रण में भी वे उतने ही सिद्धहस्त हैं। उनका प्रत्येक पात्र अपने स्वाभाविक क्षेत्र से ही गुजरता है और कल्पना में भी वह अयथार्थता को नहीं छोता। इतना होने पर भी वे शिष्टता को कभी नहीं छोड़ते। पार्वती के सौन्दर्य-वर्णन में वे कहते हैं।

असम्भृतं मण्डनमङ्ग्यष्टेरनासवार्थं करणं मदस्य ।

कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥

वे मर्यादा का कुछ-कुछ उल्लङ्घन भी करते हैं तो इतनी चतुराई के साथ कि पाठक को उसका गन्ध तक नहीं आता। पार्वती के विवाह के प्रसङ्ग में उनकी सखी के द्वारा किया गया परिहास इसका उदाहरण है—

पत्युः शिरअन्द्रकलामनेन सृशेति सस्याः परिहासपूर्वम् ।

सा रञ्जयित्वा चरणो कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥

यहाँ कितना गूढ़ एवं शिष्ट परिहास है । यह देखने लायक है । इसी तरह अन्तर्जंगत् और बाह्यजगत् का चरम समन्वय महाकवि की रचनाओं में पाया जाता है । शब्दों को सजाना उनको बहुत रुचिकर है । वे उपमा के एकमात्र सिद्ध कवि माने जाते हैं । उनकी उपमाछाटा सहृदयों को मोह लेती है ।

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्घेव त्रिदिवस्य मार्गः ।

संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च पवित्रितश्च ॥

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्री यं यं व्यतीयाय पतिवरा सा ।

नरेन्द्रमार्गादृ इव प्रपेदे विवर्णमार्गं स स भूमिपालः ॥

उपमा के साथ यमक भी उनका प्रिय अलङ्कार है । रघुवंश में वसन्त वर्णन में इसकी छटा देखने को मिलती है ।

अनुभवन्नवदोलमृतोत्सवं पदुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।

अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलता जलनामवलाजनः ॥

कुमुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनुषट्टपदकोकिलकूजितम् ।

इति यथाक्रममाविरभूमधुर्मवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥

वस्तुस्थिति का वर्णन तो उनका कहना ही क्या ? वे जो भी वस्तु छूते हैं उसमें स्वाभाविकता एवं सौन्दर्य का समावेश करते हैं । देखिए —

त्यजत मानमलं वत विग्रहाः न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।

परभृतामिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥

मृगया के सम्बन्ध में उन्होंने इस तरह कहा है —

परिचयचललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितवेदनम् ।

श्रमजयात्प्रगुणाच्च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्यौ ॥

कौलिदास वैदर्भीरीति के कवि हैं यद्यपि उनकी रचनाओं में अन्य रीतियों का भी अच्छा खासा प्रयोग है ।

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।

निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥

उनकी रचनाओं में प्रसाद गुण सर्वत्र व्याप्त है । जैसे —

सा हंसमाला शरदीव गङ्गां महोषधि रत्न इवात्मभासः ।

स्थिरोप्रदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥

कवि को शृङ्खार एवं वीर रस बहुत प्रिय है यद्यपि उनकी रचनाओं में अन्य रसों का भी समावेश कम नहीं है । शृङ्खार रस जैसे शाकुन्तल में—

स्त्नरधं वीक्षितमन्यतोऽपि नयते यत्प्रेरयन्त्या तथा ।

यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव ॥

वैसे तो कालिदास की सभी रचनाओं में उदात्त शृङ्खार है ही ।

कालिदास की रचनाओं में अर्थान्तरन्यास, स्वभावोक्ति, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों का प्रशस्त प्रयोग पाया जाता है । स्वभावोक्ति की छटा देखिए—

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितार्द्धः ।

आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिस्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥

एक वनवासी के द्वारा यह कहना कितना सुहावना लगता है ।

कालिदास अभिधा के कवि तो कहे जाते हैं लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उनकी रचनाओं में घवनि तत्त्व है ही नहीं । इनमें पर्याप्त घवनि है अतः इनका काव्य उत्तम काव्य में आता है ।

इनकी रचनाओं में भावपक्ष और कलापक्ष का बहुत अच्छा समन्वय दिखाई पड़ता है । वे आर्य-संस्कृति के एक सफल उद्घोषक थे परन्तु उनकी रचनाओं में यही नहीं, अपितु विश्वजनीनता ही अधिकतर झलकती है । यही उनकी उच्चता का परिचय है कि वे विश्वजनीन कवि थे और हरेक दृष्टिकोण उनकी आँखों से ओङ्कल नहीं था । दर्शन, संस्कृति, आध्यात्मिकता, सौन्दर्य आदि विविध विषयों पर उनका उदात्त विचार उनकी रचनाओं में मिलता है । इनना सब-कुछ होने पर भी आत्मश्लाघा इनमें जरा-सी भी नहीं थी । वे कहते हैं—

मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवाऽस्ति मे गतिः ।

इसका अर्थ यह नहीं कि वे प्राचीनता के अन्धभक्त थे । वे तो सही अर्थ में सुधारक भी थे । उनका कहना था—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम् ।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजते मूर्खं परप्रत्ययनेव बुद्धिः ॥

कुछ आलोचक कालिदास के कवित्व में यह आरोप लगाते हैं कि वे समस्या तो उभारते हैं लेकिन समाधान प्रस्तुत नहीं करते । यह उन आलोचकों

की अल्पदृष्टिता से और कुछ नहीं। कालिदास की रचनाओं में सर्वत्र समस्या के साथ समाधान भी दिये हुए हैं। जरूरत है उनको समझ पाने की दृष्टि का। मानव के मन में उठ सकने वाले भावों की चिरन्तनता एवं ऊहापोह को वे इस प्रकार वर्णन करते हैं—

व व कायं शशलक्षणः व व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत् सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
कि वक्ष्यन्त्यकल्मणाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुलंभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि का खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ॥

यह श्रेय कालिदास को ही जाता है कि संस्कृत-साहित्य विश्वसाहित्य में उच्चतम स्थान पाया हुआ है।

कालिदास की कृतियाँ

वैसे तो कालिदास की रचनाएँ बहुत-सी हैं। जैसे—ऋतुसंहार, कुमार-संभव, रघुवंश, मेघदूत, श्रुतबोध (छन्दोग्रन्थ) शृङ्गारतिलक, नलोदय, नवरत्नमाला, घटकर्परकाव्य, पुष्पबाणविलास, चिद्रगमनचन्द्रिका, ज्योतिविदाभरण (ज्योतिषग्रन्थ), कुन्तेश्वरदीत्य, अम्बास्तव, कल्याणस्तव, कालीस्तोत्र, काव्यनाटकालङ्कार; गङ्गाषटक, चण्डिकादण्डक स्तोत्र, चर्चास्तव, दुर्घटकाव्य, मकरन्दस्तव, मञ्जलाषटक, महापद्याषटक, रत्नकोश, राक्षसकाव्य, लक्ष्मीस्तव, लघुस्तव, विद्विनोदकाव्य, बुद्वावनकाव्य, वैद्यमनोरमा, शुद्धचन्द्रिका, शृङ्गाररसाषटक, शृङ्गारसार काव्य, श्यामलादण्डक, सेतुबन्ध, मालविकाऽग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय एवं अभिज्ञानशाकुन्तल आदि। परन्तु रचनाशैली की विभिन्नता के कारण आलोचकों ने इनमें से कुछ को ही सर्वसम्मत से कालिदास की कृति माना है। सर्वसम्मत से जो रचनाएँ कालिदास की मानी जा चुकी हैं वे हैं— (१) ऋतुसंहार, (२) कुमारसंभव, (३) रघुवंश, (४) मालविकाऽग्निमित्र, (५) विक्रमोर्वशीय, (६) अभिज्ञानशाकुन्तल तथा मेघदूत।

अब हम इन प्रसिद्ध कृतियों के सम्बन्ध में संक्षिप्त परिचय देते हैं—

(१) ऋतुसंहार :—प्रस्तुत रचना कालिदास की प्राथमिक मानी जाती है क्योंकि इसमें वैसी प्रीढि नहीं पायी जाती। जैसी कवि की अन्य कृतियों में

दृष्टिगोचर होती है। इसमें आये पद्य अन्यत्र कहीं लक्षणादिग्रन्थों में उदाहरण के तौर पर नहीं पाये जाते और मलिनाथ ने इस पर टीका भी नहीं लिखी है इसीलिए पहले कुछ विद्वान् इसको महाकवि की रचना नहीं मानते थे, परन्तु कतिपय सूक्ष्म प्रमाणों के मिलने पर पुनः इसे उनकी कृति मान लिया गया है। इसमें ग्रीष्म से लेकर वसन्त तक के षट् ऋतुओं का बड़ा ही मनोरम चित्रण छः सर्गों में किया गया है। इसमें १४४ पद्य हैं।

(२) कुमारसंभव :—१७ सर्गों का यह महाकाव्य महाकवि की दूसरी रचना मानी जाती है। इसमें कार्तिकेय का जन्म एवं उनके चरित्र का वर्णन ही प्रधान विषय है। इसमें प्रथम सर्ग से लेकर सप्तम सर्ग तक क्रमशः हिमालय पर्वत का वर्णन एवं पार्वती का जन्म, तारकामुर की उच्छृङ्खलता, उसके वध के लिए शिवजी के औरस पुत्र हेतु तपस्या में लीन शिवजी के तपोभड़ग के लिए देवताओं के द्वारा कामदेव को शिवजी के पास भेजना, उनके तृतीय नेत्र से उत्पन्न अर्णि के द्वारा कामदाह, काम की पत्नी रति का विलाप, रति को, सान्त्वना देना, पार्वती की तपश्चर्चा और उनका शिवजी से विवाह वर्णित है। अष्टम सर्ग में शिव और पार्वती के काम-केलि का वर्णन है। महामहोपाध्याय मलिनाथजी की टीका यहीं तक उपलब्ध है, अवचीन विद्वान् इसीलिए नवम सर्ग से लेकर अन्त तक के सर्गों की शैली में कालिदास की शैली से भिन्नता होने के कारण भी 'अष्टम' सर्ग तक को ही कालिदास की रचना मानते हैं। परन्तु यह महाकाव्य है और उसका लक्षण है कि 'सर्गाद्याधिका इह' अर्थात् महाकाव्यों को आठ सर्गों से अधिक होना चाहिए। साथ ही आठ सर्ग तक केवल कामकेलि का वर्णन है जो कार्तिकेय के जन्म की भूमिका मात्र है। यदि इसे आठ सर्गों का ही माना जाये तो 'कुमारसंभव' यह नाम भी युक्ति-संगत नहीं हो पायेगा। अतः इसे कालिदास की ही रचना मान लीजिए, या आठ सर्गों तक की रचना महाकवि ने की और नवम से सत्रहवें सर्ग तक की किसी परवर्ती कवि ने की होगी, ऐसा मानना चाहिए।

(३) रघुवंश :—१९ सर्गों का यह महाकाव्य है। इसमें दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक के सूर्यवंश के राजाओं के चरित्र का वर्णन बड़े ही प्रौढ़ एवं मनोरम ढंग से किया गया है। भारतीय संस्कृति का लोकोत्तर चित्रण इसमें

है। किंवदन्ती है कि इसके पञ्चम सर्ग में सरस्वती का बीजमन्त्र है एवं इस सर्ग के अन्तिम १३ श्लोकों की रचना स्वयं सरस्वती ने की है। कान्तासम्मित उपदेश का यह अनूठा उदाहरण है।

(४) मालविकाग्निमित्र :—पाँच अङ्कुष्ठ का यह रूपक, रूपकरचना में महाकवि की प्रथम कृति है। इसमें तात्कालिक विदिशाधिप राजा अग्निमित्र एवं मालविका के उत्कृष्ट प्रेम का वर्णन बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से किया गया है।

(५) विक्रमोर्वशीय :—यह पाँच अङ्कुष्ठों का त्रोटक है। इसमें महाभारत की कथा के आधार पर पुरुरवा और उर्वशी के प्रेम का वर्णन है। इसमें विप्रलभ्म शृङ्खार का मनोरम ढंग से वर्णन कर ‘न विना विप्रलभ्मेन संभोगः पुष्टिमश्नुते’ वाले सिद्धान्त को महाकवि ने और भी पुष्ट किया है। महाकवि ने अपने आश्रयदाता का संकेत इसके नामकरण से किया है।

(६) अभिज्ञानशाकुन्तल :—यह संस्कृत साहित्य में ही नहीं अपितु विश्वसाहित्य में अद्वितीय नाटक है। इसमें सात अङ्कुष्ठ हैं। इसमें महाभारत के कथानक के आधारपर चन्द्रवंशी महाराज दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम का वर्णन है। कहा जाता है कि विश्वसाहित्य में कालिदास अद्वितीय हैं और उनकी रचनाओं में शाकुन्तल उत्कृष्ट है और इसमें भी चौथा अङ्कुष्ठ उत्कृष्ट है और उस अङ्कुष्ठ में निम्नलिखित चौथा श्लोक हृदयस्पर्शी है, जो वास्तविक है और सहृदय-संवेद्य है। जैसे—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संश्लिष्टमुत्कण्ठ्या
कण्ठस्तम्भत—बाष्प—दृति—कलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।

वैकलव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्योक्तसः

पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनया विश्लेषदुखैर्नवैः ॥

अर्थात् (कण्ठ कह रहे हैं) आज शकुन्तला (अपने पति-गृह) चली जायगी यह सोचकर ही उत्कण्ठा के कारण मेरा हृदय भरा-सा जा रहा है, गला हँधा-सा जा रहा है और आँसुओं से परिप्लुत आँखों से देखा नहीं जाता। स्नेह के कारण (धर्मपुत्री के लिए) यदि मुझ जैसे वनवासी को भी इतनी विकलता है तो फिर भला जो गृहस्थ अपनी औरस पुत्री को विदा करता होया उसे कितना कष्ट होता होगा। संभवतः कालिदास की ऐसी ही रचना को देखकर पाश्चात्य कवि गेटे ने कहा था—

वासन्तं कुसुरं फलं च युगपद्ग्रीष्मस्य सर्वं च यद् ।
 यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ॥
 एकीभूतमधूतपूर्वमयवा स्वर्लोकभूलोकयो-
 रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

इसमें कालिदास ने आर्यनारी के पातिव्रत्य को विरहाग्नि में तपाकर कुन्दन-सा-
 चमकाकर उसकी महत्ता का चूडान्त निर्दर्शन किया है ।

मेघदूत

काव्य दो प्रकार का होता है—(१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य ।
 महाकाव्य एक विस्तृत-प्रबंधकाव्य होता है, जैसे रघुवंश, कुमारसंभव आदि ।
 खण्डकाव्य, इसमें पूर्ण जीवन वृत्तान्त नहीं होता अपितु जीवन के एक भाग
 का वर्णन होता है । प्रकृति में मेघदूत वैसा ही एक खण्डकाव्य है इसे लोग
 'गीतिकाव्य' भी कहते हैं ।

यह संस्कृत साहित्य के गीतिकाव्यों में सर्वप्रथम गिना जाने वाला है ।
 कला का चरमपरिपाक, कल्पना की ऊँची उड़ान, परिष्कृत मधुरिमामयी सरस
 भाषा, विषय की अक्षुण्णगति एवं छन्द की एकतानता का जो समन्वय
 कालिदास की इस कृति में पाया जाता है वैसा संसार में अन्यत्र मिलना दुर्लभ
 क्या असंभव ही है । इसका वर्णन विषय अत्यन्त मर्मस्पर्शी है । इसमें दो भाग
 हैं, पूर्व एवं उत्तर ।

कोई यक्ष अपनी नवोढा प्रिया के प्रणयपाश में उलझकर अपने कर्त्तव्य में
 प्रमाद कर जाता है, अतः स्वामी कुवेर के कोप का भाजन ही नहीं शाप का
 पात्र भी बन जाता है । इस तरह वह यक्ष प्रभु कुवेर के शाप से अपनी भूमि
 अलकापुरी से निर्वासित होकर एक वर्ष के लिए रामगिरि-पर्वत पर रहता है ।
 पूर्वमेघ में इसी यक्ष की कहानी है ।

पूर्वमेघ :—अपनी प्राणेश्वरी के विरह में कृश, कामुक वह यक्ष आषाढ़
 मास के प्रारम्भ में मेघ को देखकर जड़-चेतन के विवेक से शून्य-सा होकर
 उससे अपनी प्रिया के पास संदेश ले जाने के लिए कहता है । पहले मेघ की
 प्रशंसा करता है, अलकापुरी जाने के लिए उसे रास्ते में कहाँ-कहाँ जाना
 होगा, इन सबका वर्णन पूर्वमेघ में जिस ढंग से किया है वैसा तो कोई भी कवि

आज तक नहीं कर सका । अलकापुरी के रास्ते में मेघ को कहीं तो भोली-भाली ग्रामीण युवतियों की आनन्दभरी कटाक्षरहित आशान्वित आँखें पीयेंगी तो कहीं वह अपने गर्जन से आकाश में उड़ती बलाकाओं को गिनती हुई सिद्धवनिताओं को डराकर उनके द्वारा अपने प्रियों का आलिङ्गन करवाकर उनके धन्यवाद का पात्र बनेगा । आगे वह उज्जयिनी में महाकालेश्वर का दर्शन करेगा एवं अपनी विद्युत के द्वारा अभिसारिकाओं को केवल मार्ग ही दिखायेगा—गरजकर उन्हें डरायेगा नहीं । इसके बाद ज्ञातस्वाद रसिक की तरह वह मेघ विवृत-जघना नायिका के समान गम्भीरा नदी का रसास्वाद करेगा । इस प्रकार वह ब्रह्मावर्त, क्रीचपवर्त आदि मार्गों का अतिक्रमण कर अलका में पहुँचेगा ।

उत्तरमेघ :—मेघ उस अलका में पहुँचेगा जहाँ की लड़कियाँ रत्नों को धूल में छिपा-छिपाकर आँखमिचौनी खेला करती हैं, जहाँ की कामिनियाँ अपने को विवस्त्रा होती देखकर लज्जा से चूर्णमुष्टियों से मणिदीपों को बुझाना तो चाहती हैं पर बुझा नहीं पातीं और जहाँ के राजमार्ग प्रातःकाल अभिसारिकाओं के कानों से गिरे कनक-कमल धागे के टूट जाने से बिखरी हुई मालाएं और पैरों से कुचले हुए मन्दार पुष्पों के द्वारा उनके अभिसरण की सूचना देते हैं । तदनन्तर यक्ष, मेघ से अपने निवास स्थान का सरस एवं विलासपूर्ण वर्णन करता है तथा तन्वी अपनी प्रिया की जो स्त्रियों के सम्बन्ध में विद्याता की सर्वप्रथम सृष्टि है विरहविदर्घ कलान्तदशा का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन करता है । अन्त में यक्ष मेघ से अपनी प्रिया के लिए वह सन्देश कहता है जिससे सहृदयों का हृदय करुणा एवं आनन्द के अपारसागर में निमग्न हो जाता है, जिसमें कालिदास ने अपने प्रेमी की भावना को भर दिया है ।

मेघदूत का उदगम

कालिदास की कृतियों के प्रसिद्ध टीकाकार महामहोपाध्याय मल्लिनाथजी ने मेघदूत का उपजीव्य रामायण माना है 'सीतां प्रति रामस्य हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघदूतं संदेशं कविः कृतवानित्याहुः' अर्थात् कालिदास ने वाल्मीकि-रामायण में भगवान् रामचन्द्र ने सीताजी के लिए हनुमान् को जो संदेश दिया था उसी को मन में रखकर 'मेघदूत' इस गीतिकाव्य की रचना

की । मेघदूत में आये 'जनकतनया—स्नान—पुण्योदकेषु' 'रघुपतिपदैरकूतं
मेखलासु' 'दशमुखभूजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धे:' एवं 'इत्याख्याते पवनतनयं
मैथिलीबोन्मुखी सा' इत्यादि पद्मांश महामहोपाध्याय की शक्ति को और प्रबल
बनाते हैं । मेघदूत के कथानक का उदगम संभवतः ब्रह्मवैतरंपुराण का वह
स्थल है जहाँ 'भगवान् श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से 'आषाढ़ कृष्ण पक्ष की 'योगिनी'
मामक एकादशी के माहात्म्य को कहा है ।' माहात्म्य इस प्रकार है—

'अलकाऽविषिटनिर्मिना कुबेरः शिवपूजकः ।
तस्यासीत् पुष्पबदुको हेममालीति नामतः ॥
तस्य पत्नी सुरूपाऽसीद्विशालाक्षीति नामतः ॥
स तस्यां स्नेहसंयुक्तः कामपाशवशंगतः ॥
मानसात् पुष्पनिचयमानीय स्वगृहे स्थितः
पत्नीप्रेमसमायुक्तो न कुबेरालयं गतः ॥
कुबेरो देवसदने करोति शिवपूजनम् ।
मध्याह्नसमये राजन् पुष्पाणि प्रसमीक्षते ॥
हेममाली स्वभवने रमते कान्तया सह ।
यक्षराट् प्रत्युवाचाऽथ कालाऽतिक्रमकोपितः ॥
'कस्मान्नायाति भो यक्षा, हेममाली दुरात्मवान् ।
निश्चयः क्रियतामस्य' प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥

यक्षा ऊचुः

'वनिता कामुको गेहे रमते स्वेच्छया नृप' ।
तेषां वाक्यं समाकर्ष्य कुबेरः कोपपूरितः ॥
आह्न्यामास तं तूर्णं बदुकं हेममालिनम् ।
ज्ञात्वा कालाऽत्ययं सोऽपि भयव्याकुललोचनः ॥
आजगाम नमस्कृत्य कुबेरस्याऽग्रतः स्थितः ।
तं दृष्ट्वा धनदः कृद्धः कोपसंरक्तलोचनः ॥
प्रत्युवाच रुषाविष्टः कोपाद्विस्फुरिताऽधरः ।

कुबेर उवाच

रे पाप ! दुष्ट ! दुर्वृत्त ! कृतवान्देवहेलनम् ॥
अतो भव शिवत्रयुक्तो वियुक्तः कान्तया सह ।

अस्मात्स्थानादपठवस्तो गच्छस्थानमथाऽधमम् ॥

इत्युक्ते वचने तेन तस्मात् स्थानात् पपात् सः ।

अर्थात् “अलका के स्वामी यक्षराज कुबेर शिवजी के भक्त थे । वे प्रतिदिन अगवान् शिव की पूजा करते थे । पूजा के लिए फूल तोड़कर लाने वाला कुबेर का अनुचर ‘हेममाली’ नाम का था । उसकी पत्नी अत्यन्त सुन्दर रूप वाली ‘विशालाक्षी’ नाम की थी । एक दिन हेममाली मानसरोवर से फूल तोड़कर कुबेर के यहाँ न पहुँचाकर अपने घर ही अपनी प्रिया के पास रह गवा । उधर दोपहर में शिवजी की पूजा पर बैठे कुबेर फूल की प्रतीक्षा कर रहे थे । समय के बीत जाने पर क्रुद्ध होकर उन्होंने दूसरे सेवकों से जब पूछा कि ‘हेममाली क्यों नहीं आया, पता लगाओ ?’ तो यक्षों ने कहा कि ‘वह अपने घर अपनी प्रिया के साथ विहार कर रहा है’ । इसे सुनकर कुबेर बाग-बबूला हो गये और तुरन्त यक्ष को बुलावाया । यक्ष ने भी कुबेर की बुलाहट जब सुनी तब उसे अपना कार्य स्मरण आया फिर क्या ? डर के मारे वह थरथराता हुआ कुबेर के सामने प्रणाम कर एवं हाथ जोड़कर खड़ा हुआ । तब कुबेर ने यह कहकर कि तुमने जिस प्रिया के प्रणय-पाश में आबद्ध होकर देवता का निरादर किया है, उस प्रिया से एक वर्ष के लिए वियुक्त हो जाओ एवं हमारे इस अलकापुरी से गिर कर नीचे के लोक में जाओ । कुबेर के ऐसा शाप देने पर वह यक्ष वहाँ से गिर पड़ा । मेघदूत के कथानक का मूल तो यह है ऐसा कहा जा सकता है । परन्तु कालिदास ने अपनी कल्पना-प्रसूत सृष्टि-नैपुण्य से जो कलेवर इसे प्रदान किया है उसके कारण कवि की यह कृति मौलिक हो गयी है, यह कहने से हम नहीं चूक सकते ।

मेघदूत का वैशिष्ट्य—कल्पना का विविध विलास, भावों की कोमल व्यञ्जना तथा माधुर्य के सतत प्रवाह का अनुपम समन्वय होने के कारण मेघदूत ने, महाकवि को, जो प्रतिष्ठा रघुवंश एवं कुमारसंभव से मिली, उसमें चार-चाँद लगा दिया । मेघदूत वस्तुतः विरह-पीड़ित मानव का सम्पूर्ण अन्तर्जंगत आशा हो या निराशा, हर्ष हो या विषाद सब भावों को हमारे सामने खड़ा कर देता है । मेघदूत के प्रतिश्लोक के हर एक शब्द में विरह-पीड़ित हृदय की कसक और सूक्ष्म घड़कन सुनाई देती है । कवि ने उसके उपयुक्त मन्दाक्रान्ता छन्द का भी उपयोग किया है । साहित्यदर्शकार विश्वनाथ ने—

'निसृष्टार्थं मितार्थश्च तथा सन्देशहारकः ।

कार्यप्रेष्यस्त्रिधा दूतो दूत्यश्चापि तथाविधाः ॥' (३-५८)

यह लिखकर दूत के तीन भेद माने हैं—(१) निसृष्टार्थं, (२) मितार्थं, (३) सन्देशहारक । अब हम तीनों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

(१) निसृष्टार्थ—विश्वनाथ ने इसके सम्बन्ध में लिखा है—

"उभयोभाविमुक्तीय स्वयं वदति चोत्तरम् ।

सुशिलष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥"

अर्थात् निसृष्टार्थ दूत वह है जो दोनों—(३-५९) पक्षों (जिसने भेजा एवं जिसके पास भेजा) के भावों को जानकर स्वयं सन्देश कहे और पूछे जाने पर वैसा ही उपयुक्त उत्तर भी दे और कार्य को सफल करे ।

(२) मितार्थ—'मितार्थभासी कार्यस्य सिद्धकारी मितार्थकः' (साहित्य दर्पण, ३-६०) अर्थात्—जो दूत कम बोलकर कार्य सिद्ध कर दे उसे मितार्थ-भासी कहते हैं ।

(३) सन्देशहारक—'सन्देशहारक' वह दूत है जो भेजने वाले व्यक्ति के द्वारा जितना ही कहा जाय उसी वाक्य को वह वहाँ कहे । जैसा कि विश्वनाथ लिखते हैं—

'यावद्भाषितसन्देशहारः सन्देशहारकः ॥ (सा० द०, ३-७०)

वाल्मीकि-रामायण में राम के सन्देश को सीता के पास पहुँचाने वाले श्री हनुमान् जी 'निसृष्टार्थं' दूत हैं, इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में रुक्मणी के संदेश को भगवान् श्रीकृष्ण के पास पहुँचाने वाले ब्राह्मण भी निसृष्टार्थं दूत हैं । अभिज्ञान शाकुन्तल का 'मिथकेशी' मितार्थदूती है । मालतीमाधव में नन्दन से भेजा गया पुरुष 'सन्देशहारक' दूत है ।

प्रकृत प्रबन्ध में महाकवि ने मेघ का ऐसा चित्रण किया है कि वह उपर्युक्त तीनों दूतों में से किसी में भी अन्तर्भूत नहीं हो सकता । क्योंकि सन्देश पहुँचाने वाले दूत के लिए चाहे वह जिस श्रेणी का दूत हो चेतन होना आवश्यक है । अन्यथा वह वक्ता के भाव को कैसे समझ सकता है । प्रस्तुत काव्य का दूत तो 'धूमज्योतिः सलिलमरुतां सञ्चिपातः दव मेघः' है । परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि साधारण व्यक्ति प्रायः (सन्देशहारक) अभिधावृति से अपने अभिप्राय का प्रतिपादन कर अपना पिंड छुड़ा लेता है, वर्तम व्यय प्रतिभा

वाला (मितार्थ) 'लक्षणावृत्ति' के द्वारा अपने भावों को लक्षित कराकर कार्यनिष्पत्ति करता है । परन्तु अद्भूत प्रतिभा-सम्पन्न परिपक्व विचारवाला (निसृष्टार्थ) दूत, लक्षण से भी ऊपर उठकर व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा अपने वक्तव्य को अभिव्यक्त करता है ।

प्रकृत में महाकवि कालिदास ध्वनिकदि हैं । व्यञ्जयप्रधानवाक्य ही 'ध्वनि' कहलाता है । महाकवि ने इसीलिए प्रस्तुत रचना में व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा संदेश अभिव्यक्त कराकर अपनी अद्भूत कल्पना का चमत्कार दिखलाया है ।

मेघदूत की अमरवाणी

(१) 'मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः'

कण्ठाऽऽश्लेष-प्रणयिनि जने कि पुनर्द्वैरसंस्थे' ? [१-३]

(२) 'कामार्ति हि प्रकृति-कृपणाश्चेतनाऽचेतनेषु । [१-५]

(३) 'याच्चामो वरमधिगुणे नाऽश्रमे लब्धकामा । [१-६]

(४) 'आशावन्धः कुमुमसदृशं प्रायशो हृज्जनानां

सद्यः पाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि' । [१-१०]

(५) 'न कुद्रोऽपि प्रथमसुकृताऽपेक्षया संशयाय

प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः कि पुनर्यस्तथोच्चैः' । [१-१७]

(६) 'रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय' । [१-२०]

(७) 'स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु' । [१-२८]

(८) 'मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेताऽर्थकृत्या' । [१-३८]

(९) 'ज्ञाताऽस्त्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः' । [१-४१]

(१०) 'आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो हृत्तमानाम् । [१-५३]

(११) 'के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलाऽऽरम्भयत्नाः' । [१-५४]

(१२) 'सूर्यादिष्ये न खलु कृमलं पुष्यति स्वामभिरुद्याम्' । [२-१९]

(१३) 'प्रायः सर्वो भवति कहणावृत्तिराद्वृत्तिरात्मा' । [२-३२]

(१४) 'कान्तोदान्तः सुहृदुपगतः सज्जमातिक्षिद्वूनः' । [२-३९]

(१५) 'कस्याऽत्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।

नीर्वैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण' । [२-४८]

(१६) स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा

दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति' । [२-५१]

(१७) प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सिताऽर्थं-क्रियेव । [२-५३]

आभार

रचना में उन व्यक्तियों के प्रति जिनसे लेखक लाभान्वित होता है लेख के माध्यम से आभार प्रदर्शन एक प्रथा है जिसका मैं निर्वाह कर रहा हूँ नहीं तो परम पूज्य गुरुवर पं० श्री कीर्त्यनिन्द ज्ञा जी (न्याय प्रवक्ता का० हि० वि० वि०) के लिए भी मेरे पास कोई ऐसा शब्द हो सकेगा जिसके माध्यम से उनका आभार व्यक्त कर सकूँ ? सच्ची कृतज्ञता तो हृदय से होती हैं । मेघदूत की इस इन्दुकलाटीका में जो कुछ भी लिख सका हूँ वह सब पूज्य गुरुजी के कारण ही । अतः श्री चरण में शतकोटि प्रणाम करता हुआ आशा करता हूँ कि आगे भी इसी प्रकार आपके वात्सल्य की सुखद छाया हमें मिलती रहेगी ।

अग्रज रूप पं० श्री हरेकान्त जी मिश्र का भी मैं परम आभारी हूँ जिनके सुन्दर पथ-प्रदर्शन के कारण ही मैं इस टीका को पूर्ण कर सका हूँ । सतीर्थ्यं श्री वौआनन्द जी ज्ञा एवं श्री राधारमण ठाकुर जी का भी उपकृत हूँ । अतः हृदय से आभारी हूँ । एवं जिनके वस्तुतत्त्वनिर्देशन एवं सदुत्साहवद्धन के कारण ही यह टीका सम्पूर्ण हो सकी और जिनके अमोघ आशीर्वाद का मैं आजीवन अभिलाषी हूँ उन पूज्य गुरुचरण पं० श्री रतिनाथ ज्ञा (रीडर का० हि० वि० वि०) के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के अतिरिक्त मैं क्या निवेदन कर सकता हूँ ?

अन्त में प्रकाशक महोदय का भी आभारी हूँ जिनके सदुत्साहपूर्ण प्रेरणा के कारण ही, मैं सरस्वती की इस उपासना में लग सका हूँ । यद्यपि मेघदूत की अन्य बहुत-सी टीकाएँ उपलब्ध हैं परन्तु मैंने अपनी इस टीका में उन सब अभावों की पूर्ति का प्रयास किया है जिनका अन्य टीकाओं में अभाव रहा है या कठिनाई रही है । टीका के शब्द प्रायः सरल हैं, अतः यदि इसके माध्यम से छात्र-गण योड़ा भी लाभान्वित हो सकेंगे तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा । इस टीका में कतिपय अन्य टीका एवं ऐतिहासिक ग्रंथों की सहायता मुझे लेनी पड़ी है, अतः उन सब के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ ।

प्रकाशन की भूल से या मेरे मतिज्ञम से यदि टीका में किसी प्रकार की त्रुटि रह गई हो तो—इस रीति से क्षमा करेंगे ।

‘गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः,

हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

ग्राम—अलपुरा, पो०—रतुपाड़ (ताजपुर)

अनु०—कांक्षारपुर, जि०—मधुबनी (बिहार)

विनीत

—वैद्यनाथ ज्ञा

इलोकानुक्रमणिका

पूर्वमेघः

श्लो०	पृ०
त्वन्निष्ठ्यन्दोच्छ्वसति—वसु०	४२ १०५
त्वय्यादातुं जलमवनते शा०	४६ ११६
त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति०	१६ ४३
त्वामारुदं पवनपदवीमद०	८ २४
त्वामासार-प्रशमित-वनो०	१७ ४५
दोर्धीकुर्वन्पटुमदकलं कू०	३१ ७७
धूमज्योतिः सलिलमखतां०	५ १५
नीचैरारुयं गिरिमधिवसेऽ	२५ ६३
नीरं दृष्ट्वा हरितकपिशं०	२१ ५३
(पत्रश्यामा दिनकरहयस्प०)	८४
पश्चादुच्चैर्भज-तरुवनं म०	३६ ९४
पाणुच्छायोपवनवृत्यः क०	२३ ५९
पादन्यासैः वृणित-रश०	३५ ९२
प्रत्यासन्ने नभसि दयिता०	४ १३
(प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं व०)	८२
प्राप्यावन्तीनुदयनकथा-क०	३० ७५
प्रालेयाद्रेषु-तटमति-क०	५६ १४२
ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छा०	४८ १२१
भर्तुः कण्ठच्छविरितिगणैः०	३३ ८७
मन्दं मन्दं नृदति पवन०	९ २७
मार्गं तावच्छृणु कथयत०	१३ ३५
ये संसभोतपतनरभसाः०	५४ १३६
रत्नच्छायायस्यतिकर इ०	१५ ४१
वकः पन्था यदपि भवतः०	२७ ६८
विश्रान्तः सनब्रज वनन०	२६ ६६
वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रे०	१८ ७१
वेणी—भूतप्रतनु—सलिला०	२९ ७३
शब्दायन्ते मधुरमनिलैः०	५६ १४०
सन्तप्तानां त्वमसि शरणं०	७. २१
स्थित्वा तस्मिन्वनचर०	१९ ४८
(हारांस्तारांस्तरलगुटिका०)	८०
हित्वा तस्मिन् भूगज—व०	६० १४९
हित्वा हालामिमतरसाँ०	४९ १२३
हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं०	६२ १५५

उत्तरमेघः

श्लो० पृ०	श्लो० पृ०
अक्षय्यान्तर्भवन-निधयः प्र० ८ १७९	नीवीबन्धोच्छ्रवसितशिथि० ५ १७२
अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना० ३९ २५४	तूनं तस्यांः प्रवलहृदितो० २१ २१०
आद्ये बद्धा विरहदिवसे या० २९ २३१	नेत्रा नीतोः सततगतिना० ६ १७४
आधिकामां विरहशयने स० २६ २२४ (आनन्दोत्यं नयनसलिलं०) १६५	पादानिन्दोरभृतशिशिरा० २७ २२६
आलोके ते निष्पतति पुरा० २२ २१३	भर्तुर्मित्रं प्रियमविद्वेषे ! वि० ३६ २४७
आश्वास्यैवं प्रथमविरहोद० ५० २८०	भित्त्वासद्यः किसलयपुटा० ४४ २६५
इत्याख्याते पवनतनयं मै० ३७ २४९	भूयश्चाहं त्वमपि शयने० ४८ २७४
उत्सङ्गे वा मलिनवसने० २३ २१६	मत्वा देवं धनपतिसखं य० १० १८३
एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रा० ५२ २८५	मन्दाकिन्याः सलिल-शि० ४ १७०
एतस्मान्मां कुशलिनमभिं० ४९ २७६	मामाकाशप्रणिहितभुजं० ४३ २६३
एभिः साधो हृदयनिहि० १७ २००	यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजा० ७ १७७
कच्चित्सौम्य ! व्वत्वसि० ५१ २८२	(यत्रोत्तमत्थमरमुखराः०) १६३
गत्युत्कम्पादलकपतितैर्य० ९ १८१	यस्यां यक्षाः सितमणिम० ३ १६७
गत्वा सद्यः कलभतनुतां० १८ २०२	रक्ताशोकश्वलकिसलयः० १५ १९५
जाने सख्यास्तव मनः म० ३१ २३६ (तं सन्देशं जलधरवरो) २८८	रुद्धापाञ्चप्रसरमलकैरञ्ज० ३२ २३८
तत्रागारं धनपतिगृहानुत्त० १२ १८८	वापी चास्मिन् मरकत० १३ १९०
तन्मध्ये च स्फटिकफलका० १६ १९७	वामश्चास्याः कररुहपदैर्मु० ३३ २४०
तन्वी श्यामा शिखरिदश० १९ २०४	वासश्चित्रं मधु नयनयो० ११ १८६
तस्मिन् काले जलद ! यदि० ३४ २४३	विद्युत्वन्तं ललित-वनि० १ १५८
तस्यास्तीरे रचितशिखरः० १४ १९२	शब्दारुद्येयं यदपि किलः० ४० २५६
तां जानीथाः परिमितक० २० २०७	शापान्तो मे भुजगशयना० ४७ २७१
तामायुष्मन्म च वचना० ३८ २५२	शेषान्मासान्विरहदिवस्था० २४ २१९
तामुत्थाप्य स्वजलकणिका० ३५ २४५	श्यामास्वद्गं चकितहरि० ४१ २५८
त्वामालिख्य प्रणयकुपितां० ४२ २६१	(श्रुत्वाबातांजलदक्षितां०) २९०
नन्वात्मानं बहु विगणय० ४६ २६९	संक्षिप्यते क्षण इव कथं० ४५ २६७
निःश्वासेनाधरकिसलयक० २८ २२८	सव्यापारामहनि न तथा० २५ २२१
	सा संन्यस्ताभरणमबला० ३० २३३
	हस्ते लीलाकमलमलके० २ १६०

॥ श्रीः ॥

मेघदृतम्

‘इन्दुकला’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

अथ पूर्वमेघः

कश्चित् कान्ता-विरहगुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्तः
 शापेनास्तज्ज्ञमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
 यक्षश्चक्रे जनक-तनया-स्नान-पुण्योदकेषु
 स्तिरधच्छायातरुषु वसर्ति रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

अन्वयः—स्वाधिकारात् प्रमत्तः कान्ता-विरहगुरुणा वर्षभोग्येण भर्तुः शापेन अस्तज्ज्ञमितमहिमा कश्चित् यक्षः जनक-तनया-स्नानपुण्योदकेषु स्तिरधच्छायातरुषु रामगिर्याश्रमेषु वसर्ति चक्रे ।

व्याख्या—स्वाधिकारात् = निजकर्तव्यात्, प्रमत्तः = असावधानः, कान्ता-विरहगुरुणा = प्रेयसीवियोगदुःसहेन, वर्षभोग्येण = संवत्सरयाप्येण, भर्तुः = स्वामिनः कुबेरस्येति यावत्, शापेन = दुरेषणया, अस्तज्ज्ञमितमहिमा = अक्षम-महत्वः, कश्चित् = अकथयनामा, यक्षः = गुह्यकः, जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु = सीतामज्जनपूतजलेषु, स्तिरधच्छायातरुषु = सान्द्रच्छायावृक्षेषु, रामगिर्याश्रमेषु = रामगिरिनामकपर्वताश्रमेषु, वसर्ति = वासं, चक्रे = चकार ।

शब्दार्थः—स्वाधिकारात् = अपने कर्तव्य से, प्रमत्तः = असावधान, कान्ता-विरहगुरुणा = प्रेयसी के वियोग से दुःसह, वर्षभोग्येण = (एक) वर्ष तक भोगे जाने वाले, भर्तुः = मालिक (कुबेर) के, शापेन = शापसे, अस्तंगमितमहिमा = जिसकी महिमा मलिन (असमय) बना दी गयी है, यक्षः = गुह्यक “एक

देवयोनिविशेष,” जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु=सीता जी के स्नान करने के कारण पवित्र हो गया है जल जहाँ का, स्त्रिघच्छायातरुषु=घने छाया वाले वृक्ष हैं जहाँ पर, (ऐसे) रामगिर्याश्रमेषु=रामगिरि नामक पर्वत के आश्रमों में वसति =अपना निवास, चक्रे=बनाया ।

भावार्थः—स्वकर्तव्ये असावधानः किञ्चिदज्ञातनामधेयो यक्षः, स्वामिनः कुबेरस्य प्रियावियोगरूपैकवर्षभोग्यात् शापात्, (तमभिशससमयमतिवाहयितुम्) गहनच्छायायुक्तवृक्षेषु “रामगिरि” पर्वतकुटीरेषु स्वनिवासं कृतवान् ।

हिन्दी—अपने कर्तव्य में असावधानी करने वाले, (अत एव) अपनी प्रियतमा के वियोग के कारण दुःसह एवं एक वर्ष तक भोगे जाने वाले स्वामी कुबेर के शाप से असमर्थ महिमावाले, किसी यक्ष ने, “रामगिरि” नामक पर्वत के आश्रमों में अपना निवासस्थान बनाया ।

समाप्तः—कान्ताविरहगुरुणा=कान्तायाः विरहः कान्ताविरहः (ष० तद०) कान्ताविरहेण गुरुः (त० तद०) कान्ताविरहगुरुस्तेत कान्ताविरहगुरुणा । स्वाधिकारात्=स्वस्य अधिकारः स्वाधिकारः (ष० तद०) अथवा स्वः अधिकारः=स्वाधिकारः (कर्मधारय) । अस्तंगमितमहिमा=अस्तंगमितो महिमा यस्य (बहुवीहि) स अस्तंगमितमहिमा । वर्षभोग्येण=वर्षं भोग्यः वर्षं मोग्यः, यहाँ पर वर्ष के आगे जो द्वितीया विभक्ति है वह “कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे च” इस सूत्र से विहित है; पश्चात् “अत्यन्तसंयोगे च” इस सूत्र से समाप्त किया गया है । जनकतनयायाः स्नानं=जनकतनयास्नानम् (ष० तद०) जनकतनयास्नानैः पुण्यानि उदकानि येषु (बहुवी०) जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु । स्त्रिघच्छायातरुषु=स्त्रिघा च सा छाया स्त्रिघच्छाया (कर्मधारय), यहाँ पर “पुंवद्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु” इस सूत्र से “स्त्रिघा” इस स्त्रीवाचक शब्दको पुंवद्वाव होकर स्त्रिघ ऐसा रूप बना; पश्चात् तुगादि करके स्त्रिघच्छाया ऐसा प्रयोग बनाया जाता है । स्त्रिघच्छाया प्रधानास्त्ररबो येषु स्त्रिघच्छायातरुषु, यहाँ पर “शाकपार्थिवादीनां सिद्ध्य उत्तरपदलोपञ्च” इस वार्तिक से “प्रधानं” इस मध्यम पद का लोप कर समाप्त किया गया है ।

कोशः—प्रमादोऽनवधानता इत्यमरः । गुरुस्तु गीष्पते श्रेष्ठे गुरौ पितरि
दुर्भेरे इति शब्दार्णवः । शापाक्रोशी दुरेषणा इत्यमरः । विद्याधरोऽसरोयक्षरक्षो-
गन्धर्वं किञ्चराः इत्यमरः । वत्सरे वर्षमस्त्रियाम् इत्यमरः । स्त्रियं तु मसृणे
सान्द्रे इति शब्दार्णवः । छाया वृक्षो नमेषुः स्यात् ।

टिथ्यणी—स्वाधिकारात्—अधिक्रियते अस्मिन्निति अधिकारः, यहाँ पर
'अधि' उपसर्गं पूर्वकं 'कु' धातु से अधिकरण में 'हलञ्च' (पा० अ० २।३।१)
सूत्र से 'घञ्च' प्रत्यय होकर 'अधिकारः' यह शब्द निष्पन्न हुआ है । 'स्वाधि-
कारात्' यहाँ जो पञ्चमी विभक्ति आयी है, वह 'प्रमत्तः' इस पद का योग
रहने के कारण 'जुगुप्सा-विराम-प्रमादाऽर्थात्नामुपसंख्यानम्' इस वार्तिक से
अपादान संज्ञा होकर 'अपादाने पञ्चमी' से पंचमी हुई है । **प्रमत्तः**—'प्र'उपसर्गं
पूर्वकं 'मद' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'प्रमत्तः' ऐसा रूप बना है ।
(प्र + मद + क्त = प्रमत्तः) । **वर्षभोग्येण**—इस पद का विभक्त्यादि विश्लेषण
तो समाप्त के सन्दर्भ में ही प्रदर्शित कर दिया गया है, यहाँ पर 'भोग्य' इस पद
के सामूहिक पर योड़ा विचार किया जा रहा है—'भोक्तुं योग्यः' इस विग्रह में
पालन और अभ्यवहार (भक्षण) इस अर्थ में स्थित रूद्धादिगणस्थ 'भूज्' धातु
से 'ऋहनोर्ण्यत्' इस से 'यत्' प्रत्यय का विधान करके 'चजोः कुषिण्यतोः'
इस सूत्र से जकार को कुत्व गकार होकर गुणादि करके 'भोग्य' ऐसा रूप
बनता है । इसी धातु से भक्षण अर्थ में 'भोज्यं भक्ष्ये' इस सूत्र से कुत्व का
अभाव विधान करके 'भोज्य' ऐसा रूप बनता है । **भर्तुः**—विभर्ति इति भर्ता
तस्य भर्तुः, धारण और पोषण अर्थ में विद्यमान '(डु) भृत्' धातु से 'ष्वुलतृची'
इस सूत्र से कर्त्ता में तृच् प्रत्यय होकर 'भर्तृ' शब्द सिद्ध होता है, उक्त प्रयोग
उसी शब्द के षष्ठी एकवचन का है । **शापेन**—शपेनं शापः शप्यते इति शापः
इन दोनों विग्रहों से आक्रोश अर्थ में विद्यमान 'शप्' धातु से भाव में 'भावे'
इस सूत्र से 'घञ्च' प्रत्यय हुआ है; यहाँ पर 'शाप' शब्द से हेतु में तृतीया
विभक्ति 'हेतौ' इस सूत्र से हुई है, क्योंकि यक्ष की महिमा शाप के कारण ही
अस्तंगत हुई थी । **अस्तद्भूमितमहिमा**—'अस्तम्' यह मान्त अव्यय है ।
गमित=गत्यर्थक 'गम्' धातु से 'हेतुमति च' इस सूत्र से 'णिच्' प्रत्यय होकर

‘गमि’ धातु बना, उससे कृदन्तीय ‘क’ प्रत्यय होकर ‘गमितः’ ऐसा रूप बनता है (गम् + णिच् + क् = गमितः) महिमा=महतो भावः इस विग्रह में ‘महत्’ शब्द से ‘पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा’ इस सूत्र से ‘इमनिच्’ प्रत्यय होकर ‘महिमा’ यह शब्द बना है। कवि ने ‘अस्तङ्गमित-महिमा’ यह विशेषण जो यक्ष के साथ लगाया है वह साभिप्राय है, क्योंकि स्वामी के शाप के द्वारा यदि उसकी महिमा असमर्थ न बना दी गयी होती तो वह अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियों के मध्य पाँचवीं सिद्धि ‘प्रासिः’ के द्वारा अथवा अदृश्यरूप होकर स्वयं प्रिया से मिल सकता था; अतः कवि ने मेघदूतस्त्व के निर्वाह के लिए यह विशेषण दिया है। **रामगिर्याश्रिमेषु**—यहाँ पर बहुवचनान्त प्रयोग को देख कर यह प्रतीत होता है कि यक्ष अपनी प्रिया के विरह से इतना खिन्न किंवा अव्यवस्थितचित्त हो गया था कि वह स्थिर रूप से किसी एक आश्रम में नहीं रह पाता था, अतः एक आश्रम से दूसरे आश्रम में अपना डेरा बदलता रहता था। बल्लभदेव और मलिकनाथ के मतानुसार चित्रकूट पर्वत ही रामगिरि है। ढाँ० विल्सन के मतानुसार नागपुर से उत्तर रामटेक पर्वत ही रामगिरि है। परन्तु आधुनिक अन्वेषकों का कहना है कि मध्यप्रदेश में जो ‘रामगढ़’ पर्वत है, जो कि अमरकूट या आम्रकूट के समीप है एवं नर्मदा का उद्गम स्थान है ‘रामगिरि’ है। यह मत युक्त युक्त भी प्रतीत होता है, क्योंकि महाकवि ने भी आगे चलकर इन दोनों वस्तुओं की चर्चा की है। **वसति-** निवास अर्थ में स्थित ‘वस’ धातु से ‘वहिवस्यतिभ्यश्च’ इस औणादिक सूत्र से ‘अति’ प्रत्यय होने पर ‘वसति’ रूप बनता है। **चक्रे-** (दुक्ष्य = करणे) करण अर्थ में वर्तमान एवं जिसके अन्त में अकार की इत्संज्ञा की गयी है ऐसे ‘कृ’ धातु से परोक्षभूत ‘लिट्’ लकार आने पर ‘चक्रे’ यह रूप बनता है। यहाँ पर क्रिया का फल कर्ता को प्राप्त होने के कारण एवं धातु के, ‘वित्’ होने के कारण ‘स्वरितवितः कर्त्तभिप्राये क्रियाक्ले’ से आत्मनेपद हुआ है। मेघदूत कौन-सा काव्य माना जाय इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित होने पर कुछ विद्वानों का कहना है कि ‘प्रस्तुत काव्य खण्डकाव्य है,’ इस उक्ति की पुष्टि में उनका प्रमाण साहित्यदर्पण की ‘खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि यत्’

यह पक्षिकत है। महाकवि ने “बर्णन के सौष्ठव” को महाकाव्य का प्रयोजक माना है। अतः उनके मतानुयायी विद्वज्जन मेघदूत को महाकाव्य की गणना में रखते हैं। उक्त ग्रन्थ गीतप्रधान होने के कारण पाश्चात्य विद्वान् मैकडोनल्ड ने इसे “गीति काव्य” माना है। मेघदूतः—‘मेघ एव दूतः=मेघदूतः’ इस तरह रूपक समास की यदि विवक्षा की जाय तो यह पद पुँलिङ्ग एवं अभेद लक्षणया ग्रन्थवाचक बन जायगा। यदि मेघ एव दूतो यस्मस्तत् मेघदूतम् अर्थात् मेघ ही हो दूत जिसमें इस प्रकार अन्यपद प्रधान बहुत्रीहि समास की विवक्षा की जाय तो यह पद नपुंसक हो जाता है। निर्विघ्नतापूर्वक ग्रन्थ की समाप्ति के लिए ग्रन्थ के आरम्भ में, ग्रन्थ के मध्य में एवं ग्रन्थ के अन्त में “मङ्गल” किया जाता है, ऐसा शिष्टों का अर्थात् आस पुरुषों का आचार है। वह मङ्गल तीन प्रकार का होता है, जैसे कि “आशीर्वादात्मक (१) नमस्क्रियात्मक और (२) वस्तुनिर्देशात्मक, इस प्रकार तीन तरह के मंगल होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ ‘क’ अक्षर से प्रारम्भ होता है जो कोश के अनुसार वायु, ज्वरा और सूर्य का वाचक है (मरुते वेदिषि इच्छे) अतः यहाँ भी मंगल किया गया है ऐसा समझना चाहिए। यहाँ वस्तु-निर्देशात्मक मंगल किया गया है। रस—प्रस्तुत ग्रन्थ में शृङ्गार रस है। शृङ्गार रस के दो भेद होते हैं—(१) संयोग और (२) विप्रलम्भ। विप्रलम्भ के भी चार भेद हैं—(१) पूर्वराग (२) मान (३) प्रवास और (४) करुण। यहाँ पर यक्षाधिप के शाप से इस अज्ञात नामा यक्ष को ‘प्रवास’ मिला है, अतः इस काव्यमें प्रवास रूप विप्रलम्भ शृङ्गार है। कश्चित्—जिस कविचक्नूडामणि कालिदास के लिए वाग्धिष्ठात्री देवता वाणी ने स्वयं ‘स्वमेवाहं’ का सुस्पष्ट उद्घोष किया था, क्या वे अपने ग्रन्थ में उस यक्ष का नाम नहीं लिख सकते थे? पर उन्होंने नहीं लिखा, इसका क्या कारण? इस पर विचार करने से यही कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्र ने अभिशप्त व्यक्ति का नाम लेने का निषेध किया है। ‘भर्तुराजां न कुर्वन्ति ये च विश्वासघातकाः। तेषां नामापि न ग्राह्य’ शास्त्रादौ तु विशेषतः ॥’ इत्यादि। आधुनिक टीकाकार तो इसका हेतु यह प्रस्तुत करते हैं कि काल्पनिक वृत्त वाले काव्यों में नाम बतलाने की जरूरत नहीं थी!

अलंकार—(क)—यहाँ पर शाप के प्रति ‘स्वाधिकारात्प्रमत्तः’ को हेतु बताया गया है एवं ‘अस्तज्ज्ञमितमहिमा’ के प्रति शाप को हेतुक बताया गया है अतः यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

(ख) विशेषण यदि साभिप्राय हो तो ‘परिकरांकुर’ अलंकार होता है ऐसा आलंकारिकों का सिद्धान्त है। यहाँ ‘अस्तज्ज्ञमितमहिमा’ रूप विशेषण साभिप्राय है अतः यहाँ पर भी परिकरांकुर अलङ्कार है।

छन्द—‘मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौ नतो तादगुरु चेत्’। इस लक्षण के अनुसार मेघदूत में मगण (sss), भगण (sI), नगण (III), तगण (sI), तगण (ssI) और दो गुरु (ss) होने से मन्दाक्रान्ता छन्द है। यह छन्द समद्वृत्त है; इसमें चौथे, छठे एवं सातवें अक्षरों पर यति (विश्राम) होता है। जैसा कि—

कश्चित्का न्ताविर हगुरु णास्वाधि कारात्प्र मत्तः ॥ १ ॥
 s s s s I I I I I s s I s s I s s

तस्मिन्द्वौ कतिचिदबला—‘वप्रयुक्तः स कामी
 नीत्वा मासान् कनकवलय—भ्रंशरित्त—प्रकोष्ठः ।
 आषाढस्य प्रथम—दिवसे मेघमाशिलष्ट—सानुं
 वप्रक्रोडा—परिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

अन्वयः—तस्मिन् अद्वौ अबला विप्रयुक्तः कनकवलयभ्रंशरित्तप्रकोष्ठः कामी सः कतिचित् मासान् नीत्वा, आषाढस्य प्रथमदिवसे आशिलष्टसानुम् वप्रक्रोडा-परिणतगजप्रेक्षणीयम् मेघम् ददर्श।

व्याख्या—तस्मिन्=पूर्वोक्ते, अद्वौ=पवंते, रामगिरो इति यावत्, अबला विप्रयुक्तः=प्रियविरहितः, कनकवलयभ्रंशरित्तप्रकोष्ठः=स्वर्णकटक-पातशून्य-कक्षान्तरः, कामी=कामुकः, कतिचित्=कतिपयान्, मासान्=त्रिशद्दिवसमूहात्मक-मासाभिष्ठेयान्, अष्टोमासानित्यर्थः, ‘शेषान् मासान् गमय चतुरः’ इति सप्तचत्वारिंशत्तमे (४७) श्लोके कथयिष्यति, अतः। नीत्वा=व्यतीत्य, आषाढस्य=

एतनामकस्य मासस्य, प्रथमदिवसे=आद्याहौ, आश्लिष्टसानुम्=समालिङ्गित-शृङ्खलम्, वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम्=उत्खातकेलि-संलग्न-तिर्यग्दन्त-प्रहार-हस्तिविलोकनीयम् । मेघम्=वारिदम्, ददर्श=अवलोकयामास ।

शब्दार्थः—तस्मिन्=उस (पहले कहे गये) में, अद्रौ=पर्वत में, अर्थात् रामगिरि में, अबलाविप्रयुक्तः=अपनी प्रिया से बिछुड़ा हुआ, कनकवलय-भ्रंशरित्क्रपकोष्ठः=सोने के कङ्कण गिरजाने से सूनी हो गयी है कलाई जिसकी, कामी=विषयविलासी, सः=वह यक्ष, कतिचित्=कुछ (आठ), मासान्=महीनों को, नीत्वा=बिताकर, आषाढस्य=आषाढ़ महीने के, प्रथमदिवसे=पहले दिन, आश्लिष्ट-सानुम्=पहाड़ की चोटी को जकड़े हुए, वप्रक्रीडापरिणत-गजप्रेक्षणीयम्=टेढ़े होकर खेल में टीले पर दाँतों से प्रहार करने वाले हाथी के समान देखने योग्य, मेघम्=वादल को, ददर्श=देखा ।

भावार्थः—वल्लभावियुक्तः सः कामुको यक्षः, अत्यन्तकाश्यर्ति यस्य मणिबन्धतः कनक-कटकोष्ठपि भ्रष्टः सः पूर्वोक्त-रामगिरी अष्टौ मासान् व्यतीत्य आषाढस्य प्रारम्भ एव दिने पर्वतशृङ्खलसंलग्नं, यस्यां क्रीडायां हस्तिनः तिर्यग्भूय दन्तैः उच्चस्थानेषु प्रहारं कुर्वन्ति (मृत्तिकादिकमुत्खनन्ति) तस्यां क्रीडायां संलग्नं दशनीयं हस्तिनमिव मेघं ददर्श ।

हिन्दी—अपनी प्राणप्रिया से वियुक्त, (अत एव) दुबले होने के कारण स्वर्णकङ्कण के गिर जाने से शून्य मणिबन्ध वाले कामी उस यक्ष ने, आषाढ़ महीने के पहले ही दिन, पर्वत की चोटी से सटे हुए एवं टीले पर तिरछे होकर दाँतों से प्रहार करने वाली क्रीडा में लगे हुए हाथी की तरह देखने योग्य मेघ को देखा ।

समाप्तः—अबलाविप्रयुक्तः=अबलया विप्रयुक्तः अबलाविप्रयुक्तः (तृ० तत०), कनकस्य वलयः कनकवलयः (ष० तत०) तस्य भ्रंशेन रिक्त-प्रकोष्ठो यस्य स कनकवलयभ्रंश-रित्क्रपकोष्ठः (बहुवीहि), वप्रक्रीडासु परिणतः=वप्रक्रीडापरिणतः (स० त०), स चासी गजश्च इति वप्रक्रीडापरिणतगजः (कर्मधारय) तद्व प्रेक्षणीयम् वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम् (उपमान कर्मधारय) ।

कोशः—स्त्री योषिदबला इत्यमरः । कटकं वलयोऽस्त्रियाम् इत्यमरः । कक्षान्तरं प्रकोष्ठः स्याद् इति शाश्वतः । तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः इति हलायुधः । उत्खातकेलिः शृङ्गाद्यैवंप्रक्रीडा निगद्यते इति शब्दार्णवः । अद्रिगोत्र-भिरि-ग्रावा-चल-शैल-शिलोच्चयाः इत्यमरः । अध्रं मेघो वारिवाहः इत्यमरः ।

टिप्पणी—अबला=अविद्यमानं बलं यस्याः सा अबला, यहाँ पर “नबो-स्त्यर्थानां वाच्यो वाचोत्तरलोपः” इस वार्तिक से नव् बहुत्रीहि समाप्त हुआ है । यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि अबला में अपुत्रः की तरह समाप्त न होकर ‘अनुदरा कन्या’ की तरह समाप्त हुआ है, क्योंकि नव् का केवल अभाव मात्र ही अर्थ नहीं है अपितु ६ अर्थ हैं—

“तत्सादूश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।

अप्राशस्त्वं विरोधश्च नवर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥

इसका अधिप्राय यह है कि नव् के सादूश्य, अभाव, भिन्नता, अल्पता, अप्राशस्त्वा और विरोध ये ६ अर्थ हैं । यहाँ अल्प अर्थ में ‘नव्’ है ।

विप्रयुक्तः—(विप्र + युज् + क्त) यद्यपि यहाँ पर योग (सम्बन्ध) अर्थ में विद्यमान “युज्” धातु से “क्त” प्रत्यय होकर उक्तरूप निष्पन्न हुआ है, परन्तु “वि” और “प्र” ये दो उपसर्ग लग जाने से अर्थ विलकुल विपरीत हो गया । कहा भी गया है—

“उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।

प्रहाराहारसंहार-विहार-परिहारवत् ॥

कामी—उक्त पद की निष्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है—

१—‘कामयते तच्छीलः अस्यास्तीति’ इस विग्रह में इच्छार्थक ‘कम्’ धातु से “सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये” इस सूत्र से “णिनि” प्रत्यय करके “कामिन्” शब्द बनाके—“कामी” की निष्पत्ति हो गयी । २—कमनं कामः इस विग्रह में “कम्” धातु से भाव में “भावे” इस सूत्र से “घब्” प्रत्यय करके “कामः” बना लेंगे पश्चात् “कामः अस्ति” इस विग्रह में “अत इनिठनी” इस सूत्र से इनि प्रत्यय करके “कामिन्” शब्द बनायेंगे । यक्ष का यह विशेषण

देकर कवि ने यक्ष के लिए प्रिया-वियोग की असह्यता बताई है। कतिचित्—“किम्” शब्द से “किमः संख्या परिमाणे डति च” इस सूत्र से “डति” प्रत्यय करके (किम् + डति) “कति” शब्द बनके उससे “चित्” अव्यय जोड़कर “कतिचित्” शब्द बनाते हैं। कतिशब्द हमेशा बहुवचन में ही प्रयोग किया जाता है। आषाढः—“आषाढा इति नामकेन नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी” ऐसे विग्रह में, आषाढा इस प्रातिपदिक से “नक्षत्रेण युक्तः कालः” इस सूत्र से अण् प्रत्यय का विधान करते हैं पश्चात् जित होने के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में “टिङ्गाणवृद्ध्यस-जदठनञ्चमात्रचत्यपृथक्-ठञ्जकवरपः” इस सूत्र से “डीप्” करके “आषाढी” ऐसा पद बनाते हैं (आषाढा + अण् + डीप् = आषाढी)। आषाढयस्ति अस्मिन् मासे इस विग्रह में “आषाढी” इस पदसे “साऽस्मिन् पौर्णमासी” इस सूत्र से अण् प्रत्यय करके “आषाढ़” ऐसा मास वाचक पद निष्पन्न होता है। प्रथमदिवसे—कुछ लोग “प्रत्यासन्ने नभसि” अर्थात् श्रावण महीने के समीप आने पर इस पद के सामञ्जस्य के लिए प्रथमदिवसे के स्थान पर ‘प्रशम-दिवसे’ अर्थात् आषाढ़ के बीत जाने पर ऐसा पाठ मानते हैं। परन्तु मल्लिनाथ जी ने इसका विरोध किया है और उन्होंने लिखा है कि यहाँ पर श्रावण का सामीप्य विवक्षित है अतः उल्लिखित पाठ ही युक्त है। वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम्—उत्खात-केलिः शृङ्गांचौः वप्रक्रीडा निगच्यते। इति शब्दार्थवः। अर्थात् जिस खेल में पशु सींग या दाँत इत्यादि से प्रहार कर मिट्टी आदि कुरेदें उसे ‘वप्रक्रीडा’ कहते हैं। ‘तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः’ हलायुध कोश के इस वाक्य के द्वारा तिरछे होकर जो प्रहार करे उस हाथी को ‘परिणत’ कहते हैं, तब तो ‘परिणत’ शब्द से ही ‘गजः’ शब्द का बोध हो जाता है पुनः गज पद देना पुनरुक्त दोष है। अतः उसके निवारण के लिए परिणत का अर्थ उक्त हाथी नहीं अपितु सामान्य ‘संलग्न’ माना जाय और उसका गज के साथ कर्म-धारय समाप्त किया जाय तो काम बन जायेगा। वप्रक्रीडायां परिणतः=वप्रक्रीडापरिणतः, स चासी गजश्च इति वप्रक्रीडापरिणतगजः इति। इस तरह पुनरुक्त दोष का वारण हो जायेगा।

अलंकार—यहीं पर मेघ की उपमा हाथी से दी गयी है, ‘इव’ आदि उपमावाचक शब्द का लोप होने से ‘लुप्तोपमा’ अलंकार है ॥ २ ॥

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो-
रन्तर्बाधिपश्चिमनुचरो राजराजस्य दध्यो ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथा-वृत्तिं चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूर-संस्थे ॥ ३ ॥

अन्वयः—राजराजस्य अनुचरः अन्तर्बाधिपः (सन्) कौतुकाधानहेतोः तस्य पुरः कथमपि स्थित्वा चिरं दध्यो मेघालोके सुखिनः अपि चेतः अन्यथावृत्तिं भवति कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने दूरसंस्थे (सति) किं पुनः ।

व्याख्या—राजराजस्य = कुबेरस्य, अनुचरः = सेवकः स यक्ष इत्यर्थः, अन्त-
बाधिपः = अवरुद्धाक्षिजलः (सन्); कौतुकाधानहेतोः = उत्कण्ठोत्पत्तिकारणस्य,
तस्य = मेघस्य, पुरः = सम्मुखे, कथमपि = येन केनाऽपि प्रकारेण, बहुप्रायासानन्तर-
भिति भावः । स्थित्वा = आत्मानं स्थिरीकृत्य, चिरं = बहुसमयर्पयन्तम्, दध्यौ=
ध्यानं कृतवान्, निजवल्लभां चिन्तयामासेति भावः । स कथं चिरकालं प्रियां
दध्यौ इति प्रश्नं कविः स्वयं समाधत्ते मेघालोके = जलदविलोकने, सुखिनः
अपि = प्रियापाद्वंस्थस्यापि, चेतः = चित्तम्, अन्यथावृत्ति = विचलितप्राय इव
(झट्कत इव) भवति = जायते । कण्ठाश्लेषप्रणयिनि = गलाऽस्त्रिलङ्घना-
भिलाषिणि, जने = प्रियारूपे जने, दूरसंस्थे = असमीपस्थे (सति), किं पुनः=
का वार्ता (विरहिणो जनस्य) ।

शब्दार्थ—राजराजस्य = कुबेर के, अनुचरः = सेवक ने, अन्तबाधिपः =
आँखों के अन्दर ही अश्रु को रोके हुए, कौतुकाधानहेतोः = उत्कण्ठा होने के
कारणीभूत, मेघस्य = मेघके, पुरः = सामने, कथमपि = किसी तरह (बहुत प्रयास
करने के बाद), स्थित्वा = बैठकर, चिरम् = बहुत देर तक, दध्यौ = ध्यान किया,
अर्थात् अपनी प्रिया का स्मरण किया । उसने प्रिया का स्मरण क्यों किया,
उसमें कारण बताते हैं—मेघालाके = बादल के दीक्ष जाने पर, सुखिनः

अपि=सुखी (व्यक्ति) का भी, अर्थात् जो लोग अपनी प्रिया के पास हैं उनका भी, चेतः=चित्त, अन्यथा-वृत्ति और ही तरह का अर्थात् विकृत, भवति=हो जाता है (तो फिर), कण्ठाश्लेषप्रणयिनि=गले लगाने की अभिलाषा वाले व्यक्ति के, या गले लगाने की अभिलाषा वाली प्रिया के, दूरसंस्थे=दूर रहने (पर), कि पुनः=तो फिर क्या कहना ।

भावार्थः—धनाधिपस्य सोऽनुचरः: निजोत्कण्ठोत्पादकस्य जलदस्य सम्मुखं बहुप्रयासेन स्थित्वा निजबल्लभां बहुकालपर्यन्तं चिन्तयामास । यतो हि मेघसमालोकनेन प्रियासमीपस्थस्यापि जनस्य चित्तं विकृतं भवति, तस्य जनस्य पुनः का कथा यः खलु प्रिया-गलाश्लेषाभिलाषी वर्तते अथव दूरस्थोऽपीति ।

हिन्दी—कुबेर का वह सेवक (यक्ष), अन्दर ही अन्दर आँसुओं को थामे हुए, उत्कण्ठा पैदा करने वाले उस मेघ के सामने किसी तरह (बहुत प्रयास के बाद) रुककर बहुत देर तक (प्रिया के विषय में) सोचता रहा। क्योंकि बादल के दीखने पर मुखी (प्रिया युक्त) व्यक्ति का भी चित्त विकृत हो जाता है; तो फिर गले मिलने वाली प्रिया के, अथवा गले मिलने वाले व्यक्ति के दूर रहने पर कहना ही क्या ?

समाप्तः—राजां राजा=राजराजः (ष० तत०) तस्य=राजराजस्य, अन्तःस्तम्भितं वाष्पं यस्य स अंतर्बाष्पः (मध्यमपदलोपीं बहुत्रीहि), कौतुकस्य आधानम्=कौतुकाधानम् (ष० तत०) कौतुकाधानस्य हेतुः तस्य कौतुकाधानहेतोः, मेघस्य आलोकः=मेघालोकः (ष० तत०), अन्यथा वृत्तिर्यस्य सः अन्यथावृत्तिः (बहुत्रीहि), दूरे संस्था यस्य (बहुत्रीहि) सः दूरसंस्थः तस्मिन् दूरसंस्थे । कण्ठस्य आश्लेषः=कण्ठाश्लेषः (ष० तत०) तस्य प्रणयो कण्ठाश्लेषप्रणयो (ष० तत०) तस्मिन् कण्ठाश्लेषप्रणयिनि ।

कोशः—राजराजो धनाधिपः इत्यमरः । अन्तु-नेत्राम्बुरोदनच्छास्मषु चेत्यमरः । कौतुकं चाभिलाषे स्यादुत्सवे नमंहर्षयोः इति विश्वः । कथमादि तथा-प्यन्तं यत्न-गौरव-बादयोः इत्युज्ज्वलः । चित्तं तु चेतो हृदयं स्वालं हृन्मानसं मनः इत्यमरः । आलोको दर्शनोद्योतो इत्यमरः ।

टिष्ठणी—राजां राजा = राजराजः (व० तद०) यहाँ पर समासप्रयुक्त सुप्लोपादि कार्य हो जाने पर “राजाहःसञ्चिष्यष्टच्” इस सूत्र से समासान्तटच् प्रत्यय होकर “राजराज” यह प्रातिपदिक बना पञ्चात् षष्ठी विभक्ति के आने पर ‘राजराजस्य’ यह रूप निष्पन्न होगा ।

अनुचरः—अनु=पञ्चात् चरति (गच्छति) इति अनुचरः, यहाँ पर अनु उपसर्गं पूर्वक गत्यथंक एवं भक्षणाथंक “चर” धातु से गति अर्थ की विवक्षा में “नन्दिग्रहिपचादिश्यो ल्युणिन्यचः” इस सूत्र से अच् प्रत्यय हुआ है । **कौतुकम्—कुतुकमेव कौतुकम् = यहाँ स्वार्थ में ‘प्रजादिष्यश्व’** इस सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ पञ्चात् गित्वात् वृद्धि करके ‘कौतुकम्’ रूप बनता है । कुतुक + अण् = कौतुकम् । **आधानम्=आङ् उपसर्गं पूर्वक ‘धा’ ‘धातु’ से अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय होकर आधानम्**, यह बनता है । (आ + धा + अन्) **पुरः=यह अव्यय है । ‘पूर्वा’ शब्द के स्थान पर ‘पूर्वांघरावराणामसि पुरघवश्चैवाम्’ इस सूत्र से ‘पुर्’ आदेश होकर ‘असि’ प्रत्यय होकर ‘पुरः’ यह निष्पन्न होता है । स्थित्वा = गतिनिवृत्यथंक ‘स्था’ धातु से ‘क्त्वा’ प्रत्यय होकर स्थित्वा यह रूप बनता है । दृध्यौ = यह चिन्ताथंक ‘ध्यौ’ धातु के लिट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन का रूप है । आलोकः=आङ् उपसर्गं पूर्वक दर्शन अर्थ में (कु) धातु से स्वार्थ में धव् प्रत्यय हुआ है । (आ + लोक + धव्) **आश्लेषः=आश्लेषणम् आश्लेषः=आङ् उपसर्गंपूर्वक शिलषधातु से भाव में ‘धव्’ प्रत्यय हुआ है । प्रणयी = ‘प्रणयमस्यास्तीति’ विश्रह में ‘अत इनिठनौ’ इस सूत्र से इनि प्रत्यय होकर ‘प्रणयी’ बना है । दूरसंस्थे=संस्थानं संस्था ‘सम्’ उपसर्गंपूर्वक ‘स्था’ धातु से भाव में ‘आतश्चोपसर्गे’ इस सूत्र से ‘अङ्’ प्रत्यय होकर ‘संस्था’ यह रूप बनता है ।****

अलंकार—यहाँ पर बाद के दो चरणों के द्वारा, पहले के चरण में कही गयी ‘चिन्ता’ का समर्थन किया गया है अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । एवच उत्तरार्थ में ‘कि पुनर्दूरसंस्थे’ इस पद के द्वारा ‘कैमुतिकन्यायेन अर्थपिति अलंकार है । इस तरह साहित्य-दर्पण के ‘मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टि-रूच्यते’ इस लक्षण के अनुसार यहाँ ‘संसृष्टि’ अलङ्कार है ।

प्रत्यासन्ने नभसि दयिता-जीविता-लङ्घनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन् प्रवृत्तिम् ।
स प्रत्यग्नैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्धाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ ४ ॥

अन्वयः—सः नभसि प्रत्यासन्ने दयिताजीवितालम्बनार्थीं जीमूतेन स्वकुशलमयीं प्रवृत्ति हारयिष्यन् प्रत्यग्नैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्धाय तस्मै प्रीतिप्रमुख-वचनं स्वागतम् व्याजहार ।

व्याख्या—ध्यानानन्तरं, सः=यक्षः (प्रियाचिन्तकः) नभसि=श्रावणे मासि, प्रत्यासन्ने = वहुनिकटवर्तिनि (सति), दयिताजीवितालम्बनार्थीं = प्रियाप्राणधारणाभिलाषी, (सन्) जीमूतेन = मेघेन, स्वकुशलमयीं = निजक्षेम-मुख्याम्; प्रवृत्ति = वार्ताम्; हारयिष्यन् = वाहयिष्यन्, प्रत्यग्नैः = नवीनैः, कुटजकुसुमैः, वासकसुमनैः, कल्पितार्धाय = विहितानुष्ठानविधये, तस्मै = द्रूतत्वेन सम्प्रेष्यमानाय जीमूतायेत्यर्थः । प्रीतः=प्रहृष्टः (सन्) प्रीतिप्रमुखवचनम् = स्नेहप्रधानोक्तिम्, यथास्यातथा, स्वागतम्=शुभागमनम्, व्याजहार = उवाच, मेघस्य स्वागतच्चकारेत्यर्थः ।

शब्दार्थः—ध्यान के बाद, सः=उस यक्ष ने, नभसि=श्रावण मास के, प्रत्यासन्ने = अत्यन्त नजदीक आ जाने पर दयिताजीवितालम्बनार्थीं = प्रिया के जीवन का अभिलाषी, जीमूतेन = मेघ के द्वारा, स्वकुशलमयीम् = अपने कुशल प्रवृत्तिम् = समाचार को, हारयिष्यन् = भेजने की इच्छा करता हुआ, प्रत्यग्नैः = नवीन, कुटजकुसुमैः = पर्वतीय पुष्पविशेष के द्वारा, कल्पितार्धाय = जिसके लिए अर्थं (पूजा की विधि) तैयार की गयी है (ऐसे) मेघाय = मेघ के लिए, प्रीतः=प्रसन्न होकर, प्रीतिप्रमुखवचनं = प्रेमपूर्ण शब्दों में, स्वागतम् = शुभागमन, व्याजहार = कहा ।

भावार्थः—ध्यानं विधाय सः यक्षः श्रावणे मासे समीपे आगते सति प्रियाय प्राणधारणाभिलाषया मेघेन निजकुशलपूर्णी वार्ता प्रेषणकामः सन् नूतन-गिरि-मलिकापुष्टैः तमचैयित्वा प्रसन्नः सन् प्रेमपूर्णवाणिभिः तस्य स्वागतं चकार ।

हिन्दी— श्रावण महीने के समीप आ जाने पर प्रिया के जीवन धारण को चाहने वाले उस यक्ष ने मेघ के माध्यम से अपना कुशल समाचार भेजने की इच्छा से कुटजपुष्पों के द्वारा मेघ की पूजा करके प्रसन्न होकर प्रेमपूर्ण वाक्यों द्वारा उसका स्वागत किया ।

समाप्तः— दयितायाः जीवितं=दयिताजीवितं (ष० तद०) तस्य आलम्बनं (ष० तद०) —तस्य अर्थी (ष० तद०) दयिताजीवितालम्बनार्थी, कुटजस्य कुमुमम् = कुटजकुमुमम् (ष० तद०) तैः; कल्पितः अर्धो यस्मै स कल्पितार्थः (बहुत्रीहि) तस्मै कल्पितार्थीय; प्रीतिप्रमुखानि वचनानि यस्मिन् यथा स्यात्तथा इति प्रीतिप्रमुखवचनम् (बहुत्रीहि:) ।

कोशः— नभाः श्रावणिकश्च सः, नभः खं श्रवणे नभा इत्यमरः । भावुकं भविकं भव्यं कुशल इत्यमरः । कुटजः शक्रो वासको गिरिमलिलका इति हलायुधः । मूल्ये पूजाविधावर्धः इत्यमरः । मुत्रं प्रीतिः प्रमदो हर्षः इत्यमरः ।

टिप्पणी—प्रत्यासन्ने— ‘प्रति’ और ‘आङ्’ उपसर्ग पूर्वक, ‘सद्’ धातु से कर्ता में क्त प्रत्यय होकर ‘प्रत्यासन्न’ (प्रति + आ + सद + क्त) बनता है और ‘भाव’ में सप्तमी विभक्ति आयी है । **दयिताजीवितालम्बनार्थी—** जीवितम् = प्राणधारण अर्थ में विद्यमान ‘जीव’ धातु से ‘नपुँसके भावे क्तः’ इस सूत्र से क्त प्रत्यय लाकर ‘जीवितम्’ यह रूप बनाया जाता है । आलम्बनम्—‘आङ्’ उपसर्गपूर्वक ‘लिवि’ धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय लाकर ‘आलम्बनम्’ यह रूप बनता है (आङ् + लिवि + अन्) । **दयिताजीवितालम्बनमर्थयते तच्छीलः**—इस विशेष में ‘दयिता-जीवितालम्बन्’ उपपदवाले याच्चा अर्थ में विद्यमान ‘अर्थं’ धातु से ‘सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये’ इस सूत्र से णिनि प्रत्यय हुआ है एवं ‘उपपदमतिङ्’ इस सूत्र से उपपद समाप्त हुआ है । **जीमूतः—** जीवनस्य मूतः=जीमूतः; यहाँ पर “पृष्ठोदरादीनि यथोपदिष्टम्” इस सूत्र से समाप्त एवं “जीवन” इस पदवर्ती “वन्” का लोप करके जीमूत शब्द बना है । जीमूतेन यह प्रयोज्य कर्ता है एवं मेघ प्रयोजक कर्ता है । **स्वकुशलमयीम्—** यहाँ ‘स्व-कुशल’ शब्द से “तत्प्रकृतवचने मयट्” इस सूत्र से ‘मयट्’ प्रत्यय हुआ है ।

पश्चात् स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टिड्डाणव्' इत्यादि सूत्र से डीप् प्रत्यय करके 'स्वकुशलमयी' यह शब्द बना है। हारयिष्यन्=हरणार्थक 'ह' धातु से 'हेतुमति च' से णिच् प्रत्यय करके 'हारि' धातु बना करके पश्चात् 'ल्लट् शेषे च' इस सूत्र से ल्लट् लकार लाकर पश्चात् उसके स्थान में 'ल्लटः सद्वा' इस सूत्र से शत्रु प्रत्यय आदेश करके 'हारयिष्यन्' यह रूप साधु होता है।
कुटज्जकुसुमैः=यहाँ 'अर्ध' क्रिया के अत्यन्त उपकारक होने के कारण 'साधक-तमं करणम्' इस सूत्र से 'कुटज्जकुसुम' शब्द की करण संज्ञा हुई और 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' से तृतीया विभक्ति आयी है। प्रीतिः=‘प्रीत्’ धातु से ‘स्त्रियां त्तिन्’ इस सूत्र से किन् प्रत्यय होकर ‘प्रीतिः’ शब्द बनता है। प्रस्तुत पद्म में कवि यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि यक्षप्रिया अपने प्रिय से वियुक्त है और वर्षा ऋतु आ गयी है, ऐसी अवस्था में अपने प्रिय का कुशल-क्षेम न जानकर कहीं प्राण त्याग न कर ले इसलिए 'यक्ष' अपना कुशल-क्षेम मेघ के द्वारा भेजना चाहता है ॥ ४ ॥

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः वव मेघः ?
 सन्देशार्थाः वव पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ?
 इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
 कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ ५ ॥

अन्वयः—धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः मेघः वव ? पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः सन्देशार्थाः वव ? इति औत्सुक्यात् अपरिगणयन् गुह्यकः तं ययाचे हि कामार्ताः चेतनाऽचेतनेषु प्रकृतिकृपणाः ।

व्याख्या—धूमज्योतिःसलिलमरुतां=धूमतेजोवारिवायूनाम्, सन्निपातः=समवायः, मेघः=वारिदः, वव=कुत्र, पटुकरणैः=कार्योपयुक्तेन्द्रियवदभिः, प्राणिभिः=चेतनैः; प्रापणीयाः=वासनीयाः, सन्देशार्थाः=वाचिकाभिधेयाः, वव=कुत्र, इति उभयोर्भवदन्तरम्, इति=एवमन्तरम्, औत्सुक्यात्=इष्टार्थोद्युक्तत्वात्, अपरिगणयन्=अविवेचयन्, गुह्यकः=यक्षः, तं मेघम्, ययाचे=याचयामास, पूर्वो-२ मे० दू०

कर्तार्थमर्थान्तरन्यासेन प्रदर्शयति कामाऽत्तेति । हि=यतः, कामाऽत्तर्ता: = माराऽकुलाः, चेतनऽचेतनेषु=सजीव-निर्जीविषु, प्रकृतिकृपणा: = औत्सर्गिककर्दर्यः (भवन्ति) । मदनेन व्याकुलीकृतानां कर्तव्याऽकर्तव्यविषयकविवेकशून्यत्वेन अचेतनमपि मेघं प्रति याचना नाऽनुपयुक्ता इति भावः ।

शब्दार्थः—धूमज्योतिःसलिलमरुतां=धुआँ, तेजः, जल और वायु का सन्निपात=मिश्रित समूह, मेघः=बादल, क्व=कहाँ, पटुकरणैः=कार्य में समर्थ इन्द्रिय वाले, प्राणिभिः=प्राणियों के द्वारा, प्रापणीयः=भेजे जाने योग्य, सन्देशार्थः=सन्देश की बात, क्व=कहाँ, दोनों में महान् अन्तर है, डति=इस अन्तर को, औत्सुक्यात् =उत्सुकता के कारण, अपरिगणयन्=विना विचार किये गुह्यकः=यक्ष ने, तं=उस मेघ से, ययाचे=याचना की, हि=क्योंकि, कामाऽत्तर्ता: =कामान्ध, चेतनाचेतनेषु=सजीव और निर्जीव वस्तुओं के विषय में, प्रकृति-कृपणाः=स्वाभाविक रूप से दीन, अर्थात् विवेकशून्य हो जाते हैं ।

भावार्थः—धूमाग्निजलमरुतां समवायरूपोऽयमचेतनः जलः कुत्र ? कार्य-समर्थेन्द्रिययुक्तैश्चेतनैः वाहनीयाः सन्देशवचनाः कुत्र ? इत्युभयोर्मध्ये महदन्तरं वर्तते, तथापि औत्सुक्यादेवमन्तरं यक्षः अविचारयन् 'मत्संदेशं मत्प्रिया-पाश्वं नय' इति ययाचे, अर्थान्तरन्यासेन तं द्रढयति यतो हि कामपीडिताः जनाः 'अयं चेतनः अयमचेतनः' इति विवेकशून्याः स्वभावेनैव भवन्ति ।

हिन्दी—धुआँ, अग्नि, जल और वायु के संमिश्रण से बना कहाँ यह अचेतन मेघ ? और अच्छी इन्द्रियों से युक्त प्राणियों के द्वारा पहुँचाये जाने योग्य सन्देश की बातें कहाँ ? दोनों में कितना अन्तर है, फिर भी उत्कण्ठावश यक्ष ने इस अन्तर को विना विचारे मेघ से सन्देश ले जाने की याचना की, क्योंकि काम से पीड़ित जन यह चेतन है यह अचेतन है इस प्रकार के विवेक से शून्य स्वाभाविक रूप से हो जाते हैं ।

समाप्तः—धूमश्च ज्योतिश्च सलिलश्च मरुच्च=धूमज्योतिः-सलिल-मरुतः, तेषाम् (द्वन्द्व) । पटूनि करणानि येषां तैः=पटुकरणैः (बहुव्रीहि) । सन्देशा एव अर्थः=सन्देशार्थः (कर्मधारय) । कामेन आर्ताः=कामात्ताः (दृ० तद०) । चेतनाश्च अचेतनाश्च, चेतनाऽचेतनाः (द्वन्द्व) तेषु ।

कोशः—प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिणः इत्यमरः, करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि इत्यमरः, इष्टार्थोद्युक्त इत्यमरः, सलिलं कमलं जलम् इत्यमरः, यक्षराङ्गुह्यकेश्वर इत्यमरः; कामः पञ्चशरः इत्यमरः।

टिष्ठणी—सन्निपातः—सम् + नि + पत + अ = सन्निपातः यहाँ ‘सम्’ और ‘नि’ इन उपसर्ग पूर्वं गिरने के अर्थ में विद्यमान पत (लृ) धातु से भाव में ‘धव्’ प्रत्यय होकर सन्निपातः यह रूप बना है। **पटुकरणैः**—क्रियन्त एभिरिति करणानि करण अर्थ में विद्यमान (दु) कृब् धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर करण यह शब्द बना है। पटु विशेषण है। (कृ + अन = करण)। **प्राणी**—प्राणमस्यास्तीति, इस विग्रह में “प्राण” शब्द से “इनि” प्रत्यय हुआ है। **प्रापणीयाः**—प्रापितुं योग्याः इस विग्रह में ‘प्र’ उपसर्गपूर्वक ‘आप्’ धातु से ‘अनीयर्’ प्रत्यय करके प्रापणीयाः बनाया जाता है। **सन्देशाः**—सम् + दिश + अ = ‘सम्’ उपसर्गपूर्वक दिश धातु से भाव में धव् प्रत्यय होकर सन्देश यह रूप निष्पक्ष होता है। **अपरिगणयन्**—परि + गण + शत्रृ = परिगणयन् उपसर्गपूर्वक गिनने के अर्थ में विद्यमान ‘गण’ (संस्थाने) धातु के प्रथमा के समानाधिकरण में भी ‘लटः शत्रूशानचावप्रथमा समानाधिकरण’ इस सूत्र से शत्रू प्रत्यय हुआ है, क्योंकि यहाँ लट की अनुदृति पहले से ही आती ही थी पुनः ‘लट्’ का विद्यान किया जाने के कारण। परिगणयन् यहाँ ‘नद्’ सूत्र से समाप्त हुआ है एवं ‘नलोपो नव्’ से नकार का लोप हो गया और तदन्तवर्ति अकार बच गया है। **गुह्यकः**—संवरण अर्थ में विद्यमान ‘गुह’ धातु से ‘एवुल्तुच्चौ’ इस सूत्र से एवुल् प्रत्यय होकर ‘पृष्ठोदरादीनि यथोपदिष्टम्’ इस सूत्र से ‘यक्’ का आगम करके ‘गुह्यक’ यह रूप बनता है। गूहति वनं रक्षति इति गुह्यकः (गुह + य + अक = गुह्यकः)। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि अमरकोषकार ने प्रथमकाण्ड के स्वर्णवर्ण में ही गुह्यक एवं यक्ष को अलग-अलग देवयोनि विशेष माना है। जैसे—

‘विद्याधराऽप्सरो’ ‘यक्ष’ रक्षोगन्धवर्ण-किञ्चराः ।

‘पिशाचो’ गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमीदेवयोनयः ॥

परन्तु कालिदास ने इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची माना है; क्योंकि प्रथम श्लोक में उन्होंने 'पक्ष' शब्द का प्रयोग करके पुनः पञ्चम श्लोक में उसी अभिप्राय से 'गुह्यक' शब्द का प्रयोग किया है। इस तरह इन दोनों में मतभेद प्रतीत होता है परन्तु उसका परिहार 'गोबलीवर्द' न्याय से किया जा सकता है। यहाँ कोशकार ने दोनों को अलग-अलग 'गोबलीवर्द न्याय' से माना है। जैसे 'गो' इस शब्द का अर्थ 'गाय' भी है और बलीवर्द (बैल) भी है। बलीवर्द में बलीवर्द रूप 'गो' का अभेद है एवं 'गाय' रूप गो का भेद है। इस प्रकार कोषकार व्याडि ने 'गुह्यक' शब्द का अर्थ 'धनरक्षक यक्ष' माना है। इस प्रकार एक पक्ष सामान्य हुआ और दूसरा गुह्यक धनरक्षक रूप विशेष। इस तरह दोनों के विरोध का परिहार—हो जाता है। धनं रक्षति ये यक्षास्ते स्वर्णगृह्यकसंजकाः इति व्याडिः। यथाचेऽयाचना अर्थं में प्रयुक्त होने वाले 'याच्' धातु के लिट् लकार के प्रथमपुरुष के एक वचन का यह रूप है। प्रकृतिकृपणाः=प्रकृत्या कृपणाः यहाँ 'प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्' इस सूत्र से तृतीया होकर तृ० तत्पुरुष समाप्त हुआ है।

अलंकारः—इस श्लोक में विषमाऽलङ्कार एवं अर्थान्तरन्यासालङ्कार का अङ्गाङ्गभाव होने के कारण 'सङ्कर' अलंकार है। क्योंकि श्लोक के पूर्वार्थ के प्रथम चरण में 'मेघ' एवं द्वितीय चरण में 'सन्देश' इन दो विरूप पदार्थों के संघटन होने के कारण साहित्यदर्पण के 'विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं स्मृतम्' इस लक्षण के अनुसार यहाँ विषमाऽलङ्कार है। एवं 'कामार्ताः हि प्रकृत' इत्यादि सामान्य से ऊपर के कहे गये विशेष का समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यासालङ्कार है ॥ ५ ॥

जातं वंशे भुवन—विदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं भवोनः ।
तेनाथित्वं त्वयि विद्धिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याञ्चामोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ ६ ॥

अन्वयः—त्वां भुवनविदिते पुष्करावतंकानां वंशे जातं कामरूपं मधोनः प्रकृतिपुरुषं जानामि तेन विधिवशात् दूरबन्धुः अहं त्वयि अर्थित्वं गतः अधिगुणे मोघा याच्चा वरम् अधमे लब्धकामा अपि न (वरम्) ।

व्याख्या—(हे मेघ !) त्वाम् = भवन्तम्, भुवनविदिते = लोक-विश्वाते, पुष्करावतंकानां = पुष्करावतंकाऽख्यानां मेघानां, वंशे = अन्वये, जातम् = उत्पन्नम्, कामरूपं = यथेच्छविग्रहम्, मधोनः = इन्द्रस्य, प्रकृतिपुरुषम् = प्रधानपुरुषम्, जानामि = वेच्चिपरिचिनोमीतियावत् । तेन = उच्चकुलोत्पन्नो भवानतः, विधिवशात् = दैवदुविपाकात्, दूरबन्धुः = वियुक्तप्रियः, अहं = यक्षः, त्वयि = भवति, भवत्समीपे इत्यर्थः, अर्थित्वम् = याचकत्वम्, गतः = प्राप्तः । अधिगुणे = गुणशालिनि पुरुषे, याच्चा = याचना, मोघा अपि = व्यर्था अपि, वरम् = श्रेष्ठा, अधमे = गुणरहिते पुरुषे, लब्धकामा अपि = पूर्णमनोरथा अपि (याच्चा) न (वरम्) इति ।

शब्दार्थः—(हे मेघ !) त्वाम् = तुमको, भुवन — विदिते = लोकविश्वात, पुष्करावतंकानाम् = पुष्करावतंक नाम वाले मेघों के (श्रेष्ठ), वंशे = कुल में, जातम् = उत्पन्न हुए को, कामरूपम् = अपना इच्छानुसार शरीर धारण करने वाले को, मधोनः = इन्द्र के, प्रकृतिपुरुषम् = प्रधान पुरुष को, जानामि = (मैं) जानता हूँ । तेन = चूंकि तुम अच्छे कुल में उत्पन्न हुए हो, इसलिये, विधिवशात् = दुर्भाग्यवश, दूरबन्धुः = प्रियजन से वियुक्त, अहम् = मैं, त्वयि = तुम्हारे पास, अर्थित्वम् = याचक रूप में, गतः = आया । अधिगुणे = गुणी व्यक्ति के पास, याच्चा = याचना, मोघा अपि = निष्फला भी, वरम् = अच्छी है; परन्तु अधमे = गुणरहित व्यक्ति के पास, लब्धकामा अपि = पूर्ण अभिलाषा होने पर भी, न वरम् = श्रेष्ठ नहीं है ।

भावार्थः—हे जलद ! भुवनविश्वाते, पुष्करावतंकाभिष्ठेयानां मेघानां वंशे उत्पन्नं यथेच्छ-विग्रहधारिणमिन्द्रस्य प्रधानपुरुषं भवन्तमहं जानामि, अत एव दैवदुविपाकात् प्रियायाः दूरस्थोऽहं भवत्सकाशं याचकत्वेनागतः । भवादृष्टे गुणशालिपुरुषे निष्फला अपि याचना श्रेष्ठा भवति, अधमे पुरुषे पूर्णभिलाषा अपि न श्रेष्ठा भवति ।

हिन्दी— हे मेघ ! भुवनविख्यात पुष्करावर्तक नामक मेघ के वंश में उत्पन्न, अपने इच्छानुकूल शरीर धारण करने में समर्थ, इन्द्र के प्रधान पुरुष आपको मैं जातना हूँ । इसलिए, दुर्भाग्यवश पत्नी से बिछूड़ा हुआ मैं आपके पास याचक बन के आया हूँ । क्योंकि (आप के समान) गुणी व्यक्ति के पास यदि याचना निष्फल भी हो जाय तो अच्छी है, परन्तु निर्गुणी व्यक्ति के पास यदि सफल हो जाय तो भी अच्छी नहीं है ।

समासः— भुवनेषु विदित इति भुवनविदितः (स० तद०) तस्मिन्, पुष्कराश्च आवर्तकाश्च इति पुष्करावर्तकाः (द्वन्द्व) इति मलिनाथमतानु-सारम् अन्ये तु एतन्नामकैक एव मेघः । प्रकृतिषु पुरुषः प्रकृतिपुरुषः (स० तद०) तम् । कामकृतानि रूपणि यस्य तम् (मध्यम पदलोपी बहुव्रीहिः) । द्वै बन्धु-यंस्य स (बहुव्रीहिः) । लब्धः कामः यथा सा लब्धकामा (बहुव्रीहिः) ।

कोशः— 'जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत् इत्यमरः । पुष्करं करि-शुण्डाग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले इत्यमरः । इन्द्रो मठत्वान् मघवा इत्यमरः । प्रकृति-र्गुण-साम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः इति मेदिनी । दैवं दिष्टं भागदेय भाग्य स्त्री नियतिर्विधिः इत्यमरः । सगोत्र-बान्धवज्ञाति बन्धु स्व-स्वजनाः समाः इत्यमरः । बनीयको याचनको मार्गणो याचकार्थिनो इत्यमरः ।

टिप्पणी— भुवनविदिते यह सप्तमी समासान्त शब्द है । यहाँ ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से भूतार्थ में 'निष्ठा' इस सूत्र से 'क्त' प्रत्यय किया गया है, न कि 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इस सूत्र से । क्योंकि यदि 'मतिबुद्धिं' इस सूत्र से वर्तमान अर्थ में 'क्त' प्रत्यय करेंगे तो 'क्तस्य च वर्तमाने' इस सूत्र से 'भुवन' शब्द से बष्ठी विभक्ति आयेगी एवं 'क्तेन च पूजायाम्' इस सूत्र से समास का निषेध हो जायगा । फलस्वरूप 'भुवनविदिते' ऐसे शब्द निष्पन्न न होकर बल्कि 'भुवनानां विदिते' ऐसा असमस्त रूप होने लगेगा जो यहाँ इष्ट नहीं है । **पुष्करावर्तकानाम्=** मलिनाथजी ने 'पुष्कराश्च आवर्तकाश्च' ऐसा विग्रह करके उक्तपद को द्वन्द्व समासान्त माना है । परन्तु एक ही मेघ दो वंशों में कैसे उत्पन्न हो सकेगा ? इसलिए कुछ लोग विष्णुपुराण के—

'पुष्करा नाम ये मेघा बृहन्तस्तोयमत्सराः ।
पुष्कराऽवतंकास्तेन कारणेनेह शब्दिताः ॥'

इस उद्धरण के अनुसार प्रलयङ्कारी एक मेघवंश को ही 'पुष्करावतंक' कहते हैं। मातृगोत्र एवं पितृगोत्र के प्रधान पुरुष 'पुष्कर' और 'आवतंक' हो सकते हैं एवं उन दोनों की सन्तति एक मेघ हो सकता है, इस प्रकार मल्लिनाथ जी का भी व्याख्यान युक्तियुक्त माना जा सकता है। जातम्—प्रादुर्भाव अर्थ में विद्यमान 'जन्' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके 'जातम्' शब्द निष्पन्न हुआ है। कामम्—काममस्यास्तीति इस विग्रह में 'काम' शब्द से 'अर्थं आदिष्योऽच्' इस सूत्र से 'अच्' प्रत्यय करके 'कामम्' शब्द बना है। जानामि='ज्ञा' धातु के उत्तम पुरुष के एकवचन का रूप जानामि होता है। 'ज्ञाजनोर्जा' इस सूत्र से ज्ञा के स्थान पर 'जा' आदेश है। अर्थित्वम्=असन्निहितोऽर्थोऽस्यास्तीति अर्थीं यहाँ पर जिसके पास अर्थं न हो, अर्थात् अर्थ के असन्निधान में 'अर्थं' शब्द से 'अर्थंच्चासन्निहिते' इस सूत्र से इन्नि प्रत्यय हुआ है तथा 'अर्थीं' (अर्थं + इन्) यह रूप बना है। अर्थिनो भावः अर्थित्वम् 'तस्य भावस्त्वतलौ' इस सूत्र से भाव में 'अर्थीं' शब्द से 'त्व' प्रत्यय होकर 'त्वान्तं क्लीबम्' के नियमनुसार नपुंसकान्त 'अर्थित्वम्' यह रूप बना है। अर्थं के सन्निधान में तो 'अर्थवान्' हुआ और जिसके पास अर्थं न हो वह 'अर्थीं' हुआ। याच्चा—याचना=याच्चा याचना अर्थं में विद्यमान 'याच' धातु से 'यजयाचयतविच्छ्लप्रच्छरक्षो नङ्' इस सूत्र से 'नङ्' प्रत्यय हुआ है पञ्चात् 'स्तोः श्चुना श्चुः' इस सूत्र से श्चुतु एवं स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' करके 'याच्चा' शब्द बना है।

अलङ्कार—यहाँ अर्थित्व प्राप्तरूप विशेष अर्थ का समर्थन चतुर्थं चरणस्थ सामान्यार्थ के द्वारा होने के कारण 'अर्थान्तरन्यास अलंकार है ॥ ६ ॥

सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद ! प्रियायाः
सदेशां मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य ।

गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्
बाह्योद्यान-स्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधीतहर्म्या ॥७॥

अन्वयः—हे पयोद ! त्वं सन्तसानां शरणम् असि, तत् धनपतिक्रोध-विश्लेषितस्य मे सन्देशं प्रियाया हरे । बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधीतहर्म्या अलका नाम यक्षेश्वराणां वसतिः ते गन्तव्या ।

व्याख्या—हे पयोद ! =हे जलद ! त्वम् सन्तसानाम्=आतपेत विरहेण वा पीडितानाम्, शरणं=रक्षकः, असि=वर्त्तसे, आतपपीडितं जलदानेन, विरहपीडितं स्वस्थान-प्रेरणया वा रक्ष्यसे इति भावः । तत्=तस्माद्देतोः, रक्षकत्वादिति भावः । धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य =कुबेरकोपवियुक्तस्य, मे=मम यक्षस्य, सन्देशम्=वाती, प्रियाया:=प्रेयस्याः, पाश्वर्म् इति शेषः । हर=नय । सा मत्प्रिया कुत्र वर्तते, तस्य स्थानस्य किन्नामेतिजिज्ञासायामाह । बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधीतहर्म्या =बाह्योद्याने=बहिरारामे, स्थितस्य =दर्तमानस्य, हरस्य=शम्भोः, शिरसि=मस्तके या चन्द्रिका=ज्योत्स्ना, तथा धीतहर्म्या=प्रक्षालिताद्वालिका अलका, नाम=एतनामिका यक्षेश्वराणाम् =गुह्यकाव्यिपतीनांम्, वसतिः=स्थानम्, ते=मेघस्य, गन्तव्या=यातव्या ।

शब्दार्थः—हे पयोद ! =हे मेघ ! त्वम्=तुम, सन्तसानाम्=धूप से पीडित अथवा वियोग से पीड़ित जनों के, शरणम्=रक्षक, असि=मे । तत्=तुम रक्षक हो इसलिए, धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य =कुबेर के क्रोध के कारण अपनी प्रिया से वियुक्त, मे=मेरा (यक्ष का), सन्देशम्=सन्देश, प्रियायाः=प्रिया के पास, हर=पहुँचा दो । यदि तुम कहो कि, मेरी प्रिया कहाँ रहती है, उस स्थान का क्या नाम है तो सुनो, बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधीतहर्म्या =नगर से बाहर के उद्यान में विद्यमान शिव जी के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से जहाँ के महल धुल रहे हैं, अलका नाम=अलका नाम की यक्षेश्वराणाम्=कुबेर की (वही) वसतिः=नगरी, ते=तुम्हें, गन्तव्या=जाना है ।

भावार्थः—हे मेघ ! धर्मपीडितानां विरहसन्तासानां वा त्वं रक्षकोऽसि, अतः कुबेरकोपवियुक्तस्य मे यक्षस्य सन्देशं मत्प्रियायाः पाश्वं प्रापय । यत्र मे प्रिया वसति तदस्थानं कथयामि तथाहि यस्याः नगर्याः हम्यर्णिनि नगरवहिरा-रामस्थशिवशिरश्चन्द्रमसः कान्तिभिः सततं प्रक्षालयन्ते, सा अलका नाम्नी कुबेरस्य निवासभूमिरेव त्वया गन्तव्या । तत्रैव मत्प्रिया वर्तते इति भावः ।

हिन्दी—हे मेघ ! तुम सन्तास जनों के रक्षक हो, (वह चाहे धूप से पीड़ित हों या विरह से) अतः कुबेर के क्रोध के कारण अपनी प्रिया से वियुक्त मेरा सन्देश मेरी प्रिया के पास पहुँचा दो । जहाँ के भवन, नगर के बाहर स्थित बाग में विद्यमान शिवजी के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से धुलते रहते हैं, अलका नाम की उसी कुबेर की निवास भूमि में तुम्हें जाना है ।

समाप्तः—धनपतेः क्रोध = धनपतिक्रोधः (७० तद०) तेन विश्लेषितः तस्य (ट० तद०) धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य, बाह्यच्च तदुद्यानं=बाह्योद्यानम् (प्र० तद०) स्थितश्चासी हर=स्थितहरः (कर्मधारय) बाह्योद्याने स्थितहरः=बाह्योद्यानस्थितहरः (स० तद०) तस्य शिरः (७० तद०) तस्मिन् या चन्द्रिका (स० तद०) तया धीतानि हम्यर्णिनि यत्र सा (बहुत्रीहिः) ।

कोशः—सन्तापः सञ्जवरः समी इत्यमरः । शरणं गृहरक्षित्रोः इत्यमरः । चन्द्रिका कोमुदी ज्योत्स्ना इत्यमरः । सन्देशवाग् वाचिकं स्याद् इत्यमरः । हम्यर्णिदि धनिनां वासः इत्यमरः । नाम प्रकाश्य सम्भाव्य क्रोधोपगमकुत्सने इत्यमरः ।

टिप्पणी—पयोद—पयो ददाति इति पयोदः उसके सम्बोधन में हे पयोद ! ‘पयस्’ उपपद रहते ‘(डु) दा’ धातु से ‘अतोऽनुपसर्गे कः’ इस सूत्र से क प्रत्यय होकर ‘पयोद’ यह रूप बना है । **सन्तद्वतः**—सम् + तप् + क्त = सम् उपसर्गं-पूर्वक ‘तप्’ धातु से क्त प्रत्यय होकर ‘सन्तास’ यह शब्द बना है । **विश्लेषितः**—वि + श्लिष + क्त = वि उपसर्गंपूर्वक ‘श्लिष्’ धातु से ‘क्त’ प्रत्यय हुआ है । **प्रियायाः**—‘श्रीब्रूः’ धातु से ‘इगुषधज्ञाश्रीकिरः कः’ से ‘क’ प्रत्यय करके स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् करके प्रिया यह रूप बना है । **बाह्यम्**—‘बहिस्’ इस अव्यय से ‘बहिष्ठिलोपो यञ्च’ इस सूत्र से ‘यञ्’ प्रत्यय एवं टि रूप ‘इस’ का लोप

करके 'तद्वितेष्वचामादेः' इस सूत्र से वित्तवात् वृद्धि करके 'बाह्यम्' यह रूप बनता है। गन्तव्या—'गम्' धातु से तव्यत् प्रत्यय होकर स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् करके 'गन्तव्या' यह रूप निर्णपन्न होता है। 'तव्यत्' प्रत्यय कृत्य प्रत्यय है अतः 'गन्तव्या' के योग में 'कृत्यानां कर्तृरि वा' इस सूत्र से कर्ता में विकल्प से वष्टि हुई है ॥ ७ ॥

त्वामारुदं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्ठन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः ॥
कः सन्नद्दे विरहविधुरां त्वयपुपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥ ८ ॥

अन्वयः—पवनपदवीम् आरुदम् त्वाम् पथिकवनिताः प्रत्ययात् आश्व-
सन्त्यः उदगृहीतालकान्ताः प्रेक्षिष्ठन्ते । त्वयि संनद्दे अहम् इव यो जनः परा-
धीनवृत्तिः न स्यात् कः अन्यः अपि विरहविधुराम् जायम् उपेक्षेत ।

व्याख्या—पवनपदवीम्=पवनाध्वानम् गगनमितियावत् । आरुदम्=गतम्,
त्वाम्=मेघम्, पथिकवनिताः=पान्थप्रिया: प्रोषितभृत्का इत्यर्थः, प्रत्ययात्=विश्वासात् वल्लभागमनस्येति बोध्यः, आश्वसन्त्यः=प्रासविश्वासाः, उदगृहीता-
लकान्ताः=उदधृतकेशप्रान्ताः (सत्यः), इतस्ततः द्रष्टुम् उन्नमय केशाग्रभागं
घृत्वेत्यर्थः । प्रेक्षिष्ठन्ते=विलोकयिष्यन्ति । त्वयि=जलदे, संनद्दे=वृष्टये
समुद्दते, अहमिव=मत्समानः, यः जनः=यो नरः, पराधीनवृत्तिः=पराधि-
कृतजीवनः, न स्यात्=नभवेत्, (तादृशः) कः=प्रियाविलासानभिज्ञः, अन्यो-
ऽपि=अपरोऽपि (जनः), विरहविधुराम्=विप्रलम्भव्यग्राम्, जायाम्=प्रियाम्;
उपेक्षेत=उपेक्षां कुर्यात्, मेघाच्छन्ने न कोऽपि स्वतन्त्रः प्रियाविलासज्ञः जनः
प्रियायाः उपेक्षां करोतीतिभावः ।

शब्दार्थः—पवनपदवीम्=आकाश में, आरुदम्=स्थित, त्वाम्=तुमको;
पथिकवनिताः=पथिकों की पत्नियाँ, प्रत्ययात्=विश्वास के कारण, आश्व-
सन्त्यः=आश्वस्त होकर, उदगृहीतालकान्ताः=केशों के अग्रभागको उठाकर

त्रेक्षिष्यन्ते=देखेंगी । त्वयि=तुम्हारे, अर्थात् मेघ के, संनद्धे=छा जाने पर; अहमिव=मेरे समान, यः जनः=जो पुरुष, पराधीनवृत्तिः=पराधीन जीवन वाला, न स्यात्=न हो (ऐसा) कः=कौन, अन्योऽपि=दूसरा व्यक्ति (होगा) जो, विरह-विधुराम्=विरह से व्याकुल, जायाम्=प्रिया को, उपेक्षेत=उपेक्षा करेगा । अर्थात् कोई भी नहीं करेगा ।

भावार्थः—आकाशे विद्यमानं त्वां प्रोषितभर्तृकाः नायैः विश्वासात् आश्व-सन्त्यः सत्यः केशाग्रभागमुन्नमय्य अवलोकयिष्यन्ति । वर्णणाय समुद्यते त्वयि-आगते को जन ईदृशं स्यात् यः खलु मत्सदृशः पराधीनजीवनः न स्यात् विरह-व्याकुलायाः प्रियायाः उपेक्षां कुर्यात् । न कोऽपि कुर्यादिति भावः ।

हिन्दी—हे मेघ ! जब तुम आकाश में छा जाओगे—उस समय तुमको पथिकों की प्रियाएँ अपने प्रिय के आगमन के विश्वास से आश्वस्त होकर अपने केशों के अग्रभाग को ऊपर उठाकर देखेंगी । तुम्हारे आ जाने पर मेरे समान जो पराधीन न हो ऐसा कौन पुरुष होगा जो अपनी विरह से व्याकुल प्रिया की उपेक्षा करेगा ।

समासः—पवनस्य पदवी=पवनपदवी ताम् (ष० तत०) । उद्गृहीताः अलकानामन्ताः याभिस्ताः=उद्गृहीतालकान्ताः (बहुत्रीहिः) । पथिकानां वनिताः पथिकवनिताः (ष० तत०) । विरहेण विधुरा=विरह-विधुरा (तृ० तत०) विगताः धूः यस्याः सा विधुरा (बहुत्रीहिः) । परस्मिन्नधीना वृत्तिर्यस्य स पराधीनवृत्तिः (बहुत्रीहिः) ।

कोशः—पन्थानः पदवी सृतिः इत्यमरः । प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वास-हेतुषु इत्यमरः । अलकाशचूर्णकुन्तलाः इत्यमरः । परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि इत्यमरः । विधुरं तु प्रविश्लेषे इत्यमरः । वृत्तिर्वर्तनं जीवने इत्यमरः ।

टिप्पणी-आरूढ़=आ+रुह+क्त 'आङ्' उपसर्गपूर्वक रुह धातु से क्त प्रत्यय होकर आरूढ़ यह पद बना है ।

पथिकः—‘पथिन्’ शब्द से ‘पथःङ्कन्’ इस सूत्र से ‘ङ्कन्’ प्रत्यय का विद्यान करके ‘षः प्रत्ययस्य’ इस सूत्र से प्रत्यय के ‘षः’ कार का लोप आविद

करके 'पथिक' शब्द की निष्पत्ति होती है। आश्वसन्त्यः—यहाँ पर महोपाध्याय श्रीमल्लिनाथ के मतानुसार 'आश्वसत्यः' ऐसा ही पाठ होना चाहिए, क्योंकि 'श्वस्' धातु का पाठ अद्यादि गण में होने के कारण 'श्वप्' का 'अदः प्रभृतिभ्यः शपः' इस सूत्र से लोप हो जाने के कारण 'शपश्यनोर्नित्यम्' इस सूत्र के द्वारा जो 'नुम्' होता है वह नहीं होगा। अतः आश्वसत्यः ऐसा होना चाहिए। परन्तु महावैयाकरण भारवि का 'आश्वसेयुर्निशाचराः' एवं महाभारत का 'न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नाऽति विश्वसेत्' इत्यादि प्रयोगों के आधार पर—'इवादिस्तु आकृतिगणः तेन चुलुम्पतीत्यादिसंग्रहः' सिद्धान्तकौमुदी की इस पंक्ति के आधार पर 'श्वस्' धातु को इवादिगणी मानकर 'श्वप्' का लोप नहीं होने के कारण 'नुम्' हो जाने से 'आश्वसन्त्यः' यह पाठ भी समीचीन हो जाता है। पराधीनवृत्तिः—वर्तनं वृत्तिः। वर्तनार्थक वृत धातु में भाव में क्तिन् प्रत्यय होने से 'वृत्ति' यह शब्द बना है। परस्मिन्नधीना वृत्तिः—पराधीनवृत्तिः। विरहविधुरा—विगता धूः=भारः (पुष्टिः) यस्याः सा विधुरा। यहाँ वि उपसर्गपूर्वक 'धूर्' शब्द से उपपद समाप्त करके 'ऋक्षपूरवधू-पथामानक्षे' इस सूत्र से समाप्त अ प्रत्यय होकर एवं स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् होकर 'विधुरा' यह शब्द बना है। जाया—जायते अस्यां (पुत्ररूपेण) इति जाया ताम्। 'पुत्ररूपेण' इसमें मनुस्मृति का निम्नलिखित उक्ति प्रमाण है—

'पतिभर्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्वि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥

अर्थात्—पति, पत्नी में गर्भं रूप से प्रवेश होकर उत्पन्न (जात) होता है इसलिए पत्नी, 'जाया' कहलाती है। 'जनि प्रादुर्भवे' धातु से औणादिक 'जनेर्यंक्' इस सूत्र से यक् प्रत्यय करके टाप् करके जाया यह शब्द बना है।

अलङ्कार—यहाँ पर भी पूर्वं श्लोकों की तरह सामान्य से विशेष का समर्थन होने के कारण 'अर्थान्तरन्यास' नामक अलंकार है ॥ ८ ॥

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
 वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः ।
 गभीरानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्ध—मालाः
 सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः ॥ ९ ॥

अन्वयः—अनुकूलः पवनो मन्दं यथा त्वां मन्दं नुदति । अयं सगन्धः ते वामः चातको मधुरं नदति । गभीरानक्षणपरिचयात् आबद्धमालाः बलाकाः खे नयनसुभगं भवन्तं नूनं सेविष्यन्ते ।

व्याख्या—त्वत्यात्रा-काले शकुनान्यपि शुभानि वर्तन्त इति कथयति मन्दं मन्दमित्यादिना । अनुकूलः=अनुगुणः, पवनः=वायुः मन्दं यथा=स्थिरमिव, त्वाम्=भवन्तं, मन्दं=शनैः शनैः यथा स्यात्तथा, नुदति=चोदयति । अयं=पाश्वस्थः, सगन्धः=सगर्वः, ते=भवत; वामः=अपसव्यभागे (सुन्दरो वा) चातकः=पक्षिविशेषः, मधुरं=मनोरमं यथा स्यात्तथा नदति=वक्ति । गभीरानक्षणपरिचयात्=रतिसमय-जातसंस्तवात्, आबद्धमालाः=रचितपङ्क्तयः, बलाकाः=बक्षिप्रियाः, खे=गगने, नयनसुभगम्=दर्शनप्रियम्, भवन्तम्=भेषम्, नूनम्=अवश्यं, सेविष्यन्ते=समुपचारप्रियष्यन्ति । यात्राकाले पवनानुकूल्यं चातकव्यनिः बलाकादर्शनं शुभं-सूचकमिति वदन्ति दैवज्ञाः ।

शब्दार्थः—अनुकूलः=अनुरूप, पवनः=हवा, मन्दं=मन्दगति वाला, त्वाम्=तुमको, मन्दम्=धीरे धीरे, नुदति=प्रेरित करता है । अयं=यह, सगर्वः=गर्वयुक्त, ते=तुम्हारे, वामः=वायें भाग मे अथवा सुन्दर, चातकः=पपीहा, मधुरं=श्रवणप्रिय, नदति=शब्द कर रहा है । गभीरानक्षणपरिचयात्=गभीरान के समय परिचय होने के कारण, आबद्धमालाः=पंक्तिबद्ध, बलाकाः=बगुलियाँ, खे=आकाश में, नयनसुभगम्=देखने में सुन्दर, भवन्तम्=तुम्हारा, नूनम्=अवश्य, सेविष्यन्ते=आश्रयण करेंगी ।

भावार्थः—हे पयोद ! तव यात्रा-समये इमानि शुभसूचकानि शकुनान्यपि दृश्यन्ते । यथा—त्वदनुरूप एवं मन्दगतिर्वायुः शनैः शनैस्त्वां प्रेरयति एव च त्वद-

वामभागे सुन्दरश्चातकः कर्णप्रियं शब्दङ्करोति । अन्यदपि वर्तते शकुनम् । यथा-संभोगसमये भवता सह परिचयजननात् बद्धपङ्क्तयः बकाङ्गनाः नयनसुभगं भवन्तमवश्यमेव सेविष्यन्ते ।

हिन्दी—हे मेघ ! तुम्हारी यात्रा के समय ये शुभशकुन भी दिखाई दे रहे हैं—जैसे तुम्हारे अनुकूल ही पवन मंद गति वाले तुम्हें धीरे-धीरे प्रेरित कर रहा है एवं तुम्हारे बायीं और पपीहा कर्णप्रिय शब्द बोल रहा है और भी शकुन हैं जैसे संभोग के समय तुमसे परिचय होने के कारण ये पंक्तिबद्ध बगुलियाँ आँखों को अच्छे लगने वाले तेरा जरूर आश्रय लेंगीं ।

समाप्तः—गन्धेन सहितः = सगन्धः (त० बहुत्री०) । गर्भस्य आधानं गर्भधानम् (ष० तद०) तदेव क्षणः = गर्भधानक्षणः (रूपक) तस्मिन् परिचयः = गर्भधानक्षण-परिचयः (स० तद०) तस्मात् । आवद्वा माला याभिस्ताः आवद्मालाः (बहुत्रीहिः) ।

कोशः—यथा सादृश्य-योग्यत्वं वीप्सा स्वार्थानितिक्रमे इति यादवः । गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगव्ययोः इति विश्वः । वामस्तु वक्रे रम्ये स्यात् सब्ये वामगतेऽपि च इति शब्दार्थंवः । सारङ्गाः स्तोकश्चातकः समाः इत्यमरः । गर्भोपकारके ह्यग्नी मुखे पतनस-कष्टके । कुक्षी कुक्षिस्थजन्तो च इति यादवः । क्षण उद्धर्णो मह उद्धव उत्सवः इत्यमरः । संस्तवः स्यात्परिचयः इत्यमरः । बलाका विसकण्ठिका इत्यमरः । लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणीं दृग्दृष्टी इत्यमरः ।

टिप्पणी—मन्दं मन्दमिति—इस पद को कई लोग ‘नुदन’ का विशेषण मानकर उसकी व्याख्या करते हैं । परंतु गुणवाचक पदों की वीप्सा न होने के कारण एवं ‘मन्दं’ इस शब्द के गुणवाचक होने के कारण ‘वीप्सा’ में द्वित्व नहीं होगा । यदि इस वर्थं में ‘प्रकारे गुणवचनस्य’ इस सूत्र से द्वित्व ‘विश्वान करें तब भी ‘कर्म धारयवदुत्तरेषु’ इस सूत्र से सुविभक्ति का लोप हो जाने पर ‘मन्दमन्दम्’ ऐसा अनीप्सित रूप बनने लगेगा । इसकी अपेक्षा अदि हम प्रथम मन्दं को मेघ का विशेषण मानकर दूसरे मन्दं को ‘नुदन’

क्रिया का विशेषण मानें और 'मन्दं त्वां यथा स्यात्तथा मन्दं नुदति' ऐसा अन्वय माने तो महाकवि की प्रामाणिकता के साथ ही अर्थ भी सुसंगत हो जायगा। वैसे तो 'निरङ्गकुशाः हि कवयो भवन्ति' इसका आश्रय लेकर :मन्दंमन्दं इसको क्रियाविशेषण भी माना जा सकता है। नुदति-प्रेरणार्थक 'नुद' धातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष एक वचन का यह रूप है। सगन्धः—गन्धेन सहितः इस विग्रह में 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इस सूत्र से (बहुब्रीहि) समाप्त होकर 'वोपसर्जनस्य' इस सूत्र से 'सह' के स्थान पर 'स' यह आदेश विकल्प से होकर 'सगन्धः' ऐसा रूप बना है। जहाँ सह को स आदेश नहीं होगा वहाँ 'सहगन्धः' ऐसा रूप भी बनता है। श्लोकक्रम—कुछ टीकाकार 'तां चावश्यम्' इस श्लोक को नवम स्थान पर, जिसे मलिलानाथ जी ने दशम स्थान पर रखा है रखते हैं और 'मन्दंमन्दं' को दशम स्थान पर। परन्तु यह क्रम उचित नहीं जांचता। इस काव्य का मुख्य अभिधेय 'सन्देश' पहुँचाना है। इसका कथन कवि ने -सन्तसानाम् इस सातवें श्लोक में कर दिया। तदनन्तर आनुषंगिक पथिक वनिताओं को आश्वासन का कथन 'अष्टम' में किया। तदनन्तर शुभशकुन का प्रदर्शन 'मन्दं मन्दं' इस श्लोक में यात्रानुरूप उचित ही है। तदनन्तर वह अवश्य जीवित है। अतः तुम्हारा जाना निरर्थक नहीं होगा इसकी पुष्टि 'तां चावश्यं' इस दशम श्लोक में उचित है ॥ ९ ॥

तां चावश्यं दिवसगणनात्तपरामेकपत्नी-

अव्यापन्नामविहतगतिद्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम् ।

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यज्ञनानां

सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥१०॥

अन्वयः—(हे मेघ) दिवसगणनात्तपराम् अव्यापन्नाम् एकपत्नीम् प्रातृजायाम् ताम् अविहतगतिः (त्वम्) अवश्यं द्रक्ष्यसि आशाबन्धः प्रणयि कुसुमसदृशम् विप्रयोगे सद्यःपाति अंगनानां हृदयं प्रायशो रुणद्धि ।

ध्यात्वा—हे मेघ ! मत्रिया 'मृता अथवा ब्रतघष्टा' इति विनिश्चित्य त्वं स्वयात्रायाः वैयर्थ्यं नाऽशक्त्य । यतोहि-दिवसगणनात्तपराम् =

याप्यवासरसंख्यानाऽसक्ताम्: अव्याप्ताम्=जीविताम् (अनेन स न मृता इति द्रष्टव्यति यक्षः) एव च एकपत्नीम्=पतिव्रताम्, (इत्यनेन तस्या ब्रतास्खलनत्वच्च प्रतिपादयति) शापान्ते स आगमिष्यतीति पातिव्रत्यपूर्वकं साऽवश्यं प्राणान् धारयति इति भावः । भ्रातृजायाम्=बन्धुप्रियाम्, ताम्=मत्प्रियाम्, अविहतगतिः=अव्याहतगमनः (सन् त्वम्) अवश्यम्=नूनम्, द्रक्ष्यसि=अवलोकयिष्यसि । आशाबन्धः=तुष्णाबन्धनम्, प्रणयि=प्रेमपूर्णम्, कुमुमसदृशम्=पुष्पवन्मृदुभवतीति भावः । अत एव विप्रयोगे=विरहे प्रेमिणः इति शेषः । सद्यःपाति=तत्क्षणविनाशशीलम्, अङ्गनानाम्=वधूनाम्, हृदयम्=जीवनम्, प्रायशः=प्रायेण, रुणद्धि=नह्यति ।

शब्दार्थः—दिवसगणनातत्पराम्=अवधि के दिनों को गिनने में संलग्न, अव्याप्तन्नाम्=जीवित (प्रिय आयेंगे इस आशा में), एकपत्नीम्=पतिव्रता, भ्रातृजायाम्=अपनी भाभी, ताम्=उस मेरी पत्नी को, अविहतगतिः=वेरोकटोक जाने वाले तुम, अवश्यं=निश्चित, द्रक्ष्यसि=देखोगे । आशाबन्धः=आशा का बन्धनः, प्रणयि=प्रेमयुक्त, कुमुमसदृशम्=फूल की तरह कोमल, विप्रयोगे=विरह में, सद्यःपाति=तुरंत टूट जाने वाले, अङ्गनानाम्=स्त्रियों के, हृदयम्=हृदय को, प्रायशः=प्रायः, रुणद्धि=यामे रहता है ।

भावार्थः—हे मेघ विरहावशिष्टदिवसगणनासंलग्नाम्, प्रियागमनाशया-प्राणान्धारयन्तीमपासुलां मत्प्रियामविरुद्धगतिस्त्वमवश्यं विलोकयिष्यसि । आशारूपं बंधनं प्रेमपूर्णं कुमुमतुल्यमृदुं प्रेमास्पदविरहे सद्योविनाशशालि बधूनां जीवितं प्रायशः रुणद्धि ।

हिन्दी—हे मेघ ! विरह के बचे दिनों को गिनने में लगी, मेरे आने की आशा से जीवित, पतिव्रता अपनी भाभी को (मेरी पत्नी को), अविहतगति वाले तुम अवश्य देखोगे, क्योंकि आशारूपी बंधन प्रेमपूर्ण फूल की तरह कोमल तथा प्रिय के विरह में तुरंत टूट जाने वाले अबलाओं के हृदय को प्रायः रोके रहता है ।

समाप्तः—दिवसानां गणना=दिवसगणना (१० तद०) तस्यां तत्परा=दिवसगणनातत्परा (१० तद०) ताम् । भ्रातुः जायाम् भ्रातृजायाम् (१०

तत्०) । आशा एव बन्धः—आशाबन्धः (कर्मधारय) । कुमुमैः सदृशं=कुमुम-
सदृशम् (तृ० तत्०) ।

कोशः—तत्परे प्रसितासक्ती इत्यमरः, आशादिगति तृष्णयोः इति
यादवः । आशाबन्धः समाश्वासे तथा मक्केटवासके इति मेदिनी । विप्रलम्भो
विप्रयोगः इत्यमरः । हृदयं जीविते चित्ते वृक्षस्याकृतहृदयोः इति शब्दार्णवः ।

टिष्पणी—गणना—संख्यानार्थक “गण” धातु से णिच् प्रत्यय करके
पञ्चात् “युच्” प्रत्यय करके अनादेश करके स्त्रीत्वविवक्षा में “टाप्” करके
“गणना” ऐसा रूप बनता है । (गण् + इ + अन् (युच्) + टाप्) । अव्याप-
नना—वि एवं आड् उपसर्गंपूर्वक गत्यर्थक पद धातु से “क्त्” प्रत्यय करके
टाप् करके व्यापना बनाते हैं । न व्यापना=अव्यापना ताम् (नव०) एक-
पत्नीम्—एकः पतिर्यस्याः सा=एकपत्नी (बहुत्रीहि) ताम् । यहाँ “नित्यं
सपत्न्यादिषु” इस सूत्र से “न” और “डीप्” प्रत्यय हुआ है । अविहत-
गतिः—न विहता=अविहता गतिः यस्य सः अविहतगतिः (बहुत्रीहि) ।
“गम्” धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर “गतिः” ऐसा साधु होता है । विप्रयोगे-
वि और प्र उपसर्गंपूर्वक युज् (युजिर) धातु से भाव में “धव्” प्रत्यय करके
विप्रयोग ऐसा रूप बनता है । सद्यःपाति—सद्यः पतितुं शीलमस्य इस विग्रह
में सद्यस् इस उपपदपूर्वकं “पद” धातु से “णिति” प्रत्यय करके ‘उपपदभत्तिङ्’
से समाप्त करके द्वद्यादि करके सद्यःपाति ऐसा रूप बनता है । अंगना-प्रश-
स्तानि अङ्गानि यासाम्, इस विग्रह में “अङ्ग” शब्द से “अङ्गात् कल्याणे”
इस वार्तिक के अनुसार “लोमाऽदिपामाऽदिपिच्छाऽदिष्यः शनेलचः” इस सूत्र
से “न” प्रत्यय हुआ है ॥ १० ॥

करुं यच्च प्रभवति महोमुछिलीन्ध्रामवन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्वरणसुभगं गजितं मानसोत्काः ।
आकेलासादिबस-किसलयच्छेद-पाथेय-वन्तः
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥ ११ ॥

अन्वयः—यत् महीम् उच्छिलीन्द्राम् अवन्ध्यां च करुं प्रभवति तत् श्रवणसुभगं ते गर्जितं श्रुत्वा मानसोत्काः विसकिसलयच्छेद—पाथेयवन्तः राजहंसाः नभसि आकैलासात् भवतः सहाया सम्पत्स्यन्ते ।

व्याख्या—मार्गे भवतां सहायका अपि भविष्यन्ति इति प्रतिपादयति यत्=गर्जितं, महीम्=पृथ्वीम्, उच्छिलीन्द्राम्=उदगतकन्दलीम्, अत एव अवन्ध्याम्=उर्वराम्, करुं=रचयितुम्, प्रभवति=शकनोति । तत्=तथा-भूतम्, (लोकानाम्) श्रवण—सुभगम्=कर्णपेयम्, ते=तव मेघस्येति भावः । गर्जितं=निधोषम्, श्रुत्वा=आकर्ष्य, मानसोत्काः=मानसरोवरं गन्तुमुत्मनाः, विसकिसलयच्छेद—पाथेयवन्तः=मृणालाग्रभाग—शकल-सम्बलवन्तः, राजहंसाः=श्रेष्ठहंसाः, नभसि=आकाशे, आकैलासात्=कैलासं यावत्, भवतः=मेघस्य, सहायाः=सहगामिनः, संपत्स्यन्ते=भविष्यन्ति ।

सरलार्थ—यत्=जो (गर्जन), महीम्=पृथ्वी को, उच्छिलीन्द्राम्=कन्दली युक्त, अवन्ध्याम्=फल युक्त, करुं=करने में, प्रभवति=समर्थ है, तत्=उस, श्रवणसुभगं=सुनने में प्रिय, ते=तुम्हारा, गर्जितं=गर्जन को, श्रुत्वा=सुनकर, मानसोत्काः=मान-सरोवर जाने को उत्कण्ठित, विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः=कमलनाल के अग्रभाग के टुकड़ों को रास्ते के लिए जलपान बनाने वाले, राजहंसाः=श्रेष्ठहंस, नभसि=आकाश में, आकैलासात्=कैलास पर्वत तक, भवतः=तुम्हारा, सहायाः=साथ जानेवाले, सम्पत्स्यन्ते=बनेंगे ।

भावार्थः—हे जलद ! लोकानां श्रोत्रानन्ददं यद्द्रवदीयगर्जनं महीं कन्द-लिकायुक्तां सफलां च सम्पादयति तदाकर्ष्यं मानसरोवरं गन्तुमुत्कण्ठिताः मृणालाग्रभागं मार्गभक्षयत्वेन गृहीताः राजहंसाः कैलासपर्वतपर्यन्तं भवतः सहगामिनो भविष्यन्ति ।

हिन्दी—हे मेघ ! तुम्हारा जो गर्जन कानों को सुख देने वाला है और पृथ्वी को शिलीन्द्रापुष्प से युक्त करने में तथा उर्वरा बनाने में समर्थ है तुम्हारे उस गर्जन को सुनकर मानसरोवर आने को उत्कण्ठित, रास्ते के भोजन के लिए मृणाल के आगे के भाग के टुकड़ों को लेकर चलने वाले राजहंस (श्रेष्ठ हंस) कैलास पर्वत तक तुम्हारा साथ देंगे ।

टिप्पणी—कर्तुंम्—‘कृव्’ धातु से “समानकर्तृकेषु तुमुन्” इस सूत्र से तुमुन् प्रत्यय होकर “कर्तुंम्” ऐसा रूप बना है। प्रभवति—प्र उपसर्गपूर्वक ‘भू’ धातु के लट् लकार का रूप है प्रभवति। यद्यपि “भू” धातु का सत्ता (स्थिति) अर्थ है फिर भी “उपसर्गेणैव धात्वर्थो, वलादन्यत्र नीयते” इस युक्ति के अनुसार “प्र” उपसर्ग लग जाने के कारण यहाँ उसी धातु का अर्थ समर्थ हो गया। वैसे तो वैयाकरणों के मत में सभी अपेक्षित अर्थ धातु में ही रहते हैं, “अनेकार्थाः हि धात्रवः” इस वचन के अनुसार उपसर्ग तो द्योतक-मात्र है बोधक नहीं। **गर्जितम्—“गर्ज” धातु के भाव में “नपुंसके भावेत्कः” इस सूत्र से “क्तः” प्रत्यय और इडादि करके “गर्जितम्” ऐसा रूप बना है। **मानसरोवरः—मानसम्** (ब्रह्मणा) मनसा निर्मितं “मानसम्”। ब्रह्माजी ने इस तालाब की रचना मन से की थी अतः इसको “मानस” या मानसरोवर कहते हैं। कविप्रसिद्धि है कि वर्षा ऋतु में ही हँसगण मानसरोवर जाते हैं; क्योंकि अन्य ऋतुओं में उसमें बर्फ जम जाती है जो हँसों के लिए हानिकारक होती है। **पाथेयम्—“पथिन्”** शब्द से पथ्यतिथिवसति स्वपते-दंब्” इस सूत्र से “दंब्” प्रत्यय का विधान करते हैं पश्चात् उसके स्थान पर “आयनेयीनीयिः फढखछधां प्रत्ययादीनाम्” इस सूत्र से “एय्” आदेश होकर वित्त्वात् दृढ़ि होकर “पाथेयम्” ऐसा रूप बना है ॥ ११ ॥**

**आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्ग्लितं मेखलासु ।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेह-व्यक्तिशिचर-विरहजं मुञ्चतो बाष्पमुण्डस् ॥ १२ ॥**

अन्वयः—पुंसां वन्द्यैः रघुपतिपदैः मेखलासु अङ्ग्लितम् तुङ्गम् प्रिय-सखम् अमुम् शैलम् आलिङ्ग्य आपृच्छस्व । काले काले भवतः संयोगम् एत्य चिरविरहजम् उष्णम् बाष्पम् मुञ्चतः यस्य स्नेहव्यक्तिः भवति ।

व्याख्या—पुंसाम्=मानवानाम्, वन्द्यैः=पूज्यैः, रघुपतिपदैः=रामचन्द्र-चरणैः, मेखलासु=कटिप्रदेशोषु, अङ्ग्लितम्=चिह्नितम्, तुङ्गम्=अत्युच्चम्,

प्रियसखम् = मित्रवर्यम्, अमुम् = सम्मुखस्थम् रामगिरिम्, शैलम् = पर्वतम्, आलिङ्गय = आशिलध्य, आपृच्छस्व = सभाजयस्व, हे मित्र ! अहं गच्छामीति संसूचयेतिभावः । काले काले = समये समये, भवतः = मेघस्य, संयोगम् = सान्निध्यम्; एत्य = प्राप्य, चिरविरहजम् = दीर्घकालिक-विरहजन्यम्, उष्णम् = तप्तम्, बाष्पम् = अश्रु, मुच्चतः = त्यक्तः, यस्य = रामगिरेः, स्नेहव्यक्तिः = प्रेमप्राकट्यं, भवति = वरीवततं इति अनुमीये ।

शब्दार्थः—पुंसाम् = मानवों के, वर्त्यैः = पूज्य, रघुपतिपदैः = रामचन्द्रजी के चरणों से, मेखलासु = मध्यभाग में, अङ्कितम् = चिह्नित, तुङ्गम् = अत्यन्त ऊँचे, प्रियसखम् = अपने प्रिय मित्र, अमुम् = इस रामगिरि, शैलम् = पर्वत का, आलिङ्गय = आलिंगन कर, उससे, आपृच्छस्व = अनुमति ले लो । काले काले = समय समय पर, भवतः = तुम्हारे, संयोगम् = मिलने को, एत्य = प्राप्तकर, चिरविरहजम् = बहुत दिनों के वियोग से उत्पन्न, उष्णम् = गर्म, बाष्पम् = असू, त्यजतः = छोड़ते हुए; यस्य = जिसकी स्नेहव्यक्तिः = प्रेमाभिव्यक्तिः; भवति = होती है ।

भावार्थः—हे मेघ ! मानवाराध्यैः रामचन्द्रचरणविन्यासैः मेखलासु चिह्नितमेनं प्रियमित्रमत्युत्तरं रामगिरिमाशिलध्य ततः अनुमित्ति गृहाणा । तब संयोगं प्राप्य समये समये यस्य गिरेः चिरवियोगत्पन्नाश्रुभिः स्नेहाभिव्यक्तिः भवति ।

हिन्दौ—हे मेघ ! मानवमात्र के पूज्य श्रीरामचन्द्रजी के चरणों से चिह्नित मध्यप्रदेश वाले इस अपने मित्र रामगिरि से मिलकर उससे (अलका जाने की) अनुमति ले लो । तुम्हारा संयोग पाकर, समय-समय पर, बहुत दिनों के वियोग के कारण उत्पन्न उष्ण अश्रुओं के द्वारा जिसकी स्नेहव्यक्ति हुआ करती है ।

समाप्तः—रघुणां पतिः = रघुपतिः (ष० तद०) तस्य पदानि = रघुपति-पदम् (ष० तद०) तैः । प्रियश्वासी सखा = प्रियसखः, तम् (कर्मधारय) । विरविरहात् जातः = चिरविरहजः तम् (पञ्चमी तद०) । स्नेहस्य व्यक्तिः स्नेहव्यक्तिः (ष० तद०) ।

कोशः—मेखला श्रोणि—स्थानेऽदि कटके कटि-बन्धने, इति यादवः । आमन्त्रणसभाजने आप्रच्छनम्, इत्यमरः । उष्ण उष्मागमस्तपः, इत्यमरः । बाष्पं नेत्रजलोदमणः विश्वः ।

टिष्पणी—प्रियसखम्=प्रियश्चासौ सखा इस प्रकार कर्मधारय समाप्त होने के पश्चात् 'राजाहःसखिष्यष्टच्'-इस सूत्र से समाप्तान्त टच् प्रत्यय करके "प्रिय सख" शब्द बना है उसी के द्वितीया विभक्ति का यह रूप है । वन्द्यैः पुंसाम्—यहाँ कृत्य प्रत्ययान्त "वन्द्य" के योग में पुंस शब्द से वैकल्पिक एषु "कृत्यान्ति कर्तंरि वा" से हुई है । पक्ष में तृतीया भी होती है । आपृच्छस्व—“आङ्” उपसर्गपूर्वक “प्रच्छ” धातु के लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन का यह रूप है । यद्यपि यह धातु परस्मैयन्ती है फिर भी आङ् उपसर्ग हो जाने के कारण “आङि नुप्रच्छयोः” इस सूत्र से आत्मनेपद होकर यह रूप बना है । **काले काले**—यहाँ वीप्सा में “नित्यवीप्यसोः” इस सूत्र से द्विरूपि हुई । स्नेह—स्निह् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय हुआ है । **व्यक्तिः**—‘वि’ उपसर्गपूर्वक ‘अञ्ज’ धातु से किन् प्रत्यय करके ‘व्यक्तिः’ यह रूप बना है । **चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्**—वहुत दिनों के बाद मिलन होने पर मित्रों के अँखों से अँसुं गिरना स्वाभाविक है । वर्षा ऋतु में पर्वत से ‘भाप’ उत्पन्न होता है । कवि ने इसी को उपरोक्त भाव से ‘उत्प्रेक्षित’ किया है ॥ १२ ॥

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्—प्रयाणानुरूपं

सन्देशां मे तदनुजलद ! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ।

खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र

क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे जलद ! तावत् कथयतः त्वत् प्रयाणानुरूपं मार्गं श्रृणु, तदनु श्रोत्रपेयं मे सन्देशां श्रोष्यसि । यत्र खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य क्षीणः क्षीणः (सन्) स्रोतसां परिलघु पयश्च उपभुज्य गन्तासि ॥ १३ ॥

व्याख्या—हे जलद ! हे मेघ ! तावत्=प्रथमम्, कथयतः=वदतः, यक्षादिति शेषः, त्वत् प्रयाणानुरूपम्=भवदीययात्रानुकूलम्, मार्गम्=अठवानम्,

शृणु=आकर्णय, तदनु=पश्चात्, श्रोत्रपेयम्=कर्णप्रियम्, मे=यक्षस्य, सन्देशम्=वार्ताम्, श्रोष्यसि=श्रवणद्वारिष्यसि । यत्र=मार्गे, खिन्नः=वारंवारं क्षीणः शक्तिर्भूय, शिखरिषु=गिरिषु, पदं=पादम्, न्यस्य=स्थाप्य, शक्तिसंचयार्थं पर्वतेषु विश्रम्येत्यर्थः, क्षीणः क्षीणः=भूयानल्पशरीरः सन् स्रोतसां=पर्वतनदी-प्रवाहाणाम्, परिलघु=गौरवदोषहीनम्, पयश्च=जलच्च, उपभुज्य=पीत्वा, गन्तासि=यास्यसि ।

शब्दार्थ—हे जलद ! =हे मेघ ! तावत् कथयतः=कहते हुए (मुझसे), त्वत्प्रयाणानुरूपम्=अपनी यात्रानुकूल, मार्गम्=रास्ते को शृणु=सुन लो; तदनु=तत्पश्चात्, श्रोत्रपेयम्=कानों को अच्छा लगने वाला, मे=मेरा, सन्देशम्=सन्देश, श्रोष्यसि=सुनना । यत्र=जहाँ रास्ते में, खिन्नः=खिन्नः=थक-थककर, शिखरिषु=पर्वतों पर, पदं=पैर, न्यस्य=रखकर, (शक्ति प्राप्त करने के लिए थोड़ा रुककर) क्षीणः क्षीणः=वार, वार दुवला होकर, स्रोतसाम्=पर्वतीय नदियों के, परिलघु=हल्के, पयश्च=जल को, उपभुज्य=पीकर, गन्तासि=जाने वाले हो ।

भावार्थः—हे मेघ ! प्रथमं मत्तः, निज-यात्रानुकूलं मार्गं शृणु तदनन्तरं कर्णप्रियं मत्सन्देशं श्रोष्यसि । यत्र मार्गे त्वं वारंवारं यात्राऽप्यासेन परिश्रान्तः सन् पर्वतेषु विश्रम्य तनुकायः (सन्) पर्वतीयनदीप्रवाहाणां जलमुपभुज्य यास्यसि ।

हिन्दी—हे मेघ ! पहले (तुम) मुझ से अपनी यात्रा के अनुकूल रास्ते का श्रवण कर लो, पश्चात् कर्णमधुर मेरे सन्देश को सुनना । जिस मार्ग में थक-थक कर पर्वतों पर कुछ विश्राम करके, अत्यन्त दुर्बल होकर पर्वतीय नदी के प्रवाहों का जल पीकर जाने वाले हो ।

समाप्तः—जलं ददाति इति जलदः तत् सम्बुद्धो हे जलद ! तव प्रयाण-स्त्वत्प्रयाणः (१० तत्०) त्वत्प्रयाणस्यानुरूपम् त्वत्प्रयाणानुरूपम् (१० तत्०) । श्रोत्राभ्यां पेयम्-श्रोत्रपेयम् (त० तत्०) ।

कोशः—अयनं वर्तमं मार्गाद्विः पन्थानः पदवी सृतिः, इत्यमरः । सन्देश-वाग्वाचिकं स्यात्, इत्यमरः । पयः क्षीरं पयोऽम्बु च, इत्यमरः ।

टिथ्यणी—जलद !—जल उपपदपूर्वक दानार्थक दो धातु से 'आतो-जनुपसर्गं कः' इस सूत्र से क प्रत्यय होकर 'उपपदमतिङ्' इस सूत्र से समास होकर जलद यह रूप बनता है। **कथयतः**—यहाँ पिजन्त 'कथि' धातु से 'लटः शतृशानचावाऽप्रथमा समानाधिकरणे' से शत्रृ प्रत्यय होकर कथयत् शब्द से 'आस्थातोपयोगे' इस सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हुई है। **प्रयाणम्**—'प्र' उपसर्ग पूर्वक प्रयाणार्थक 'या' धातु से करण में 'ल्युट्' प्रत्यय करके 'प्रयाण' यह शब्द निष्पन्न होता है। **तदनु**—यहाँ 'अनु' को 'अनुरूपणे' इस सूत्र से कर्म प्रवचनीय संज्ञा होकर 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' 'द्वितीया' इस से द्वितीया विभक्ति हुई है। **श्रोत्रपेयम्**—श्रूयते आभ्यामिति श्रोत्रम्। श्रु धातु से औणादिक छन्तु प्रत्यय होकर 'श्रोत्र' शब्द बनता है। पातुं योग्यं पेयम्=पानार्थक पा धातु से 'अचो यत्' इस सूत्र से यत् प्रत्यय होकर 'ईद्याति' इस सूत्र से धातु के 'आकार' को ईत्व कर के 'पेयम्' यह रूप बनता है। **सन्देशम्**—'सम' उपसर्गपूर्वक दिश धातु से अब् प्रत्यय का विधान कर 'सन्देश' यह शब्द निष्पन्न होता है। **खिन्नः**: **खिन्नः**—क्षीणः क्षीणः यहाँ नित्यार्थ में 'नित्यबीसयोः' इस सूत्र से द्वित्व हुआ है। **क्षीणः**—क्षयार्थक 'क्षि' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'क्षियो दीर्घाति' इस सूत्र से दीर्घ होकर नत्व, णत्वादि होकर क्षीण शब्द बना है। **परिलघु**—परितः लघुः परिलघु। यहाँ 'कुगतिप्रादयः' इस सूत्र से समास हुआ है। **उपभुज्य**—'उप' उपसर्ग पूर्वक भुज् धातु से क्त्वा प्रत्यय करके उसके स्थान में 'ल्यप्' आदेश करके उपभुज्य यह रूप बना है। **अलङ्कार**—यहाँ 'समासोक्ति' नामक अलंकार है॥ १३॥

अद्रेः शृङ्गः हरति पवनः किंस्वदित्युन्मुखीभि-
दृष्टोत्साहृश्चकितचकितं मुरधसिद्वाङ्नाभिः ।
स्थानादस्मात् सरस-निचुलादुत्पतोदड्मुखः खं
दिड्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥१४॥

अन्वयः— अद्रेः शृङ्गं पवनः हरति किस्तिवत् इति उन्मुखीभिः मुग्ध-सिद्धाङ्गनाभिः चकितचकितं दृष्टोत्साहः सरसनिचुलात् अस्मात् स्थानात् पथि दिङ्नागानां स्थूलहस्तावलेपान् परिहरन् उदड्मुखः खम् उत्पत्ते ।

ब्याल्या— अद्रेः=पर्वतस्य, शृङ्गम्=सानुम्, पवनः=वायुः, हरति किस्तिवत् ? =कर्षति किम्, इति=एतादृश्याशंकयेति यावत्, उन्मुखीभिः=उन्नतास्याभिः, मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः=मूढगिद्धवधूभिः, चकितचकितम्=आश्र्यं-सहितं यथा स्यात्तथा, दृष्टोत्साहः=प्रदर्शितोद्योगः, (सन्), सरसनिचुलात्=आद्रेंभूमिवेतसात्, अस्मात्=पुरोदृश्यमानात्, स्थानात्=आश्रमात्, पथि=अधवनि, आकाशे इति भावः । दिङ्नागानां=दिग्गजानाम्, स्थूलहस्तावलेपान्=विशालशुण्डप्रहारान्, परिहरन्=परित्यजन्, उदड्मुखः=उत्तराभिवदनः; (सन्) । खम्=आकाशम्, उत्पत्ते=उड्गच्छ ।

शब्दार्थः— अद्रेः=पहाड़ की, शृंगम्=चोटी को, पवनः=वायु, हरति=ले जा रहा है, किस्तिवत्=क्या ? (इन शंका से) उन्मुखीभिः=ऊपर को मुँह किये हुए, मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः=तीधी-सादी सिद्धों की बधुओं के द्वारा, चकितचकितम्=अत्यन्त आश्र्यं से, दृष्टोत्साहः=देखे गये उत्साह वाला, सरसनिचुलात्=गीले स्थल की वेतों से युक्त, पथि=रास्ते में, दिङ्नागानाम्=दिग्जों के, स्थूलहस्तावलेपान्=लम्बी-लम्बी सूड़ों के प्रहारों को, परिहरन्=छोड़ता हुआ (उनसे बचता हुआ) उदड्मुखः=उत्तर दिशा की ओर मुँह करके, खम्=आकाश में, उत्पत्ते=उड़ जाना ।

भावार्थः— हे मेघ ! अत्यधिकवेगेन गच्छतः भ्रत उद्योगमवलोक्य 'पवनः पर्वतशृङ्गं हरति किम् ?' इत्याशङ्क्या मूढाः सिद्धश्रियाः आश्र्यान्विताः भविष्यन्ति । तत आद्रेंस्थलवेतसात् पुरोदृश्यमानादस्मात् स्थानादाकाशमार्गे अन्तरायाणां दिग्गजानां पीवरशुण्डप्रहारान् परित्यजनलकागमनार्थमुत्तराभिमुखीभूय गगनमुत्पत्ते ।

हिन्दी— हे मेघ ! अत्यधिक वेग से जाते हुए, तुम्हें देखकर भोली-भाली सिद्धों की प्रियाएँ 'वायु पर्वत की चोटी उड़ा कर ले जा रहा है क्या ?' ऐसा सोचकर अत्यन्त आश्र्यान्वित हो जाएँगी । तुम भींगे स्थलवेतसों से परिपूर्ण

इस आश्रम से गगनमार्ग में दिग्गजों की बड़ी-बड़ी सूड़ों के आक्रमण से गगन मार्ग में बचते हुए अलकापुरी जाने के लिए उत्तर की ओर मुँह करके ऊपर उड़ जाओ।

समाप्तः—उन्मुखीभिः—उन्नतं मुखं यासां ताः उन्मुखाः ताभिः (बहुत्रीहिः) मुखसिद्धाङ्गनाभिः—सिद्धानाम् अङ्गनाः सिद्धाङ्गनाः (ष० त०) मुखाश्च ताः सिद्धाङ्गना मुखसिद्धाङ्गनाः (कमं०) ताभिः । **दृष्टोत्साहः—**दृष्ट उत्साहो यस्य स दृष्टोत्साहः (बह०) । सरस-निचुलात्-सरसा निचुला यस्मिस्तद् सरसनिचुलम् (बहुत्री०) तस्मात् । **दिङ्नागानां-दिशां नागाः—**दिङ्नागाः (ष० तद०) । तेषाम् । स्थूलहस्तावलेपान्—स्थूलाश्च ते हस्ताः=स्थूलहस्तावलेपान् (ष० त०) । **उदड़मुखः—**उदक् मुखं यस्य स उदड़मुखः (बह०) ।

कोशाः—कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्, इत्यमरः । वानीरे कविभेदे स्पान्निचुलः स्थल-वेत्से । शब्दार्णवः मतङ्गजो । गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी इत्यमरः ।

टिष्ठणी—हरति—हरणार्थक हृधातु के वर्तमानकालिक लट्लकार के प्रथमपुरुष के एक वचन का रूप है (हृ + अ + ति) । **किस्तित्—‘किम्’** यह अव्यय है, और “स्तित्” यह अव्यय है—दोनों अव्यय मिलकर विकल्प और वितर्क इन दो अर्थों को प्रकाशित करते हैं । **उन्मुखीभिः—**यहाँ उन्मुख शब्द से स्त्रीत्व विवक्षा में “स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्” इस सूत्र से “होष्” प्रत्यय हुआ है । **चकितचकितम्—**चकितं यथा स्यात्तथा; यहाँ पर प्रकार अर्थ में “प्रकारे गुणवचनस्य” इस सूत्र से द्वित्व होकर ‘कमंधारयवदुत्तरेषु’ इससे सु का लोप हो गया है । **दृष्टः—**दृश् धातु से ‘क’ प्रत्यय होकर दृष्टः यह शब्द निष्पन्न होता है । **स्थानात्—‘ष्टा’** गतिनिवृत्ति इस धातु से ल्युट प्रत्यय होकर स्थान यह रूप बना है, उस शब्द के पञ्चमी विभक्ति का यह रूप है । **परिहरन्—‘परि’** उपसर्गपूर्वक ‘ह’ धातु से वर्तमानकालिक लट्लकार के स्थान में ‘शत्’ आदेश करके ‘परिहरन्’ यह रूप बनाया जाता

है। यहाँ महोपाध्याय मलिलनाथ ने 'सरसनिचुलात्' और 'दिङ्नागानाम्' इन दो शब्दों के अधार पर उक्तार्थ के अलावे दूसरे अर्थ का भी प्रतिपादन किया है जो कि इस प्रकार है—सरसनिचुलात्=अर्थात् रसिक 'निचुल' नामक कालिदास के समकालीन कवि, जो कि दूसरे विरोधी कवियों द्वारा दिखाये गये दोषों का परिहरन करने वाले थे, ऐसे कवि के आश्रम से निर्दोष होने के कारण ऊँचे मुखवाले होते हुए मार्ग में अर्थात् सारस्वत मार्ग में विरोधी 'दिङ्नाग' जैसे आदरणीय कवि में हस्तावलेप=अर्थात् हस्तविन्यासपूर्वक दिखाये गये दोषों को दूर करते हुए अद्वैत=अर्थात् पर्वत की तरह ऊँचे दिङ्नागाचार्य की शृङ्गम्=प्रधानता को परिहरति =नष्ट करता है क्या? इस कारण से सिद्धैः=महाकवियों द्वारा और अङ्गनाभिश्च=गुणशालिनी स्त्रियों द्वारा, दृष्टोत्साहः=उद्योग देखे जाते हुए, खम् उत्पत्त=आकाश में उड़ जाओ। परन्तु महोपाध्याय मलिलनाथ जी का यह मत सर्वसम्मत नहीं है। दिङ्नागाचार्य कालिदास के विरोधी थे, यह भी एक विचारणीय विषय ही है। क्योंकि 'दिङ्नाग' नाम के अनेक विद्वान् हो गये हैं। बीदृ दर्शन के विद्वान् वसुवन्धु के शिष्य 'दिङ्नाग' कालिदास के विरोधी इसलिए नहीं माने जा सकते, क्योंकि दोनों का समय भिन्न है। यदि यह कहा जाय कि कालभेद होने पर भी पूर्वकालिक विद्वान् के मत का खण्डन उत्तरकालिक कवि कर सकता है अतः दिङ्नाग का विरोधी महाकवि हैं, तो यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कालिदास का काल आधुनिक वहुत से विद्वानों के मत में विक्रमीय प्रथम शताब्दी है जब कि दिङ्नागाचार्य का काल पाँचवीं शताब्दी है। और भी सम्प्रदायान्तर के विद्वान् के लिए आदरार्थक वहुवचनान्त का प्रयोग भी आपत्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होता। अब समस्या यहाँ यह खड़ी हो जाती है कि—उत्तरदिशा जब एक है और एक दिशा में एक ही दिग्गज होता है तो महाकवि ने 'दिङ्नागानाम्' यह वहुवचनान्त का प्रयोग कैसे किया? तो इसका समाधान यह है कि एक उत्तर दिशा में एक उत्तर दिशा के अलावे अन्य दिग्गजों के स्थूल सूड़ों के प्रहार से बचते हुए ऐसा अर्थ करने से किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आ सकती है ॥ १४ ॥

रत्नच्छायाऽव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्तात्
 वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुष्खण्डमाखण्डलस्य ।
 येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
 बहेणोव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ १५ ॥

अन्वयः—रत्नच्छायाऽव्यतिकर इव प्रेक्ष्यम् आखण्डलस्य एतत् धनुष्ख-
 ण्डम् पुरस्तात् वल्मीकाग्रात् प्रभवति । येन ते श्यामं वपुः स्फुरितरुचिना
 बहेण गोपवेषस्य विष्णोः (श्यामं वपुः) इव अतितरां कान्तिम् आपत्स्यते ।

व्याख्या—(हे मेघ) रत्नच्छायाऽव्यतिकर इव = पद्मरागादिमणिप्रभा-
 सम्मश्रणमिव, प्रेक्ष्यम् = दृश्यम्, आखण्डलस्य = इन्द्रस्य, एतत् = पुरोर्वति,
 धनुष्खण्डम् = चापशकलम्, पुरस्तात् = अग्रतः, वल्मीकाग्रात् = नाकुविवरात्,
 प्रभवति = उदगच्छति । येन = चापशकलेन, ते = तव “मेघस्तेत्यः” श्यामम् =
 कृष्णवर्णम्, वपुः = शरीरम्, स्फुरितरुचिना = धबलकान्तिना, बहेण = पिच्छेन,
 गोपवेषस्य = र्वालवेषस्य, विष्णोः = हरे: “कृष्णस्येति यावत्”, इव = यथा,
 अतितराम् = सातिशयम्, कान्तिम् = श्रियम्, आपत्स्यते = प्राप्स्यते ।

शब्दार्थः—(हे मेघ) रत्नच्छायाऽव्यतिकर इव = रत्नों की कान्तियों के
 सम्मश्रण जैसा, प्रेक्ष्यम् = दीखने वाला, आखण्डलस्य = इन्द्र का, एतत् = यह
 (सामने), धनुष्खण्डम् = धनुष का टुकड़ा, पुरस्तात् = सामने, वल्मीकाग्रात् =
 बाँबी के अग्रभाग से, प्रभवति = निकल रहा है । येन = जिससे (धनुष के
 टुकड़े से) ते = तेरा, श्यामम् = काले रंग का वपुः = शरीर, स्फुरितरुचिना =
 उजली कान्ति वाले, बहेण = मोरपंख से, गोपवेषस्य = र्वालवेषधारण किए
 हुए, विष्णोः = कृष्ण के, अतितराम् = अत्यधिक, कान्तिम् = शोभा को,
 आपत्स्यते = धारण करेगा ।

समाप्तः—रत्नानां छाया=रत्नच्छायम् (७० तत् ०) आसमन्तात् व्यतिकरः
 आव्यतिकरः (उपषद० य०) रत्नच्छायस्य आव्यतिकरः=रत्नच्छायाऽव्यतिकरः

(ष० तत०) । वल्मीकस्य अग्रम् = वल्मीकाग्रम् (ष० तत०) तस्मात् । धनुषः खण्डम्=धनुष्खण्डम् (ष० तत०) । गोपानां वेषः=गोपवेषः (ष० तत०) तस्य ।

कोशः—रत्नं मणिः द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च, इत्यमरः । आखण्डलः सहस्राक्षः, इत्यमरः । कृष्णे नीलाऽसितश्यामकालश्यामलमेचकाः, इत्यमरः । पिच्छ बहें नपुंसक, इत्यमरः । छाया सूर्यंप्रिया कान्तिः, इत्यमरः ।

भावार्थः—(हे मेघ !) पद्मरागादिमणीनां संमिश्रणमिव सुन्दरमेतदिन्द्र-धनुः पुरस्तात् वल्मीकिविवरादाविर्भवति, येन ध्वलकांतिसंवलितेन, मयूर-पिच्छेन गोपवेषस्य कृष्णस्येव तावकीनमपि श्यामं शरीरं सातिशयं शोभासम्पन्नं भविष्यति ।

हिन्दी—हे मेघ ! पद्मराग आदि मणियों की प्रभा के सम्मिश्रण की तरह दर्शनीय इन्द्रधनुष सामने बांधी के अग्रभाग से निकल रहा है । जिस इन्द्र-धनुष के टुकड़े से, श्याम रंग का यह तेरा शरीर, उज्ज्वल कांतिवाले मोर-पंख से गोपवेषधारी कृष्ण के शरीर के समान अत्यधिक शोभा को प्राप्त करेगा ।

टिथ्पणी—रत्नच्छायम्=रत्नानां छाया रत्नच्छायग् (ष० तत०) । यहाँ “छाया बाहुल्ये” इस सूत्र से नपुंसकलिङ्ग हुआ है । व्यतिकरः—“वि” और “अति” इन दो उपसर्गपूर्वक “कृ” धातु से “ऋदोरप्” इस सूत्र से “अप्” प्रत्यय करके गुणादि करके “व्यतिकर” यह रूप बना है । आसमंतात् व्यतिकर आव्यतिकरः यहाँ “कुणति प्रादयः” इस सूत्र से समाप्त हुआ है । **प्रेक्ष्यम्**—“प्र” उपसर्गपूर्वक “इक्ष” धातु से “ण्यत्” प्रत्यय होकर “प्रेक्ष्यम्”, यह शब्द बनता है । **धनुष्खण्डम्**—किसी-किसी पुस्तक में “धनुःखण्डम्” यह पाठ मिलता है जो कि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार अशुद्ध है क्योंकि “नित्यं समासेऽनुचरपदस्थस्य” इस सूत्र से यहाँ नित्यं मूर्धन्यं षकार होता है ।

इन्द्रधनुष के विषय में वृहत्संहिता में लिखा है—

सूर्यंत्य विविधाः वणिः; पवनेन विघट्टिताः साप्रे ।

वियति धनुः संस्थाना ये दूश्यन्ते तदिन्द्रधनुः ॥

पुरस्तात्—“पूर्वंस्यां दिशि” इस विग्रह में ‘पूर्वा’ शब्द से प्रकृत्यर्थ में “दिक्षशव्देभ्य” समसी पञ्चमी प्रथमाभ्यो “दिग्देशकालेष्वस्ताति” इस सूत्र से “अस्ताति” प्रत्यय लाकर “अस्ताति च” इस सूत्र से पूर्वा के स्थान पर “पुर” यह आदेश करके “पुरस्तात्” यह रूप बना है। **अतितराम्**—“अतितर” शब्द से ‘किमेत्तिङ्गव्ययधादाम्बद्रव्यप्रकर्षे’ इस सूत्र से “आमु” प्रत्यय करके “अतितराम्” यह रूप बना है।

अलंकार—इस श्लोक के प्रथम चरण में एवं चतुर्थ में दो श्रीती उपमा निरपेक्ष रूप से है अतः यहाँ ‘संसृष्टि’ अलङ्कार है ॥१५॥

त्वय्यायतं कृषिफलभिति भ्रूविलासानभिज्ञैः

प्रीतिस्तिनग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।

सद्यः सोरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं

किञ्चित्पश्चाद् व्रज लघुगतिभूय एवोत्तरेण ॥१६॥

अन्वयः—कृषिफलं त्वयि आयत्तम् इति हेतोः भ्रूविलासानभिज्ञैः प्रीति-सिध्यैः जनपदवधूलोचनैः पीयमानः सोरोत्कषण-सुरभि मालं क्षेत्रं सद्यः आरुह्य किञ्चित् पश्चात् भूयः लघुगतिः उत्तरेण एव व्रज ।

व्याख्या—कृषिफलम्=सस्यादिकम्, त्वयि=मेघे, आयत्तम्=अधीनम्, इति=अस्तमात्, हेतोः=कारणात्, भ्रूविलासानभिज्ञैः=कटाक्षवृत्त्यपरिचितैः, प्रीतिस्तिनग्धैः=स्नेहस्नपितैः । जनपदवधूलोचनैः=नीबृन्महिलानयनैः, पीयमानः=सादरमीक्षमाणः सीरोत्कषणसुरभि=लाङ्गूलविदारणेन ग्राण-तर्पणं (यथा स्यात्तथा) मालम्=मालनामानम्, क्षेत्रम्=केदारम्, सद्यः=तद्क्षणम्, आरुह्य=आरोहणं विधाय, किञ्चित्पश्चात्=कियतक्षणानन्तरन्, भूयः=पुनः, लघुगतिः=द्रुतगमनः (सन्) उत्तरेण एव=उत्तरमार्गेण एव, व्रज=गच्छ ।

शब्दार्थः—कृषिफलम्=खेती का फल (धान आदि), त्वयि=तुम्हारे आयत्तम्=अधीन है, इति=इस, हेतोः=कारण से, भ्रूविलासानभिज्ञैः=भौंहों के विलास से अपरिचित (भोली-भाली), प्रीतिस्तिनग्धैः=स्नेह से ओत-

त्रोत, जनपदवधूलोचनैः—ग्रामीण महिलाओं की आँखों से; पीयमानः—आदर के साथ देखा जाता हुआ, सीरोत्कषणसुरभि=हल चलने के कारण जहाँ से भीनी सुगन्ध निकल रही है (ऐसे) मालक्षेत्रम्=माल नामक क्षेत्र पर (पठार पर), सद्यः—तुरत ही, आरुह्य=चढ़कर अर्थात् बरसकर, किञ्चित्-पश्चात्=कुछ देर बाद भूयः=फिर, लघुगतिः (सन्)=तेज गति वाला होकर, उत्तरेण एव=उत्तर दिशा की ओर ही, व्रज=जाना।

हिन्दी—हे मेघ ! खेती का परिणाम (उपज) तुम्हारे अधीन है, इसलिए रास्ते के कटाक्ष विक्षेपगदि से अपरिचित भोली-भाली ग्रामीण स्त्रियों की आँखों से आदरपूर्वक (सन्नेह) देखे जाते हुए तुम, जहाँ तुरत हल चलाया गया है ऐसे “माल” नामक पठारी भाग पर बरसकर उसे सुगन्धित बना कर कुछ समय के बाद फिर तेज गति से उत्तर मार्ग से ही चले जाना।

समासः—भ्रुवः विलासः=भ्रूविलासः (ष० तद०) तेष्यः अनभिज्ञः=भ्रूविलासानभिज्ञः (ष० तद०)। प्रीत्या स्तिरध्वः=प्रीतिस्तिरध्वः (त० तद०)। जनपदस्य वधूः=जनपदवधूः तासां लोचनैः (ष० तद०)। सीरैः उत्कषणम्—सीरोत्कषणम् (त० तद०) तेन सुरभि यथा स्यात् तथा क्रियाविशेषणम्।

कोशः—अधीनो निघन आयतः, इत्यमरः। नीवृजनपदो देशः, इत्यमरः। लाङ्गलं हलम्, गोदारणच्च सीरोऽधः, इत्यमरः। सुरभिर्घ्राणतर्पणः, इत्यमरः। केदारः क्षेत्रमस्यतु, इत्यमरः। लघुक्षिप्तमरं द्रुतम्, इत्यमरः।

भावार्थः—हे मेघ ! कृषेः फलं सस्यादिकं त्वदधीनमत एव स्वाभाविक-सनेह-स्नपितैः भ्रूविकारप्रदर्शनादक्षीः ग्राम्यवधूभिः सादरमवलोक्यमानस्त्वं लाङ्गलोत्कषणेन सुगन्धियुक्तं मालनामकमुन्नतं प्रदेशं वृष्टच्छा सनाथीकृत्य किय-त्कालानन्तरं द्रुतगत्या पुनरुत्तरेणैव मार्गेण गच्छ ।

टिप्पणी—त्वद्यथायत्तम्—यहाँ अधिकार विवक्षा में “युष्मद्” शब्द से समस्ती हुई है। “आ” (ङ) उपसंगूर्वक “गम्” धातु से “क्त” प्रत्यय करके आयतम् यह रूप बनता है। **उत्तरेण**—यहाँ “प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्” से चृतीया हुई है ॥ १६ ॥

त्वामासार—प्रशमित—वनोपलवं साधु मूर्धनी
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाभ्रकूटः ।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥१७॥

अन्वयः—आभ्रकूटः सानुमान् आसार—प्रशमित—वनोपलवम् अध्वश्रम-परिगतं त्वाम् साधु मूर्धनी वक्ष्यति । क्षुद्रः अपि संश्रयाय मित्रे प्राप्ते प्रथमसुकृतापेक्षया विमुखः न भवति । यः तथा उच्चैः किं पुनः ।

व्याख्या—आभ्रकूटः=एतन्नामकः, सानुमान्=पर्वतः, आसार—प्रशमित-वनोपलवम्=धारासंपातापासारितदावानलं, अध्वश्रमपरिगतम्=मार्गपरिश्रम-क्लान्तम्, त्वाम्=भवन्तं मेघमिति यावत्; साधु=समीचीनम्, मूर्धनी=शिरसा, श्रुज्ज्ञेण, वक्ष्यति=बोढ़ा; क्षुद्रः अपि=साधारणोऽपि, संश्रयाय=आश्रयाय, मित्रे=संस्थयो, प्राप्ते=आगते (सति) । प्रथमसुकृतापेक्षया=कृतपूर्वोपिकारसंस्मरणेन, विमुखः=पराङ्मुखः न भवति, यः=आभ्रकूटः पर्वतः, तथा उच्चैः=तथाविष्टो महान् (सः), किं पुनः=विमुखो भविष्यति किम् ? कदापि न भविष्यति ।

शब्दार्थः—आभ्रकूटः=आभ्रकूट नाम का, सानुमान्=पर्वत, आसार-प्रशमितवनोपलवम्=मूसलाधार बृहिं से दावाग्नि को शान्त करनेवाले, अध्वश्रमपरिगतम्=मार्ग के परिश्रम से थके हुए, त्वाम्=तुम को, साधु=अच्छी तरह, मूर्धनी=शिर पर (चोटी पर) वक्ष्यति=धारण करेगा । क्षुद्रोऽपि=साधारण जन भी, संश्रयाय=आश्रय के लिए, मित्रे=मित्र के; प्राप्ते=आने पर, प्रथमसुकृतापेक्षया=पहले के किये हुए उपकारों को याद कर, विमुखः न=मुँह नहीं मोड़ता, भवति=है । यः=जो आभ्रकूट पर्वत, तथा उच्चैः=वैसा ऊँचा है । किं पुनः=क्या वह मुँह मोड़ेगा ? कभी नहीं मुँह मोड़ेगा ।

भावार्थः—हे मेघ ! धारासम्पातेन प्रशमित—वनार्जिन मार्गजन्य—परिश्रम-क्लान्तं त्वामाभ्रकूटोऽद्विः शिखरेण सम्यक् प्रकारेण धारयिष्यति । (यतोहि)

नीचोऽपि आश्रयाय गृहागतं मित्रमवलोक्य पूर्वकृतोपकारं स्मृत्य पराङ्मुखो न
भवति, यः आग्रकूटपर्वतस्तादृशो महान् स कथं भविष्यति । नैव भविष्यती-
तिभावः ।

हिन्दी—हे मेघ ! मूसलाधार वृष्टि के द्वारा दावाभिन को बुझाने वाले,
मार्णे के परिश्रम से थके हुए तुमको आग्रकूट पर्वत शिखर पर धारण करेगा ।
(क्योंकि) छोटे भी (जन) आश्रय के लिए मित्र के आने पर पहले के उपकारों
को याद कर मुँह नहीं मोड़ते तो फिर जो आग्रकूट उतना महान् है वह मुँह
मोड़ेगा क्या ? कभी नहीं मुँह मोड़ेगा ।

समाप्तः—आग्राणां कूटो यत्र स आग्रकूटः (बहुत्रीहिः) । आसारेण
प्रशमितो बनोपल्लवो येन तम् आसारप्रशमितवनोपल्लवम् (बहुत्रीहिः) ।
अठवनः श्रमः—अठवश्रमः (ष० तद०) तेन परिगतस्तम् (तृ० तद०) ।

कोशः—कूटोऽस्त्री शिखरं श्रुङ्गम्, इत्यमरः । धारा-सम्पात-असारः,
इत्यमरः । सरणिवर्तम् मार्गाद्व, इत्यमरः । क्षुद्रो दरिद्रः कृपणे, इति यादवः ।
अथ मित्रं सखा सुहृत्, इत्यमरः । पुंस्यादि पूर्वपौरस्त्य प्रथमाद्या, इत्यमरः ।

टिप्पणी—आग्रकूटः—यहाँ पर कुछ टीकाकार 'आग्राः' कूटेषु यस्य सः'
इस प्रकार व्यधिकरण बहुत्रीहि समाप्त मानते हैं । **सानुमान्**—सानवः सन्ति
यस्मिन् ऐसे विग्रह में 'सानु' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय करके सानुमान् यह रूप
बना है । **वक्ष्यति**—'बह' धातु के 'लट्' लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन
का रूप है (वह + स्य + ति) । **संश्याय**—'सम्' उपसर्गपूर्वक सेवायंक
'धिन्' धातु से 'एरव्' इस सूत्र से भाव में अन् प्रत्यय करके 'संश्यः' यह रूप
बनता है, यहाँ 'तुमर्थच्च भाववचनात्' से चतुर्थी हुई है ।

अलंकार—यहाँ वर्धन्तरन्यास एवं अर्थापत्ति इन दोनों अलंकारों के
अज्ञाज्ञभाव होने से 'सङ्कर' नामक अलङ्कार है ॥ १७ ॥

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाग्रः :
स्तवय्यारुढे शिखरमचलः स्तिरध्वेणीसवर्णे ।

नूनं यास्यत्यमर— मिथुन—प्रेक्षणीयामवस्थां

मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥१८॥

अन्वयः— परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रैः छन्नोपान्तः अचलः स्तिरघ-
वेणी-सवर्णे त्वयि शिखरम् आरुद्दे, मध्येश्यामः शेषविस्तारपाण्डुः भुवः स्तन
इव अमरमिथुन-प्रेक्षणीयाम्, अवस्थां नूनं यास्यति ।

द्वाखण्या—(हे मेघ !) परिणतफलद्योतिभिः=पक्वफलशोभिभिः कान-
नाम्रैः=वन्यचूतैः, छन्नोपान्तः=आवृतपाश्वंप्रदेशः, अचलः=पर्वतः आम्रकूटः
इत्यर्थः । स्तिरघवेणी-सवर्णे=चिक्कणकेशपाशतुल्यवर्णे, त्वयि=मेघे, शिखरम्=
शृङ्गम्, आरुद्दे=आरोहणंकृते सति, मध्येश्यामः=कृष्णान्तरः, शेषविस्तार-
पाण्डुः=मध्यभागातिरक्तपीतवर्णः, भुवः=पृथिव्याः, स्तनः=कुचः, इव=यथा,
अमरमिथुनप्रेक्षणीयाम्=देवयुगलावलोकनीयाम्, अवस्थाम्=दशाम्, नूनम्=
अवश्यम् यास्यति = प्राप्यति ।

शब्दार्थः—हे मेघ ! परिणतफलद्योतिभिः=परिपक्वफलों से चमकनेवाले,
काननाम्रैः=जंगल के आमों से, छन्नोपान्तः=ढके हुए, पाश्वंभागवाला,
अचलः=आम्रकूटपर्वतः, स्तिरघवेणी-सवर्णे=चिकने केशपाश की तरह रंग-
वाले, त्वयि=तुम्हारे, शिखरम्=शिखर पर, आरुद्दे=चढ़ जाने पर, मध्ये-
श्यामः=बीच में काला, शेषविस्तारपाण्डुः=और वितृत भाग में पीला,
भुवः=पृथ्वी के, स्तन इव=स्तन की तरह, अमरमिथुनप्रेक्षणीयाम्=देवदम्पतियों
के द्वारा दर्शनीय, अवस्थाम्=दशा को, नूनम्=अवश्य ही, यास्यति=
प्राप्त करेगा ।

भावार्थः—(हे मेघ) पक्वफलकान्तिभिः बनाम्रैराच्छादितपाश्वंभागः
आम्रकूटोद्दिः कृष्णवर्णं त्वयि मेघे श्रृङ्गे सति मध्ये कृष्णः अन्तभागेषु पाण्डुरः
पृथिव्याः स्तन इव देवदम्पतीनां दर्शनीयामवस्थां निश्चयमेव यास्यति ।

हिन्दी—हे मेघ ! चिकनी वेणी के समान काले रंगवाले तुम जब आम्रकूट
के शिखर पर चढ़ जाओगे, तब वह पर्वत पके हुए फलों से चमकनेवाले जंगली
४ मे० दू०

आमों से विरे हुए पाश्वं भागवाला देवदम्पतियों के देखने योग्य अवश्य बन जायेगा, जैसा कि बीच में काला और शेष विस्तृत भाग में पीला-सा पृथ्वी का स्तन हो ।

समाप्तः—स्त्रियाया वेणी तस्याः सदृशः वर्णः यस्य सः स्त्रियध्वेणी-संवर्णः तस्मिन् (बहुत्रीहि) । काननेषु भवाः आम्राः काननाम्राः (सद्यमपदलोपी) तैः । परिणतैः फलैः द्योतन्ते तैः (तृ० तत०) । छन्नांः उपान्ताः यस्य सः छन्नोपान्तः (बहुत्रीहि) । वेषे विस्तारे पाण्डुः शेषविस्तारपाण्डुः (स० त०) ।

कोशः—पवं परिणतम्, इत्यमरः । कृष्णे नीलाऽसित—श्यामः, इत्यमरः । चिक्कणं मसृणं स्त्रियधम्, इत्यमरः । वेणी तु केशबन्धे जलसूती, इति यादवः । हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः, इत्यमरः । मिथुनं तु द्वयो राशिभेदे स्त्रीपुंस-युग्मके, इति मेदिनी ।

टिप्पणी—छन्नः—‘छद’ इस धातु से ‘क्त’ प्रत्यय करके छन्न इस तरह का रूप बनता है । स्त्रिया—‘स्त्रिहृ’ धातु से ‘क्त’ प्रत्यय करके स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् करके स्त्रिया यह रूप बनता है । सर्वर्णः—समानो वर्णः सर्वर्णः यहाँ ‘ज्येतिजंनपदरात्रिनाभि’ इत्यादि सूत्र से समान के स्थान पर ‘स’ ऐसा आदेश किया गया है । आरूढः—‘आङ्’ उपसर्पपूर्वक ‘हहृ’ धातु से ‘क्त’ प्रत्यय करके आरूढ़ ऐसा रूप बनता है । अमरसिष्ठुन-प्रेक्षणीयाम्—यहाँ अमरमिथुनानां प्रेक्षणीया ताम् ‘कृत्यानां कर्तंरि वा’ इस सूत्र से विकल्प से ‘अमर मिथुन’ शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है तब षष्ठी समाप्त किया गया है ॥ १८ ॥

**स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्मं तीर्णः ।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्द्यपादे विशीर्णी
भक्तिच्छेदैरिव विरचिता भूतिमङ्गे गजस्य ॥ १९ ॥**

अन्वयः—(हे मेघ !) वनचरवधूभुक्तकुञ्जे, तस्मिन् मुहूर्तं स्थित्वा,

तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः तत्परं वत्मंतीर्णः उपल-विषमे विन्ध्यपादे विशीणाम्
रेवाम् गजस्य अङ्गे भक्तिच्छेदैः विरचिताम् भूतिम् इव द्रक्ष्यसि ।

ध्याख्या—(हे मेघ !) वनचर-वधू-भुक्त-कुञ्जे=किरात-कामिनी-
भुक्तलता-सदने, तस्मिन्=आग्रकूटे (पर्वते) मुहूर्तम्=किञ्चित्क्षणम्,
स्थित्वा=विरम्य, तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः=जलवर्षणेनातिशीघ्रगमनः तत्परम्=
आग्रकूटानन्तरम्, वत्मं=मार्गम्, तीर्णः=अतिक्रान्तः सन्, उपलविषमे=
पाषाणनिम्नोन्नते, विन्ध्यपादे=विन्ध्याचल-प्रत्यन्तपर्वते, विशीणाम्=प्रसृताम्,
रेवाम्=नमंदाम्, गजस्य=हस्तिनः, अङ्गे=शरीरे, भक्तिच्छेदैः=रेखा-
भंगिभिः, विरचिताम्=रिमिताम्, भूतिम्=मातङ्गशृङ्खारं, इव=यथा,
द्रक्ष्यसि=विलोकयिष्यसि ।

शब्दार्थः—(हे मेघ !) वनचरवधूभुक्तकुञ्जे=किरात-कामिनियों द्वारा
उपभुक्त लताकुञ्जों वाले, तस्मिन्=उस, आग्रकूट पर्वत पर, मुहूर्तम्=कुछ
देर, स्थित्वा=ठहरकर, तोयोत्सर्गद्रुततर-गतिः=जल बरसाने के कारण शीघ्र-
गमनवाले (तुम), तत्परम्=आग्रकूट के आगे, वत्मं=रास्ते को, तीर्णः=
पार करके, उपलविषमे=पत्थरों के कारण ऊँची-नीची, विन्ध्यपादे=विन्ध्या-
चलपर्वत की तलहटी में, विशीणाम्=फैली हुई, रेवाम्=नमंदा को, गजस्य=
हाथी के, अङ्गे=अङ्ग में, भक्तिच्छेदैः=चित्रकारी के द्वारा, विरचिताम्=
बनायी गई, भूतिम्=सजावट, इव=की तरह, द्रक्ष्यसि=देखोगे ।

भावार्थः—हे मेघ ! आग्रकूट—पर्वतस्य किरातकामिनीभिः कृतसम्भोगे
लतागृहे किञ्चित्क्षणं विश्रम्य तत्र जलवर्षणेन द्रुतगतिः सन् आग्रकूटात्परं
मार्गमतिक्रम्य प्रस्तरबहुलान्निम्नोन्नत-भूमौ विन्ध्याद्रेस्तटे विस्तीर्णा नमंदां
गज-मस्तके रचनाभज्जिभिरचितां भस्मरेखामिवावलोकयिष्यसि ।

हिन्दी—हे मेघ ! वनचर वधुओं के द्वारा उपभुक्त लताकुञ्ज वाले उस
आग्रकूट पर्वत पर कुछ देर विश्राम करके पानी बरसने के कारण शीघ्र गति
से आग्रकूट के आगे के मार्ग को पार करके ऊँचे-नीचे पथरीले विन्ध्याचल

प्रान्त में विस्तृत नर्मदा नदी को, हाथी के शरीर में, रचना-विशेष के माध्यम से बनायी गयी शृङ्खार-रेखा की तरह देखोगे ।

समाप्तः—वने चरन्तीति वनचराः (उपपद तद०) तेषां वधवः, ताभिः भूक्ताः कुञ्जाः यस्मिन्, तस्मिन् (बहुत्रीहि) । तोयस्य उत्सर्गः=तोयोत्सर्गः (ष० तद०) तेन द्रुततरगतिः=तोयोत्सर्गंद्रुततरगतिः (त३० तद०) द्रुततरा गतिर्यस्य स द्रुततरगतिः (बहुत्रीहिः) । तस्मात्परं=तत्परम् (सुप्तुष्टेति-समाप्तः) । उपलेन विषमः उपलविषमः तस्मिन् (त३० तद०) । विन्ध्यस्य-पादे विन्ध्यपादे (ष० तद०) ।

कोशः—निकुञ्जकुञ्जी वा क्लीबे लतादि पिहितोदरे, इत्यमरः । मुहूर्त-मल्पकाले स्याद् धटिका द्वितेऽपि च, इति शब्दार्णवः । पादाः प्रत्यन्तपर्वतः, इत्यमरः । पादो ब्रह्मे तुरीयांशे शैलप्रत्यन्तपर्वते, इति मेदिनी । रेवा तु नर्मदा सोमोद्ध्रवा मेकलकन्यका, इत्यमरः । भूतिमर्तिङ्ग-शृङ्खारे जातौ भस्मनि सम्पदि, इति विश्वः ।

टिप्पणी—वनचरवधूभृक्त०—यहाँ वन उपपदपूर्वक गत्यर्थक “चर” धातु से “उपपदमतिङ्ग” इस सूत्र से समाप्त करके “चरेष्टः” इस सूत्र से “ट” प्रत्यय करके “वनचर” शब्द बनाया जाता है । “तत्पुरुषे कृति बहुलम्” से वैकल्पिक अलूक् समाप्त करके “वनेचर” ऐसा रूप भी बनता है । द्रुततर-गतिः—अतिशयेन द्रुता=द्रुततरा तथा भूता गतिर्यस्य स द्रुततरगतिः । यहाँ “द्रुता” शब्द से “द्विवचन-विभज्योपपदे तरबीयसुनौ” इस सूत्र से “तरप्” प्रत्यय किया गया है एवं स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् करके “द्रुततरा” यह रूप निष्पन्न होता है । विन्ध्य पर्वत भी सात कूल पर्वतों में से एक हैं, जैसे—

महेन्द्रो भलयः सह्यः शुक्तिमानुक्षपर्वतः ।

विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥

नर्मदा भी सात पूज्य नदियों में एक है । जैसा कि स्नान के समय लोग बोला करते हैं—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।

नर्मदे सिंधु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु ॥

अलङ्कार—यहाँ समासेक्ति एवं श्रोती उपमा के अङ्गाङ्गभाव से रहने के कारण संकर अलङ्कार है ॥ १९ ॥

तस्यास्तिकतैर्वन्नगजमदैर्दासितं वान्तवृष्टिः-
जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः ।
अन्तःसारं धन ! तुलयितुं नानिलः शक्षयति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ २० ॥

अन्वयः—हे धन ! वान्तवृष्टिः तिक्तैः वनगजमदैः वासितम् जम्बूकुञ्ज-
प्रतिहतरयम् तस्याः तोयम् आदाय गच्छेः । अन्तःसारम् त्वाम् नानिलः
तुलयितुं न शक्षयति हि रिक्तः सर्वं लघुः भवति पूर्णता गौरवाय ।

व्याख्या—हे धन ! हे जलद ! वान्तवृष्टिः=उद्गीणवर्षः, (सन्) तिक्तैः
=कटुभिः तिक्तरसान्वितैश्चेत्यर्थः, वनगजमदैः=काननहस्तिदानवारिभिः,
वासितम्=सुगन्धितम्, जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयम्=जाम्बनिकुञ्जप्रतिबद्धजवम्=तस्याः=नर्मदायाः, तोयम्=जलम्; आदाय =नीत्वाः, गच्छेः=द्रज । अन्तः-
सारम्=अन्तःस्थितत्वम् बलमिति यावत् जलपरिपूर्णमितिभावः । त्वाम्=
मेघम्, नानिलः=वायुः, तुलयितुम्=मापयितुम्; न शक्षयति=न समर्थो भवि-
ष्यति, हि=निश्चयेन, रिक्तः=निःसारः शून्य इत्यर्थः, सर्वं=सकलः, लघुः=
न्यूनः, हेय इति भावः; भवति=वर्तते, पूर्णता=सारवत्ता, गौरवाय=गरिम्णे
भवति ।

शब्दार्थः—हे मेघ ! वान्तवृष्टिः=जल बरसाये हुए, तिक्तैः=सुगन्धित
वनगजमदैः=जंगली हाथियों के मदजल से, वासितम्=सुगन्धित, जम्बूकुञ्ज-
प्रतिहतरयम्=जामुन के निकुञ्ज से रोके हुए बेगवाले, तोयम्=जल को,
आदाय =लेकर, गच्छेः=जाना । अन्तःसारम्=भीतर से शक्तिशाली, त्वाम्=
तुला को, नानिलः=वायु, तुलयितुम्=हिलाने में, न शक्षयति=समर्थ नहीं

होगा, हि=क्योंकि, रिक्तः=भीतर से खाली, सर्वः=सभी, लघुः=हल्का (हेय) “और” पूर्णता=गुरुता, गौरवाय=गौरव के लिए, भवति=होता है।

आदार्थः—हे मेघ ! तत्र जलवर्षणानन्तरं सुगन्धिभिर्वन्यगजानां दान्त-वारिभिः सुवासितं जम्बूनिकुञ्जजावरुद्धवेगं नर्मदाजलं शृङ्गीत्वा द्रज ! जलवत्तवा-दन्तःसारं त्वां पवनः प्रकम्पयितुं समर्थो न भविष्यति, यतो हि निःसारः सर्वोऽपि हेयः भवति, केवलं सारवतैव गौरवास्पदं भवति ।

हिन्दी—हे मेघ ! वहाँ जल बरसाने के बाद जंगली हाथियों के सुगन्धित मदजल से सुवासित जामुनों के निकुञ्जों के द्वारा रोके गये वेग वाले नर्मदा नदी के जल को लेकर (आगे) जाना । भीतर से शक्तिशाली तुझे वायु हिला नहीं सकेगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तु जो भीतर से निःसार हो, हल्की होती है एवं भरापन गुरुता के लिए होता है ।

समाप्तः—वान्ता दृष्टियेन स वान्तदृष्टिः (बहुत्रीहिः) । वनस्य गजा वनगजाः (ष० तत०) तेषां मदैः वनगजमदैः (ष० तत०) । जम्बूनां कुञ्ज-जम्बूकुञ्जः (ष० तत०) तैः प्रतिहतो रथः यस्य तम् जम्बूकुञ्जप्रतिहतरथम् (बहुत्रीहिः) । अन्तः सारो यस्य तम् अन्तःसारम् (बहुत्रीहिः) ।

कोशः—दृष्टिवर्द्धन्म, इत्यमरः । तिक्तो रसे सुगन्धे च, इति विश्वः । जम्बू स्त्री जम्बुजाम्बवम्, इत्यमरः । सारो बले स्थिरांशे च, इत्ययरः, सारो बले मज्जनि च स्थिरांशे, न्याये च नीरे च धने सारम्, इति विश्वः । भवेत् प्रतिहतं द्विष्टे प्रतिस्खलितरुद्धयः, इति मेदिनी । मदो रेतसि कस्तूर्या गर्वे हर्षेभ-दानयोः, इति विश्वः ।

टिष्पणी—(दु) वम् धातु से कर्म में त्त प्रत्यय करके स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् करके ‘वान्ता’ ऐसा प्रयोग बनता है । यहाँ “वम्” धातु का “उगलना” अर्थ होने पर भी गौणवृत्ति का आश्रय लेने के कारण जुगुप्ता व्यंजक अश्लीलता नहीं आ पायी है । क्योंकि “निष्ठूतोदगीर्णवांतादिगौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अति सुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ।” ऐसा दण्डी लिखते हैं । **आदाय—आङ्गुष्ठ-**

सर्वपूर्वकं “दा” धातु से कत्वा प्रत्यय करके उसके स्थान पर त्यप् करके उक्त रूप निष्पत्त होता है। गच्छेः—यहाँ “विविन्नन्त्रणामन्त्रणादि” सूत्र से विधि में लिङ् है। तुलयितुभ्—यहाँ “तुल” धातु से “तत्करोति तदाच्छटे” इस सूत्र से “णिच्” प्रत्यय करके पश्चात् “समानकर्तृकेषु तुमुन्” इस सूत्र से “तुमुन्” प्रत्यय किया गया है। शक्षयति—“शक्” धातु के लट् लकार के प्रथमपुरुष के एकवचन का रूप है। (शक् + स्य + ति)। प्रस्तुत श्लोक का भग्नोपाध्याय मलिलनाथजी ने एक दूसरा भी अर्थ निकाला है, जैसे कि आयुर्वेद-शास्त्रानुसार वमन के बाद मानव को कसैला, हल्का और चरपरा जल पीना चाहिए ताकि वायुविकार न होवे, इसलिए हे मेघ ! तुम जल वमन करने के पश्चात् सुगन्धित एवं जामुन के कुञ्ज में रुके हुए प्रवाह के कारण कसैला नर्मदा का जल पीकर जाना, तब तुम्हें पवन नहीं हिला सकेगा, अन्यथा वमन के कारण भीतर से निःसार तुम्हें पवन हिला देगा, क्योंकि भीतर से शून्य सभी हल्के होते हैं, पूर्णता ही गोरव के लिए होती है।

अलङ्कारः—यहाँ तृतीयचरण के विशेष अर्थ का समर्थन चतुर्थचरण के सामान्य अर्थ से किया गया है, अतः यहाँ “अर्थान्तरन्यास” नामक अलङ्कार है ॥ २० ॥

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धंरुद्धै-
राविर्भूत-प्रथम-मुकुलाः कन्दलोद्धानुकच्छम् ।
जग्धवाऽरण्येष्वधिकसुरिभं गन्धमाद्यायचोव्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—अर्धंरुद्धैः केसरैः हरितकपिशम् नीपम् दृष्ट्वा अनुकच्छम् आविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीः च जग्धवा अरण्येषु उव्याः अधिकं सुरभिम् गन्धम्, च आद्याय सारंगाः जललवमुचः ते मार्गम् सूचयिष्यन्ति ।

व्याख्या—(हे मेघ !) अर्धंरुद्धैः=अर्धोत्पन्नैः, केसरैः=किञ्जत्कैः, हरितकपिशम्=हरिदधूसरम्, नीपम्=कदम्बम्, दृष्ट्वा=विलोक्य, अनुकच्छम्=

मन्वनूपम् जलप्रायदेशसमीपे इत्यर्थः, आविर्भूतप्रथममुकुलाः=सञ्जातपूर्वं-
कुड्मलाः, कन्दलीश्च=भूकन्दलीश्च, जग्धवा=भुक्त्वा, अरण्येषु=काननेषु,
उर्ब्याः=पृथिव्याः, अधिकसुरभिम्=उत्कट-सुगन्धियुक्तम्, आघ्राय=घ्रात्वा,
सारङ्गाः=कुरङ्गाः, जललवमुचः=सलिलविन्दुवर्षकः, ते=मेघस्य, मार्गम्=
पन्थानम्, सूचयिष्यन्ति=निर्देशं करिष्यन्ति ।

शब्दार्थः—(हे मेघ !) अर्धंहृदैः=आधे निकले हुए, केसरैः=रेशों से,
हरितकपिशम्=हरे और धूसर रंगवाले, नीपम्=कदम्ब को, दृष्ट्वा=देखकर,
अनुकच्छम्=दलदल में, आविर्भूतप्रथममुकुलाः=जिनमें पहले-पहले कलियाँ
प्रकट हुई हैं, कन्दलीः=केले के समान पुष्प वृक्षों को, जग्धवा=खाकर,
अरण्येषु=वनों में, उर्ब्याः=पृथ्वी की, अधिक-सुरभिम्=अत्यन्त सुरभित,
गन्धम्=सुगन्ध को, आघ्राय=सूंधकर, सारंगाः=मृग, हाथी, भ्रमर,
जललवमुचः=जलविन्दु बरसाने वाले, ते=तेरे, मार्गम्=मार्ग को, सूच-
यिष्यन्ति=सूचित करेंगे ।

भावार्थः—(हे मेघ !) हस्तिभ्रमरमृगाः अर्धोत्पन्नकेसरैः हरितधूसरं
कदम्बकुमुमं विलोक्य, जलप्रायदेशे उत्पन्नपूर्वकृडमलाः भूमिकन्दलीश्च भुक्त्वा,
अरण्येष्वत्यधिकसुरभि भूमिगन्धमाघ्राय सलिलविन्दु-त्यजतस्ते पन्थान-
मनुमापयिष्यति ।

हिन्दी —हे मेघ ! हाथी, मृग और भौंरे अर्धंविकसित केसर से हरे-धूसर
रंगवाले कदम्बपुष्प को देखकर, दल दल से पहले-पहले जिनमें कलियाँ प्रकट
हो रही हैं, ऐसे भूमिकन्दलियों के नये कुड़मलों को खाकर, जंगलों में अधिक
सुगन्धित पृथ्वी के मुगंध को सूंधकर, जलविन्दु बरसाने वाले तेरे मार्ग को
सूचित करेंगे ।

समाप्तः—हरितच्च तत् कपिशम्=हरितकपिशम् (कर्मधारयः) । कच्छस्य
समीपे अनुकच्छम् (अव्ययीभावः) । आविर्भूताः प्रथमा मुकुलाः यासां ताः
आविर्भूतप्रथममुकुलाः (बहुत्रीहिः) । साराण्यंगानि येषां ते (मृगादयः)
(बहुत्रीहिसमाप्तः) ।

कोशः— पलाशो हरितो हरित् । श्यावः स्यात् कपिशो धूम्रधूमिलो
कृष्णलोहिते, इत्यमरः । अथ स्थलकदम्बके । नीपः स्यात्पुलके, इति शब्दा-
र्णवः । जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः, इत्यमरः । कृडमलो मुकुलोऽ-
स्त्रियाम्, इत्यमरः । द्वोणपर्णी स्तिरघ—कन्दा कन्दली भूकदल्यपि, इति शब्दा-
र्णवः । सारंगश्चातके भृंगे कुरड्गे च मतञ्जले, इति विश्वः ।

टिष्पणी—सारञ्जः— साराण्यंगानि येषां ते सारञ्जः ऐसा समास किया
जाता है, परन्तु यहाँ सवर्ण दीर्घ न होकर शकन्धवादि गण में पाठ होने के
कारण “शकन्धवादिषु पररूपं वाच्यम्” इससे पररूप होकर “सारंग” शब्द
सिद्ध होता है । “सारंगः पशुपक्षिणोः” इसके अनुसार सारंग शब्द का अर्थ
हाथी, हिरण, भौंरा, चातक आदि किया जाता है । जग्धवारण्येष्वधिक०—
इसके स्थान पर कोई-कोई टीकाकार “दग्धवारण्येष्वधिकसुरभिम्” ऐसा पाठ
मानते हैं । इस विषय में उनका कहना है कि इस श्लोक में दो बार ही केवल
“च” शब्द का प्रयोग किया गया है, एक दूसरे पाद में तथा दूसरा, तीसरे
पाद में । पहला च नीरं और आद्वाय को जोड़ता है । ऐसी दशा में यदि
जग्धवारण्ये० को शुद्ध पाठ माना जाय तो दृष्टवा, जग्धवा, और आद्वाय तीनों
एक ही साथ आ जाते हैं एवं उनको जोड़ने वाला केवल दो च ही रह जाते हैं
तथा जग्धवा का कर्म इससे बहुत दूर हो जाता है । परन्तु उचित तो “जग्धवा-
रण्ये०” आदि पाठ ही है क्योंकि कवि ने यहाँ सारंग शब्द का प्रयोग इसलिए
किया है कि उसके तीन कर्ता अभिप्रेत हैं हाथी, भौंरे और हरिण इसलिए पूर्व-
कालिक क्रियाएँ भी तीन रहनी चाहिए, एक मूल क्रिया है और दो क्रियाओं के
जोड़ने के लिए दो “च” का रहना उचित है ।

अलञ्ज्ञार— यहाँ वृष्टि का अनुमान किया गया है इसलिए यहाँ अनुमाना-
लंकार है ॥ २१ ॥

अस्मोविन्दुप्रहणचतुरांश्चातकान् बीक्षमाणाः

श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः ।

त्वामासाद्य स्तानतसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः

सोतकस्पानि प्रियसहचरीसम्भ्रमालिङ्गतानि ॥ २२ ॥

अन्वयः—अभ्योविन्दुग्रहणचतुरान् चातकान् वीक्षमाणाः श्रेणीभूताः बलाकाः परिगणनया निर्दिशन्तः सिद्धाः स्तनितसमये सोत्कम्पानि प्रियसहचरी-संभ्रमालिङ्गितानि आसाद्य त्वाम् मानयिष्यन्ति ।

थ्याख्यः—अभ्योविन्दुग्रहणचतुरान् = वारिकणग्रहणपद्मन्, चातकान् = सारंगान्, वीक्षमाणः = अबलोक्यमानः, श्रेणीभूताः = पंक्तिबद्धाः, बलाकाः = वक्पंक्तीः, परिगणनया = एका, द्वे, तिसः इति क्रमपूर्वकेण संख्यानेन, निर्दिशन्तः = अंगुल्या निर्देशं कुर्वन्तः, सिद्धाः = देवयोनि-विशेषाः, स्तनित-समये = रति-समये, त्वद्वगर्जनकाले वा, सोत्कम्पानि = उत्कम्पसहितानि, प्रियसहचरी-संभ्रमालिङ्गितानि = स्तिंघष्ठप्रियात्वराश्लेषानि, आसाद्य = प्राप्य, त्वाम् = मेघम्, मानयिष्यन्ति = साधुवादान् वदिष्यन्ति ।

शब्दार्थः—अभ्योविन्दुग्रहणचतुरान् = जल के कणों को ग्रहण करने में चतुर, चातकान् = “चातक” नामक पक्षियों को, वीक्षमाणः = देखते हुए, श्रेणीभूताः = पंक्तिबद्ध, बलाकाः = वक्पंक्तियों को, परिगणनया = एक-दो तीन इस तरह गिनकर, निर्दिशन्तः = अंगुली से दिखाते हुए, सिद्धाः = देवयोनिविशेष, स्तनितसमये = संभोगकाल में अथवा (तुम्हारे गर्जन काल में), सोत्कम्पानि = कम्पन के सहित, प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि = अपनी प्यारी सहचरियों के भय के साथ भरपूर आलिंगन को, आसाद्य = प्राप्त कर, त्वाम् = तुम्हें (मेघ को), मानयिष्यन्ति = धन्यवाद देंगे ।

भावार्थः—हे मेघ ! वर्षणजलग्रहणनिपुणान् चातकान् पश्यन्तो बद्धपंक्तीः बलाकाः एका द्वे तिसः इत्थं संख्यानेन दर्शयन्तः सिद्धाः रतिकाले त्वद्वगर्जनेन भीतानां कामिनीनां स्वेच्छयाऽश्लेषं प्राप्य त्वां धन्यवादान् व्याहरिष्यन्ति ।

हिन्दी—हे मेघ ! वर्षा के जल-विन्दुओं को ग्रहण करने में चतुर चातकों को देखते हुए, पंक्तिबद्ध वक्पंक्तियों को एक, दो, तीन इस प्रकार अंगुली से गिनकर बताते हुए (दिखाते हुए) सिद्धलोग, संभोग काल में तुम्हारे गरजने के कारण भयभीत अपनी प्रियाओं के भरपूर आलिंगन को प्राप्त कर तुम्हें धन्यवाद देंगे ।

समासः—अभ्यसां विन्दवः=अभ्योविन्दवः (ष० तद०) तेषां ग्रहणं
 (ष० तद०) तस्मिन् चतुरास्तान् (स० तद०) । प्रियाश्च ताः संहचर्यः
 (कर्मधारय०) तासां सम्भ्रमः (ष० तद०) तेन आलिगितानि (तृ० तद०)
 प्रियसहचरीसम्भ्रमालिगितानि ।

कोशः—पृष्ठन्तिविन्दुपृष्ठताः, इत्यमरः । सारंगाः स्तोकश्चातकः समाः,
 इत्यमरः । बलाकाः वकपंक्तिः स्यात्, इत्यमरः । स्तनितं गर्जितं मेघं निघोषि
 रसितादि च, इत्यमरः ।

टिष्पणी—वीक्षमाणा:—यहाँ “वि” उपसर्गपूर्वक आत्मनेपदी “इक्ष”
 धातु के लट् लकार के स्थान में “लटः शतृशानचावप्रथमासमानधिकरणे”
 इस सूत्र से “शानच्” प्रत्यय करके “वीक्षमाण” ऐसा रूप हुआ है । **श्रेणी-**
भूताः—अश्रेणयः श्रेणयः संपद्यन्ते इति श्रेणीभूताः । यहाँ “श्रेणी” शब्द से
 भूताः के योग में “कृच्छ्रस्ति योगे संपद्यकर्तंरि चिवः” इस सूत्र से अभूत तदभाव
 अर्थ में चिव प्रत्यय होकर “च्छो च” इस सूत्र से दीर्घं होकर “श्रेणीभूता”
 ऐसा रूप बना है ॥ २२ ॥

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः

कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते ।

शुक्लापाढ्गौः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः

प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्थेत् ॥२३॥

अन्वयः—हे सखे ! मत्प्रियार्थं द्रुतं यियासोः अपि ते ककुभसुरभौ पर्वते
 पर्वते कालक्षेपम् उत्पश्यामि । **सजलनयनैः शुक्लापाढ्गौः केकाः स्वागतीकृत्य**
प्रत्युद्यातः भवान् कमपि आशु गन्तुं व्यवस्थेत् ।

व्याख्या—हे सखे=हे मित्र ! मत्प्रियार्थम्=मत्प्रियार्थै किवा मदिष्ट-
 सम्पादनाय, द्रुतम्=शीघ्रम्, यियासोः=गन्तुमिच्छोः अपि, ते=तव मेघस्थेति
 यावत्, ककुभसुरभौ=कुटजपुष्पपरिमलसुरभिते, पर्वते पर्वते=प्रत्यद्रौ, कालक्षेपम्
 =समयविलम्बम्, उत्पश्यामि=उत्प्रेक्षे । **सजलनयनैः=अश्रूर्णाक्षिभिः, शुक्ला-**

पाङ्गः—**मयूरैः**, **केकाः**—**मयूरवाणीः**, **स्वागतीकृत्य**—**स्वागतवचनं विद्याय**, **प्रत्युद्धातः**—**प्रत्युदगतः**: सन्, भवान्—**मेघः**, कथमपि—**यथाकथच्चित्**, आशु—**त्वरितम्**, गन्तुम्—**प्रयातुम्**, व्यवस्थेत्—**प्रयत्नं कुर्यात्**।

शब्दार्थः—हे सखे—हे मित्र, मत्प्रियार्थम्—मेरी प्रिया के पास, अथवा मेरा सन्देश पहुँचाने के लिए, यियासोः—जाने की इच्छा वाले, अरि—भी, ते—तुम्हारा, कुम्भसुरभी—कुटज पुष्प के सुगरब्ध से सुगंधित, पर्वते-पर्वते—प्रत्येक पर्वत पर, कालक्षेपम्—समय के विलम्ब की, उत्पश्यामि—सम्भावना करता हूँ। सजलनयनैः—आनन्दाश्रुओं से परिपूर्ण नेत्रों वाले, शुक्लापाङ्गः—भौंरों द्वारा, केकाः—उनकी वाणी को, स्वागतीकृत्य—स्वागत वचन बनाकर, प्रत्युद्धातः—अगवानी किया जाता हुआ, भवान्—आप (मेघ), कथमपि—किसी तरह, आशु—शीघ्र, गन्तुम्—जाने का, (आगे बढ़ने का) व्यवस्थेत्—प्रयत्न कीजियेगा।

भावार्थः—हे सखे, मद्वल्लभासमीपं किंवा मन्सन्देशार्थं गन्तुमिच्छोरपि भवतः कुटजपुष्पपरिमलसुवासिते प्रत्यद्वौ समयविलम्बमनुमीये। तथापि आनन्दाश्रुपूरितैः मयूरैः केकाय स्वागतं प्राप्य प्रत्युदगतो भवान् ततः यथा कथच्चित् शीघ्र गन्तुमुद्युञ्जीति।

हिन्दी—हे मित्र ! मेरी प्रिया के पास (या मेरे सन्देश पहुँचाने के लिए) शीघ्र जाने की इच्छा रहने पर भी, कुटज पुष्पों से सुगंधित प्रत्येक पर्वत पर तुम्हारे समय-क्षेप का अनुमान मैं कर रहा हूँ। (फिर भी) आनन्दाश्रु से भरे नेत्रों वाले मोर अपनी केका वाणी से तुम्हारा स्वागत करके, तुम्हारी अगवानी करेंगे, तुम भी किसी प्रकार वहाँ से शीघ्र आगे जाने का प्रयत्न करना।

समाप्तः—मदीया प्रिया मद्प्रिया तस्यै, किंवा मदीयं प्रियम् मत्प्रियम् (नित्यसमाप्तः)। कालस्य क्षेपम् कालक्षेपम् (ष० तद०)। न स्वागतम् अस्वागतम्, (नन०) अस्वागतं स्वागतं सम्पद्यमानं कृत्वा इति स्वागतीकृत्य।

कोशः—अथ मित्रं सखा सुहृत्, इत्यमरः। जबोऽथ शीघ्रं त्वरितं लघु क्षिप्रं मरं द्रूतम्, इत्यमरः। कुम्भः कुटजेऽर्जुने, इति शब्दार्थः। क्षेपो विलम्बे निन्दा-

याम्, इति विश्वः । मयूरो वर्हिणो वर्हीं शुक्लापाङ्गः शिखावलः, इति यादवः ।
केकावाणी मयूरस्य, इत्यमरः ।

टिप्पणी—मत्प्रियर्थ०—ग्रहीं मम प्रियम् मत्प्रियम् इस प्रकार षष्ठी तत्
पुरुष समास हुआ है । “प्रिय” इस उत्तर पद होने के कारण “प्रत्ययोत्तरपद-
योश्च” इस सूत्र में “अस्मद्” शब्द के स्थान पर “मत्” यह आदेश हुआ है ।
यियासोः—यातुमिच्छोः यियासोः प्रापणार्थकं “या” धातु से इच्छा अर्थ में
“सन्” प्रत्यय करके तत् प्रयुक्त द्वित्व; इत्यादि कार्य करके “सनाशंसभिक्ष उः”
इस सूत्र से उप्रत्यय करके “यियासुः” ऐसा रूप बनता है । उक्त रूप उसी शब्द
के षष्ठी विभक्ति का है ॥ २३ ॥

(पाण्डुच्छायोपवनवृत्यः केतकैः सूचिभिन्नैः—

नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।

त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः

सम्पत्स्यन्ते कतिपय-दिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥)

अन्वयः—(हे मेघ !) त्वयि आसन्ने दशार्णाः सूचिभिन्नैः केतकैः
पाण्डुच्छायोपवनवृत्यः गृहबलिभुजाम् नीडारम्भैः आकुलग्रामचैत्याः परिणत-
फलश्यामजम्बूवनान्ताः कतिपयदिनस्थायिहंसाः सम्पत्स्यन्ते ।

व्याख्या—(हे मेघ) त्वयि=मेघे, आसन्ने=समीपस्ये, सति,
दशार्णाः=एतश्नामकाः देशाः, सूचिभिन्नैः=मुकुलाग्रविकसितैः, केतकैः=
केतकीकुसुमैः, पाण्डुच्छायोपवनवृत्यः=पाण्डुरवणिऽरामप्रकाराः, गृहबलि-
भुजाम्=गैहबलिभोक्तृणाम्, काकादीनाभिति भावः, नीडारम्भैः=कुलायश्च-
नाभिः, आकुलग्रामचैत्याः=संकीर्णग्रामवृक्षाः, अश्वत्थादयः परिणतफलश्याम-
जम्बूवनान्ताः=परिपक्वफलकृष्णजम्बुकाननप्रदेशाः, कतिपय-दिनस्थायिहंसाः=किञ्चिद्-दिवस-स्थायिहंसाः, संपत्स्यन्ते=भविष्यन्ति ।

शब्दार्थः—(हे मेघ) त्वयि=तुम्हारे, आसन्ने=आने पर, दशार्णाः=दशार्ण नामक देश, सूचिभिन्नैः=मुकुल के अग्रभाग में खिले हुए, केतकैः=

केतकी के पुष्पों से, पाण्डुच्छायोपवनवृतयः—जहाँ के उद्यान का घेराव पीला-पीला-सा हो गया। गृहबलिभुजाम्=घर की (विश्वेदेव) बलि को खाने वाले (कौए आदि) पक्षियों के, नीडारम्भः=धोसलों की रचना से, आकुल-ग्रामचैत्या.=सङ्क्षीर्ण हो गये हैं पीपल आदि वृक्ष जहाँ के गाँवों के, परिणतफल-स्थायमजम्बूवनान्ता:=जहाँ के जामुन के वन पके हुए फलों से काले हो गये हैं, कतिपयदिनस्थायिहंसा:=जहाँ हंस कुछ दिनों तक रह सकते हैं ऐसे, सम्पत्स्थन्ते=हो जायेंगे ।

भावार्थः—हे मेघ ! त्वयि समीपस्थे सति दशार्णदेशे गृहाऽरामाणां वृतयः किञ्चिद्विकिसि =केतकी—कुसमानान्कान्त्या पीताभा भविष्यन्ति, ग्राम्याः अश्वत्थादयो चृक्षाः बल्यन्नभोजीनां काकादीनां कुलाय-निर्माणैः सङ्क्षीर्ण भविष्यन्ति । तत्रस्थवनप्रान्तभागाः पक्वजम्बूफलैः कृष्णाः भविष्यन्ति, हंसाश्च कतिपयदिवसं यावत् स्थास्यन्ति ।

हिन्दी—हे मेघ ! तुम्हारे समीप आने पर दशार्णदेश के बगीचों का घेराव अद्यखिले केतकी पुष्प के रंग से पीला हो जायेगा, घर में दी गयी बलि को खाने वाले कौए आदि पक्षियों द्वारा धोंसलों के निर्माण से वहाँ के गाँवों के पीपल आदि वृक्ष सङ्क्षीर्ण हो जायेंगे, पके हुए फलों की आभा से वहाँ के जामुन के वन-प्रदेश काले हो जायेंगे, हंस भी वहाँ वर्षाकृतु के कारण कुछ दिन ही ठहरेंगे ।

समाप्तः—पाण्डवी छाया यासां ताः पाण्डुच्छायाः (बहु०) । पाण्डुच्छायाः उपवनानां वृतयः येषु ते=पाण्डुच्छायोपवनवृतयः (बहुत्री०) । आकुलानि ग्रामेषु चैत्यानि येषु ते=आकुलग्रामचैत्याः (बहुत्रीहि०) परिणतैः फलैः स्थायानि यानि जम्बूवनानि (बहुत्रीहि०) तैः अन्ताः—परिणतैः फलस्थायमजम्बू-वनान्ता (वृ० तद०) । कतिपयेषु दिनेषु स्थायिनो हंसा येषु ते—कतिपयदिनस्थायि-हंसाः (बहुत्रीहि०) । सूचीषु भिन्नानि सूचिभिन्नानि (स० तद०) तैः । नीडाना-मारम्भः नीडारम्भः (ष० तद०) तैः । गृहाणां बलयः (ष० तद०) गृहबलीन् भुञ्जत् इति गृहबलिभुजः तेषाम् ।

कोशः—समीपे निकटासन्नसन्निकृष्टसनीडवत्, इत्यमरः । केतकी मुकुलाग्रे-
बुसूचिः, इति शब्दार्णवः । हरितः पाण्डुरः, इत्यमरः । प्रकारो वरणः सालः
प्राचीरं प्रान्ततो वृत्तिः इत्यमरः । धवाङ्क्षात्मपरभूदवलिभूरवायसा अपि,
इत्यमरः । चैत्यमायतने बुद्धवन्द्ये चोददेशपादपे, इति विश्वः ।

टिप्पणी—दशार्णी—यहशब्द अलग-अलग व्युत्पत्ति से अलग-अलग अर्थ-
को कहता है । जैसे—दश ऋणानि (दुर्गभूमयः) येषां ते (बहुब्री०) दशार्णी—
दश + ऋणः, यहाँ “प्रवत्सरकम्बलवसनदशानामृणे” इस सूत्र से “आ” वृद्धि
होकर “उरण् रपरः” से रपर हो गया है । प्रस्तुत व्युत्पत्ति के अनुसार
“दशार्णी” शब्द पुरुषवाची है, जिनके दश दुर्ग हो उन राजाओं को “दशार्णी”
कहा जाता है । तेषां निवासः ऐसा विग्रह करके “तस्य निवासः” से अण्
प्रत्यय होता है । उसका “जनपदे लुप्” से लुप् तो हो जाता है परन्तु “लुपि
युक्तवद्व्यक्तिवचने” इस सूत्र से लिङ्ग और वचन के प्रकृतिभाव हो जाने से
“दशार्णी” यह बहुवचनान्त रूप निष्पन्न होता है । दूसरी व्युत्पत्ति:- ऋण
शब्द का दूसरा अर्थ जल भी है तो दश ऋणानि (जलस्रोतसः) यस्यां सा
“दशार्णी” यहाँ “दशार्णी” नदी अर्थ का बोधक शब्द है । **चैत्याः**—यहाँ
“चैत्य” शब्द अग्निवाचक “चित्य” शब्द से “चित्यस्य इमानि” इस विग्रह में
“तस्येदम्” इस सूत्र से “अण्” प्रत्यय करके आदि वृद्धि करने पर निष्पन्न
होता है न कि “चिता” या “चित्या” शब्द से ॥ २३ ॥

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजघानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्ध्वा ।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्
सञ्चूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥ २४ ॥

अन्वयः—दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणाम् तेषां राजघानीम् गत्वा सद्य-
कामुकत्वस्य अविकलफलं लब्ध्वा यस्मात् स्वादु चलोर्मि वेत्रवत्याः पयः सञ्चू-
भङ्गं मुखम् इव तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि ।

व्याख्या—दिक्षु=दिशासु, प्रथितविदिशालक्षणाम्=प्रसिद्धविदिशेति-नाम्नीम्, तेषां=दशार्णनाम्, राजधानीम्=मुख्यनगरीम्, गत्वा=प्राप्य, सद्यः=तत्क्षणम्, कामुकत्वस्य=विलासितायाः, अविकलम्=समग्रम्, फलम्=लाभम्, लब्धा=प्राप्स्यते भवतेति शेषः । यस्मात्=कारणात्, स्वादु=पेयम्, चलोमि=तरंगसहितम्, वेत्रवत्याः=वेत्रवतीनद्याः, पयः=जलम्, सञ्चूभंगम्=सकटाक्षम् मुखमिव=आनन्दिभव (अधरमिवेतिभावः) तीरोपान्ते=कूलप्रदेशे, (यद्) स्तनितम्=गर्जितम्, तेन सुभगम्=सुन्दरम्=पास्यसि=पानं करिष्यसि ।

शब्दार्थः—दिक्षु=दिशाओं में, प्रथितविदिशालक्षणाम्=विश्वात् विदिशा नाम वाली, तेषाम्=दशार्ण देशवालों की, राजधानीम्=राजधानी में, गत्वा=जाकर, कामुकत्वस्य=कामुकता का, अविकलम्=सम्पूर्ण, फलम्=फल को, लब्धा=प्राप्त करोगे । यस्मात्=क्योंकि, स्वादु=मधुर, चलोमि=तरंगयुक्त, वेत्रवत्याः=वेत्रवती नदी के, पयः=जल को, सञ्चूभंगम्=कटाक्षयुक्त, मुखमिव=मुख की तरह (अधर के समान) तीरोपान्तस्तनितसुभगम्=तट के पास गजें से सुन्दर, पास्यसि=पान करोगे ।

भावार्थः—हे मेघ ! विदिशाभिष्ठेयां दशार्णनां राजधानीं गत्वा तत्र त्वं तत्क्षणमेव विलासिताया अशेषं लाभं लप्स्यसे । यतस्तत्र वेत्रवत्याः नद्याः मधुरं तरंगयुक्तं जलं कस्याश्रिन्नायिकायाः कटाक्षयुक्तमधुरमिव तटप्रान्ते गजेनान्तरं पास्यसि ।

हिन्दी—हे मेघ ! तुम विश्वात् विदिशा नामावली दशार्णा देश की राजधानी में जाकर तुरन्त विलासिता के सम्पूर्ण फल को प्राप्त कर लोगे । क्योंकि वहाँ वेत्रवती के मधुर एवं तरंगयुक्त जल को, किसी नायिका के कटाक्षयुक्त अधर के समान तटप्रान्त में गजें के बाद पान करोगे ।

समाप्तः—प्रथितं “विदिशा” इति लक्षणं यस्याः ताम् प्रथितविदिशालक्षणम् (बहुव्रीहिः) । विगता कला यस्य तद्विकलम् (बहुव्रीहिः) । न विकलम्=अविकलम् (नव् तद्) । चलाः उर्मयो यस्याः तद्=चलोमि (बहुव्रीहिः) ।

भ्रूभङ्गेन सह वर्तमानम् सभूभंगम् (वहुवीहि०) । तीरस्य उपान्तः तीरोपान्तः (ष० तद०) तस्मिन् स्तनितम् (स० तद०) तेन सुभगम् तीरोपान्तस्तनित-
सुभगम् (त० तम०) ।

कोशः—प्रतीते प्रथितस्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः, इत्यमरः । लक्षणं नान्नि
चिह्ने च, इति विश्वः । प्रधाननगरी राजां राजधानीति कथ्यते, इति
शब्दार्णवः । विलासी कामुको कामी, इति शब्दार्णवः । स्तनितं गर्जितं मेघ-
निधोषि रसितादि च, इत्यमरः ।

टिप्पणी—राजधानी—धीयन्ते अस्यामिति धानी, “धा” धातु-से अधिकरण में “करणाधिकरणयोश्च” इस सूत्र से ल्युट् प्रत्यय हुआ है एवं स्त्रीत्व-विवक्षा में डीप् होकर “धानी” यह शब्द निष्पत्त दृढ़ा है । राजां धानी राजधानी । **कामुकत्वस्थ—**कामयते तच्छीलः इस विश्व मे “क्रान्ति” अर्थात् “इच्छा” अर्थं वाले “कमु” धातु से “लषपतपदस्थाभूवृष्टहनकमगशृम्य उक्त्” इस सूत्र से “उक्त्” प्रत्यय किया गया है एवं भित्वात् “तद्दितेष्वचामादे” इस सूत्र से आदिवृद्धि करके “कामुक” ऐसा रूप बना है एवं तस्य (कामुकस्य) भावः इस अर्थ में “तस्य भावस्त्वतलौ” से “त्व” प्रत्यय करके “कामुकत्व” ऐसा साधु होता है । **लब्धा—**“लभ्” धातु के अनश्यतन भविष्यत् अर्थ में “ल्हट्” लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप । “लब्धवा” यह पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ होगा “प्राप्त करके” उक्त रूप उसी धातु से “क्त्वा” प्रत्यय करके बनेगा ।

अलङ्कार—इस श्लोक में लिङ्ग साम्य से नायक-नायिक के व्यवहार का समारोप होने से “समासोक्ति” अलङ्कार है एवं “सभ्रूभङ्गं मुखमिव” यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । इस तरह दोनों अलङ्कारों के अङ्गाङ्गभाव से रहने के कारण यहाँ “संकर” नामक अलङ्कार है ॥ २४ ॥

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्वामहेतो-
स्त्वत्संपर्कात् पुलकितमिव प्रोढपुष्पैः कदम्बैः ।

यः पण्यस्त्री रतिपरिमलोदगारिभिन्नगराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेशभियैं वनानि ॥ २६ ॥

अन्वयः—तत्र विश्रामहेतोः प्रीढपुष्टैः कदम्बैः त्वत्संपर्कात् पुलकितमिव
नीचैराख्यम् गिरिम् अधिवसेः । तः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोदगारिभिः शिला-
वेशमभिः नागराणाम् उद्दामानि योवनानि प्रथयति ।

ब्याख्या—(हे मेघ !) तत्र = विदिशायाम्, विश्रामहेतोः = श्रमापनोद-
नाय, प्रीढपुष्टैः = सुविकसितकुसुमैः; कदम्बैः = नीपैः, त्वत्संपर्कात् = भवत्सा-
हचयति; पुलकितमिव = सलोमहर्षमिव, रोमाञ्चमिवेत्यर्थः, नीचैराख्यम् =
नीचैः नामानम्, गिरिम् = पर्वतम्, अधिवसेः = अधिवासं कुर्याः । यः = नीचैः
पर्वतः; पण्यस्त्रीरतिपरिमलोदगारिभिः = वेश्याकामक्रीडासौरभाविष्ठकुर्वद्धिः
शिलावेशमभिः = पाषाणसदनैः कन्दराभिरित्यर्थः, नागराणाम् = चतुरनगर-
वासिनाम्, उद्दामानि = निर्बन्धानि, उत्कटानीति भावः, योवनानि = तारुण्यानि,
प्रथयति = कथयति ।

शब्दार्थः—तत्र = उस विदिशा में, विश्रामहेतोः = यकावट दूर करने के
लिए, प्रीढपुष्टैः = अच्छी तरह खिले हुए फूलों वाले, कदम्बैः = कदम्ब वृक्षों
से, त्वत्संपर्कात् = तुम्हारे संपर्क से, पुलकितमिव = रोमाञ्चित हुए की तरह,
नीचैराख्यम् = “नीचैः” इस नाम के, गिरिम् = पर्वत, पण्यस्त्रीरतिपरिम-
लोदगारिभिः = वेश्याओं की काम-क्रीडा में (उपयुक्त) सुगन्ध को व्यक्त
करने वाले, शिलावेशमभिः = कन्दराओं के द्वारा, नागराणाम् = नगर निवासियों
के, उद्दामानि = निर्बन्ध (उत्कट), योवनानि = योवन (जवानी) को,
प्रथयति = कहता है (प्रकट करता है) ।

भावार्थः—हे मेघ ! विदिशायां श्रमापनोदनाय कुसुमित-कदम्बवृक्षैः,
रोमाञ्चयुक्तमिव नीचैर्नामिकं पर्वतमधिवासं कुर्याः । यः पर्वतः वेश्यारम्भक्रीडा-
प्रयुक्त-सुगन्धिताभिः कन्दराभिन्नगराणामुत्कटयोवनानि व्यनक्ति ।

हिन्दी—हे मेघ ! विदिशा में विश्राम करने के लिए पूर्णविकसितकदम्ब-
पुष्टों से मानो तुम्हारे सम्पर्क से रोमाञ्च के समान “नीचैः” नामक पर्वत

पर-ठहर जाना । जो पर्वत, वेश्याओं द्वारा काम-कीडा में प्रयुक्त सुगन्धि वाली कन्दराओं के माध्यम से नगरनिवासियों के उत्कट यौवन (जवानी) को व्यक्त कर रहा है ।

समाप्तः—विश्रामस्य हेतु=विश्रामहेतुः तस्य (ष० तद०) । प्रीडानि पुष्पाणि येषु तैः प्रौढपुष्पैः (बहु०) । तब संपर्कः तस्मात् त्वत्संपर्काति (ष० तद०) । नीचैः आख्या अस्य तम् (बहु०) । पण्याः स्त्रियः तासां (बहु०) रतिषु यः परिमलः (स० तद०) तमुदिगिरन्ति तैः पण्यस्त्री-रतिपरिमलोद-शारिभिः, दाम्नः उदगतानि (कुगतिप्रां० तद०) । यूनः भावः यौवनम् तानि ।

कोशः—वारस्त्री गणिका वेश्या पण्यस्त्रीरूपजीवनी, इति शब्दार्थः । विमदोंत्ये परिमलो सन्ध्ये जनमनोहरे, इत्यमरः । पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाशमानः शिलादृष्ट्यत्, इत्यमरः । उदामो बन्धरहिते स्वतन्त्रे च, इति मेदिनी ।

टिप्पणी—विश्रामहेतोः—यद्यपि कई टीकाकार “विश्राम” शब्द को अपाणिनीय कहकर “विश्रान्ति” ऐसा पाठ डस श्लोक में रखते हैं । उनका कहना है कि “श्रमु” धातु से जब “ध्रु” प्रत्यय करेंगे तब उपधावृद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि “नोदात्तोपदेश-मान्तस्याऽनाचामेः” इस सूत्र से उसका निषेध हो जायेगा । सिद्धान्तकौमुदीकार ने भी विश्राम शब्द को अपाणिनीय ही बताया है । परन्तु महाकवि कालिदास को प्रमाद दोष से बचाने के लिए यदि “श्रमु” धातु से स्वार्थ में “णिच्” प्रत्यय लगाकर वृद्धि करके “श्रामि” ऐसा रूप बनाकर उसकी धातु संज्ञा करके वि उपसर्गपूर्वक, “श्रामि” धातु से “एरच्” इस सूत्र से “अच्” प्रत्यय करेंगे (वि+श्रामि+अं) तो “विश्राम” यह रूप सिद्ध हो जायेगा । यदि यह कहें कि पुनःवृद्धि निषेध करेंगे तो नहीं कह सकते क्योंकि उपधावृद्धि निषेध इस सूत्र में “कृति” का अनुवर्तन किया जाता है “णिच्” कृतप्रत्यय से भिन्न है । हाँ ! णिजन्त बनाकर “विश्राम” सिद्ध होने पर भी एक शङ्खा यह आ सकती है कि “मितां हस्तः” से वृद्धि को पुनः हस्त होना चाहिए, परन्तु यह सूत्र विकल्प से हस्त करता है, क्योंकि “वा” की अनुवृत्ति जाती है ।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि “णिच्” प्रत्यय स्वार्थ में है “प्रेरणा” में नहीं ताकि अर्थभेद को आपत्ति आ सके। कवि को इस दोष से बचाने के लिए मलिलनाथजी “विश्रामो वा” इस सूत्र को प्रस्तुत करते हैं, उनका कहना है कि यह सूत्र चान्द्र व्याकरण का है। कुछ लोगों का कहना है कि यह सूत्र जैनेन्द्र व्याकरण का है। जो कुछ भी हो, किसी भी व्याकरण से सिद्ध तो है ही, परन्तु पाणिनि नहीं सिद्ध कर सके। महोपाध्याय मलिलनाथजी ऊपर णिजन्तादि प्रक्रिया की अपेक्षा “श्रमणं श्रमः, भावे वच्” और श्रम शब्द से स्वार्थेण् करके “श्रामः” शब्द सिद्ध करके पुनः विगतः श्रामो यस्मिन् इति “विश्रामः” यह प्रक्रिया भी सरल और लघु होते हुए दोष विघातक भी है। पुलकितम्—“पुलकाः सञ्जाता यस्य” इस विग्रह में “तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्” इस सूत्र से “इतच्” प्रत्यय करके “पुलकित” यह रूप बना है। उक्त रूप इसी शब्द के द्वितीया के एक वचन का है। पृथ्यस्त्री०—यहाँ “पृथ्य शब्द” “पणितुं योग्या” इस विग्रह में निन्दा अर्थ में “अवव्यपृथ्यवर्या गर्हणपणितव्याऽनिरोधेषु” इस सूत्र से निपातन किया गया है। उद्गारिभिः—यहाँ उद्गार शब्द का प्रयोग गौणवृत्त्या होने के कारण जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलता नहीं आ पायी है। क्योंकि दण्डी की “निष्ठृतोदगीर्णं०” वाली पंक्ति इसका प्रमाण है॥ २५॥

विश्रान्तः सन् व्रज वननदीतीरजातानिसिञ्च-
न्तुद्यानानां नवजलकण्ठूयिका—जालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानाम्
छायादानात् क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—तत्र विश्रान्तः सन् वननदीतीर-जातानि उद्यानानाम् यूयिका-जालकानि नवजलकण्ठैः सिञ्चन् गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानाम् पुष्पलावीमुखानाम् छायादानात् क्षणपरिचितः (सन्) ।

व्याख्या—तत्र = विदिशायां स्थिते नीचैः गिरौ, विश्रान्तः सन्=गतश्रमः सन्, वननदीतीरजातानि=वन्यसरित्कूलोदभवानि, उद्यानानाम्=आरामाणाम्,

यूथिकाजालकानि=मागधीपुष्ट कुड्मलानि, नवजलकणैः=नूतन सलिलविन्दुभिः, सिच्चन्=आद्रेयन्; गणस्वेदापनयन-रुजाक्लान्तकर्णोत्पलानाम्=कपोलस्वेदा-पनयनरीडाक्षामश्रोत्रपद्मानाम्; पुष्पलावीमुखानाम्=पुष्पावचायिकावदनानाम्; छायादानात्=अनातपीकरणात्, क्षणपरिचितः=किञ्चित्कालेन ज्ञातः, (सन्) ब्रज=गच्छ ।

शब्दार्थः—तत्र=उस “नीचैः” नामक पर्वत पर; विश्रान्तः सन्=विश्राम करके, बननदीतीरजातानि=जंगली नदियों के किनारे उत्तम, उद्यानानाम्=बगीचों के, यूथिकाजालकानि=माधवी की कलियों को, नवजलकणैः=नूतन-जलर्वदों से, सिच्चन्=सींचता हुआ, गणस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानाम्=जिसके कानों में (पहने गये) कमल गालों पर (ढूते हुए) पसीने को पोछने के कारण मुरक्का गये हैं, ऐसे, पुष्पलावीमुखानाम्=फूल तोड़नेवाली महिलाओं के मुखों का, छायादानात्=छाया देने के कारण, क्षणपरिचितः=कुछ समय के लिए परिचित होकर, ब्रज=जाना ।

आदार्थः—(हे मेघ !) नीचैरद्वौ विश्रम्य नदीतटोत्पन्नानि आरामाणां मागधीकुसुमकुड्मलानि नूतनजललवैराद्रीकुर्वन् पुष्पावचयनपरायणानां नारीमुखानां गणस्वेदमेंजलदूरीकरणे म्लानकणोऽभरणीभूतपद्मानां छायाप्रदानेन किञ्चित्कालाय परिचितः सन् गच्छ ।

हिन्दी—(हे मेघ !) वहाँ नीचैः नामक पर्वत पर विश्राम करके जंगली नदियों के तट पर विद्यमान बगीचों के जूही पुष्प की कलियों को नवीन जलकणों से सींचता हुआ, जिनके कानों में पहिने गये कमल गालों पर बहते हुए पसीनों को पोछने के कारण मुरक्का गये हैं, ऐसी फूल तोड़ने वाली महिलाओं के मुख को छाया प्रदान करने के कारण कुछ समय के लिए परिचित होकर (आगे) जाना ।

समाप्तः—वने या नदः तासां तीरेषु जातानि=वननदीतीरजातानि (बहुवीरो) । नवजलानां कणस्तैः (ष० तत्०) नवजलकणैः । गणयोःस्वेदः=गणस्वेदः (स० तत्०) गणस्वेदस्य अपनयनम् गणस्वेदापनयनम् (ष० तत्०), तेन रुजा (तृ० तत्०) तया क्लान्तानि (तृ० तत्०) गणस्वेदापनयनरुजाक्लान्तानि,

कर्णयोः उत्पलानि कर्णोत्पलानि (स० तद०) गण्डस्वेदापनयनहुजाकलान्तानि कर्णोत्पलानि येषां तानि; तेषाम् (बहुनीहि०) । पुष्ट्राणि लुलन्तीति पुष्टलाभ्यः तासां मुखानि=पुष्टलावीमुखानि (ष० तद०) तेषाम् । छायायाः दानं तस्माद् (ष० तद०) । क्षणं परिचितः=क्षणपरिचितः (द्वि० तद०) ।

कोशः—पुमानाक्रीड उद्यानं राजः साधारणं वनम्, इत्यमरः । मागधी, गणिका यूथिकाऽम्बष्टा, इत्यमरः । कोरकजालककलिकाकुड्मलमुकुलानि तुल्यानि, इति हलायुधः । रुजा रोगे च भंगे, इति मेदिनी । छाया सूर्यप्रिया-कान्तिः प्रतिव्रिम्बमनातपः, इत्यमरः । अव्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः, इत्यमरः ।

टिष्पणी-विश्रान्तः—वि उपसर्गपूर्वक “श्रम्” धातु से “क्त” प्रत्यय करके “विश्रान्त” ऐसा रूप निष्पन्न किया जाता है । **सिञ्चन्**—“सिच्” धातु जिसका अर्थ है आद्रीकरण, से लट् लकार लाकर उसके स्थान पर “लटः शतृ०” इत्यादि सूत्र से “शतृ” प्रत्यय करके नुमादि लाकर सिञ्चन् ऐसा रूप बनता है । **पुष्टलावी**—पुष्ट उपवदपूर्वक छेदनार्थक “लू” धातु से कर्म में “कर्मण्यन्” इस सूत्र से अण् प्रत्यय करके वृद्धि करके स्त्रीत्व विवक्षा में “टिङ्डाणव्” इत्यादि सूत्र से “डीप्” करके पुष्टलावी शब्द बना है । यहाँ “कुगतिप्रादयः” से पुष्ट और लावी का समाप्त हुआ है ॥ २६ ॥

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
शौघोत्सङ्ग-प्रणय-विमुखो मास्म-भूदुज्जयिन्याः ।
विद्युदाम-स्फुरित-चकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गयंविन रमते लोचनैवश्चितोऽसि ॥ २७ ॥

अन्वयः—उत्तराशाम् प्रस्थितस्य भवतः पन्था यदपि वक्रः उज्जयिन्याः सौघोत्सङ्ग-प्रणय-विमुखः मास्मभूः । तत्र विद्युदामस्फुरितचकितैः लोलाङ्गैः पौराङ्गनानाम् लोचनैः यदि न रमसे वच्चित असि ।

व्याख्या—उत्तराशाम् उदीर्णीं दिशं प्रति, प्रस्थितस्य =गच्छतः, भवतः=मेघस्य, पन्था=मार्गः, यदपि=यद्यपि, वक्तः=अनुजुः, (तथापि) उज्जयिन्याः=विशालायाः, सौधोत्सङ्गः-प्रणयविमुखः = हर्ष्येष्वभागपरिचयपराङ्मुखः, मास्मभूः=मा भव । तत्र = उज्जयिन्याम्, विद्युदामस्फुरितचकितैः=तडिल-तादीर्तिचञ्चलैः, लोलापाङ्गैः=चञ्चलकटाक्षैः, पौराङ्गनानाम्=नागरिक-बनितानाम्, लोचनैः=नेत्रैः, यदि=चेत्, (त्वम्) न रमसे=न क्रीडसि, (तहि) वच्चितोऽसि=प्रतारितोऽसि ।

शब्दार्थः—उत्तराशाम् = उत्तर दिशा की ओर, प्रस्थितस्य=प्रस्थान किये हुए, भवतः=आपका, पन्था=मार्ग, यदपि=यद्यपि, वक्तः=टेढ़ा है तथापि, उज्जयिन्याः=उज्जयिनी के, सौधोत्सङ्गः-प्रणयविमुखः=ऊँचे महलों के ऊपरी भाग के परिचय से पराङ्मुख, मास्म भू=मत होइयेगा । तत्र = उज्जयिनी के उन महलों पर, विद्युदामस्फुरित-चकितैः=विद्युलता की चमक से भौचक्की, लोलापाङ्गैः=चञ्चल कटाक्षों वाली, पौराङ्गनानाम्=नागरिक रमणियों के, लोचनैः=आँखों से, यदि न रमसे=यदि विहार (रमण) नहीं किया तो अपने को, वच्चितोऽसि=प्रताडित समझो (जीवन-लाभ से ठगा गया समझो) ।

भावार्थः—हे मेघ ! अलकां गन्तु प्रवृत्तस्य ते उज्जयिनी-गमने मार्गः यद्यपि वक्तस्तथापि उज्जयिन्या हर्ष्यप्राप्तादपरिचयाद्विमुखो मा भव । तत्र विद्युलतायाः कान्तिभिश्चकितैः चञ्चलकटाक्षयुक्तैः नागरीणां युवतीनां नयनैः यदि न रमणं करोसि तहि जीवनफलादात्मानं प्रताडित एव जानीहि ।

हिन्दी—हे मेघ ! अलका जाने के लिए प्रवृत्त तुम्हारा मार्ग यद्यपि टेढ़ा होगा, फिर भी उज्जयिनी के ऊँचे महलों की छतों के परिचय करने से विमुख भत होना । विजली की रेखा की चमक से भौचक्की, चञ्चल कटाक्षों वाली, नगरवासी स्त्रियों की आँखों से यदि तुमने विहार नहीं किया (तो जीवन-लाभ से) अपने को वच्चित ही समझो ।

समाप्तः—उत्तरा चेयमाशा उत्तराशा (कर्म० धा०) ताम् । सौधानाभूत्सङ्गः सौधोत्सङ्गः (ष० तत०) तेषु प्रणयः (स० तत०) तस्मिन् विमुखः

(स० तद०) सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखः । लोला अपाङ्गा येषु तानि लोलापाङ्गानि (बहुवी०) तैः विद्युतः दामानीव विद्युदामानि (उपमित० तद०) विद्युदाम्नां स्फुरितानि तैः—विद्युदामस्फुरितैः (ष० तद०) चकितस्तैः । पौराश्च ताः अङ्गनाः (कमं० धा०) तासाम् अथवा पौराणाम् अङ्गनाः (ष० तद०) तासाम् ।

कोशः—उत्तरा दिगुदीची स्थात, इत्यमरः । अयनं वत्मंमागाधिवपन्थानः पदवी सृतिः, इत्यमरः । आविद्धं कुटिलं भुम्नं वेलिलतं वक्रमित्यपि, इत्यमरः । विशालोजयिनी समाः, इत्यमरः । उत्पलः प्रणयः स्थात्परिचये याच्छयां सौहृदेऽपि च, यादवः । तडित्सौदामिनी विद्युच्चवच्चला चपला अपि, इत्यमरः । अप ग-स्त्वंगहीनेस्यान्नेत्रान्ते तिलकेऽपि च, इति मेदिनी । लोचनं नयनं नेत्रमित्यमरः ।

टिष्पणी—उत्तराशाम्—यहाँ प्रूर्वक “स्था” (प्रस्थितस्थ के) धातु के अकर्मक होने के कारण उसके योग में उत्तराशा शब्द की “सकर्मक धातु-भियोगे देशः कालो भावो गत्वयोऽव्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्” से कर्म संज्ञा हो जाती है और “कर्मणि द्विनीया” इस सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुई है । **बकः पन्था०**—निर्विन्द्या नदी विन्द्याचल पर्वत से उत्तर की ओर बहती है और “उज्जयिनी ‘निर्विन्द्या’” नदी से पूरब की ओर है जिसे आजकल उज्जैन कहते हैं एवं उत्तरापथ जिधर अलका है निर्विन्द्या से पश्चिम में है अतः अलका जाने वाले के लिए उज्जयिनी जाने का मार्ग टेढ़ा पड़ेगा । उज्जयिनी पहले कभी “मालव” देश की राजधानी थी । यहाँ शिप्रा नदी बहती है एवं महाकालेश्वर का मन्दिर है । आज भी यहाँ दूर-दूर से लोग दर्शन करने जाते हैं । इसे ही विशाला नगरी भी कहते हैं । प्रातःस्मरणीय सात पुष्प पुरियों में उज्जयिनी भी अन्यतम है :—

“अयोध्या मथुरा माया काशी काच्ची ह्यवन्तिका ।

पुरी द्वारावती चैव सप्तता मोक्षदायिकाः ॥

मासमः—यहाँ आशीर्वाद अर्थ से “भू” धातु से मा और स्म के योग में “स्मोत्तरे लङ् च” इस सूत्र में चकार पाठ होने से लङ् लकार आता है एवं

“लुडलड्लक्ष्मदुदात्:” इस सूत्र से प्राप्त अडागम का “न माङ्ग्योगे” इस सूत्र से निषेष हो गया है ॥ २७ ॥

बीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाच्चीगुणायाः

संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।

निविन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सञ्जिपत्य

स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ २८ ॥

अन्वयः— पथि बीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाच्चीगुणायाः स्खलित-
मुभगं संसर्पन्त्याः दर्शितावर्तनाभेः निविन्ध्यायाः सञ्जिपत्य रसाभ्यन्तरः भव !
हि स्त्रीणाम् प्रियेषु विभ्रमः आद्यम् प्रणयवचनम् ।

व्याख्या— पथि = मार्गे, बीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणि-काच्चीगुणायाः =
तरङ्गसञ्चलनशब्दायितपक्षिप्तिकटिवन्धदोरकः यस्याः तस्याः, स्खलितेन =
मदस्खलितेन, मुभगम् = रमणीयम्, यथास्थात्तथा संसर्पन्त्याः = प्रवाहितायाः,
वा निविन्ध्यायाः = एतन्नामिकायाः नन्दाः अथवा कस्याश्चिचन्नायिकायाः,
सन्निपत्य = संयत्य, रसाभ्यन्तरः = जलमध्यगतः अन्तःस्थितशृंगारो वा,
भव, हि = यतः, स्त्रीणाम् = कामिनीनाम्, प्रियेषु = कान्तेषु, (विषये)
विभ्रमः = विलास एव, आद्यम् = प्रथमम्, प्रणयवचनम् = प्रेमवाक्यम् भवति ।
कमिन्यः रतिप्रसंगे स्वकीयामिच्छां हाव-भाव-प्रदर्शनेनैव प्रकटयन्ति, न तु
शब्दतः कथयन्ति लज्जाधिक्यात् । अत्र विलासप्रदर्शनम् आवर्तरूपं नाभि-
प्रदर्शनमेव ।

शब्दार्थः— पथि = मार्गे में, बीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाच्ची गुणायाः =
लहरों के चलने से शब्द करते हुए पक्षियों (हंसादि) की पङ्क्ति ही जिसकी
करघनी है, स्खलित-सुभगं संसर्पन्त्याः = पत्थरों से टकराते हुए (जवानी के
मद से फिसलती हुई जो) बड़ी अच्छी चाल से बह रही है या चल रही
है, दर्शितावर्तनाभेः = जिसने भँवररूपी अपनी नाभि को दिखा दिया है;
(ऐसी) निविन्ध्यायाः = निविन्ध्या नदी के, सन्निपत्य = संपर्क में आकर;

रसाभ्यन्तरः—भीतर जल धारण करने वाला या शृङ्खार रस का आनन्द लेने वाला, भव = हो जाओ, हि = क्योंकि, स्त्रीणाम् = का मिनियों की, प्रियेषु = प्रिय के प्रति, **विभ्रमः**—हाव-भाव विलास प्रदर्शन ही, आद्यम् = पहली, प्रणय-वचनम् = प्रेमप्रार्थना होती है ।

आवार्थः—(हे मेघ !) यस्यास्तरङ्ग-सञ्चलनेन शब्दायमानाः हंसादि-पक्षिणो रसनादोरका इव भवन्ति । उपस्थलने रमणीयं यथास्यात्तथा प्रवहन्त्या जलभ्रमिरूपां नाभिं दर्शयन्त्या वनिताया इव निर्विन्द्याया अन्तः प्रविश्य तद्रसास्वादं विधेहि, यतो हि वनितानां प्रियेषु विलास-प्रदर्शनमेव रतिप्रसंगे प्राथमिकं प्रेमप्रार्थनावाक्यं भवति ।

हिन्दी—(हे मेघ !) मार्ग में लहरों के चलने से शब्द करते हुए पक्षिगण ही जिनकी करधनी के समान हैं, पत्थरों पर गिरती हुई मानो मद से गिरती हुई मनोहरता के साथ बहने वाली तथा जल-भैंवररूपी नाभि को दिखाने वाली निर्विन्द्या नदी के पास पहुँच कर उसका रसास्वादन करो । क्योंकि स्त्रियों का अपने प्रिय के प्रति पहली प्रेम-प्रार्थना विलास प्रदर्शन ही होता है ।

समाप्तः—वीचीनां क्षोभः= वीचिक्षोभस्तेन (ष० तद०) । स्तनिताश्च ते विहगाः सैव काञ्चीगुणो यस्याः, तस्याः (बहु०) स्खलितेन सुभगं यथा स्यात्तथा क्रियाविशेषणं (त० तद०) । आवर्तं एव नाभिः=आवर्तनाभिः “मयूररव्यंसकादयश्च (रूपक-समाप्त०) । रसः अभ्यन्तरे यस्य स रसाभ्यन्तरः (बहुव्रीहि०) ।

कोशः—स्त्रियां वीचिरयोर्मिषु, इत्यमरः । खगे विहङ्गः विहगः विहङ्गम् विहायसः, इत्यमरः, स्त्रीकट्यां मेखलाकाञ्चीसमकीरशना तथा, इत्यमरः । स्यादावतर्त्मभसां भ्रमः, इत्यमरः । शृङ्खारादौ छले वीर्ये सुवर्णे विषशुक्योः । तित्तादावमृते चैव नियसि पारदे धनो, आस्वादे च रसं प्राहुः, इति शब्दार्थवः । आवर्तश्चिन्तने वारिभ्रमे चावर्तने पुमान्, इति मेदिनी ।

टिप्पणी—दीशितः—“दृश्” धातु से क्त प्रत्यय लाकर उक्तरूप निष्पन्न किया जाता है । **निर्विन्द्याः**—विन्द्यात् निष्क्रान्ता = निर्विन्द्या । यहाँ उक्त

विग्रह करके “निरादय” क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या” से समाप्त किया गया है। यहाँ समाप्त कर चुकने के बाद “परबलिलङ्गम् द्वन्द्वत्पुरुषोः” इस सूत्र से उक्त समाप्त के तप्तपुरुष होने के कारण “पर” पद “विन्द्य” की तरह पुंलिङ्गता होनी चाहिए थी, परन्तु उसका निषेध “द्विगुप्रापाऽपश्चात्तलं पूर्वगति समाप्तेषु प्रतिवेदो वाच्याः” इस वातिक से हो जाता है।

अलंकारः—यहाँ विहगश्रेणी जो उपमेय है उसमें उपमानकाञ्चीगुण का, एवं आवर्तं में नाभि का आरोप होने से शब्द हुआ एवं निर्विन्द्या में नायिका का आरोप आर्थ होने से यहाँ “एक देश विवर्ति सांगरूपक” है। इस शब्द में “इलेष” अलङ्कार है। एवं चतुर्थं चरण के द्वारा पूर्वकथित तीनों चरणों के वाक्यों का समर्थन होने से “अर्थान्तरन्यास” नामक अलंकार है। इस प्रकार यहाँ तीनों अलङ्कारों का अंगाङ्गभाव से रहने के कारण “संकर” नामक अलंकार हो गया ॥ २८ ॥

वेणी-भूतप्रतनु-सलिलाऽसावतीतस्य सिन्धुः

पाण्डुच्छाया तटरुहतरु-भ्रंशभिर्जीर्णपर्णः ।

सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती

काश्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥ २९ ॥

अन्वयः—वेणीभूत-प्रतनु-सलिला तटरुहतरु-भ्रंशभिः जीर्णपर्णः पाण्डुच्छाया असौ सिन्धुः विरहावस्थया अतीतस्य ते सौभाग्यं व्यञ्जयन्ती येन विधिना काश्यं त्यजति, सुभग ! सः त्वया एवं उपपाद्यः ।

व्याख्या—वेणी-भूतप्रतनुसलिला =केशपाशीभूतस्वल्पजला, तटरुहतरु-भ्रंशभिः=तीरोत्पन्न-वृक्ष-भ्रंशभिः, जीर्णपर्णः=शुष्कपत्रैः, पाण्डुच्छाया=पीतवर्णा, असौ=एषा, सिन्धुः=एतन्नामिका नदी निर्विन्द्या वा, विरहावस्थया=वियोगावस्थया, अतीतस्य=प्रोवितस्य, ते=मेघस्य, सौभाग्यम्=सुभगत्वम्; व्यञ्जयन्ती=प्रकाशयन्ती, येन=तादृशेन, विधिना=प्रकारेण, काश्यम्=कृशतां, स्वल्पजलताम्, त्यजति=जहाति, हे सुभग=हे मेघ ! सः=तादृशः व्यापारः, त्वयैव=मेघेनैवः, उपपाद्यः=सम्पादनीयः ।

शब्दार्थः—वेणीभूत-प्रतनु-सलिला=पतली चोटी (वेणी) के समान जिसका जल स्वल्प है, तटरुहतरुभ्रंशिभिः=तीरों पर उत्पन्न वृक्षों से गिरे हुए, जीर्णपर्णः=पुराने पत्तों से, पाणुच्छाया=पीले रंग की; असौ सिन्धुः=सिन्धुनाम की नदी (या निर्विन्ध्या), विरहावस्थया=वियोगावस्था के द्वारा, अतीतस्य=प्रोषित, ते=तेरे, सौभाग्यम्=सौभाग्य को, व्यञ्जयन्ती=प्रकाशित करती हुई, येन=जिस, विधिना=प्रकार से, काश्यम्=दुर्बलता को, त्यजति=छोड़े, हे सुभग ! =हे मेघ ! सः=वह उपाय, त्वया एव=तुम्हें ही, उपपाद्यः=करना चाहिए ।

भावार्थः—हे मेघ ! कामिन्याः स्वल्पा वेणीव स्वल्पजलवती सिन्धुः नाम्नी नदी, त्वद्वियोगेन स्वतटोत्पन्नवृक्षात् पतितैः पुराणपत्रैः पीता या तव सौभाग्यशालित्वं सूचयति । अतः येनोपायेन सा कृशतां त्यजेत् तादृशः उपायः त्वया कर्तव्यः ।

हिन्दी—हे मेघ स्त्रियों की चोटी की तरह कम जलवाली, तेरे वियोग के द्वारा, तीर पर उत्पन्न वृक्षों से गिरे पुराने पत्तों के कारण पीली कान्तिवाली सिन्धुनदी तुम्हारे सौभाग्य को सूचित कर रही है । अतः जिस उपाय से उसकी दुर्बलता दूर हो, ऐसा उपाय तुम्हें करना चाहिए ।

समाप्तः—वेणीभूतप्रतनु-सलिला=न वेणी अवेणी (नव० तद०), अवेणी वेणी सम्पद्यते यथा, तथाभूतं वेणीभूतम् (अभूततदभावे चिवः) वेणीभूतं प्रतनु सलिलं यस्याः सा वेणीभूतप्रतनुसलिला (बहुव्रीहि०) तटयोः रुहा तटरुहा (स० तद०) तटरुहात्र ते तरवः=तटरुहतरवः (कर्मधारयः) तेभ्यो ऋंशिभिः तटरुहतरुभ्रंशिभिः (पञ्चमी तद०) । जीर्णानि च तानि पर्णानि जीर्णपर्णानि (कर्म० धा०) तैः जीर्णपर्णः । विरहस्य अवस्था विरहावस्था (ष० तद०) तया । शोभनं भगं (भाग्यम्) यस्य स तत्सम्बुद्धो सुभग ! (बहुव्री०) ।

कोशः—वेणी प्रवेणी, इत्यमरः । स्त्री नदां ना नदे सिन्धुर्देशभेदेऽम्बुद्धौ गच्छे, इति वै जयन्ती । विधिना नियमे काले विद्वाने परमेष्ठिनी, इति मेदिनी । तनुः काये त्वचि स्त्री स्यात् त्रिष्वल्पे विरले कुर्वे, इति मेदिनी ।

टिष्पणी- वेणीभूतप्रतनुसलिला—अवेणी वेणी यथा सम्पद्यते तथाभूतं वेणीभूतम्; यहाँ अभूत तदभाव अर्थ में “वेणी” शब्द से “कृम्बस्तियोगे सम्पद्यतंरि च्चिवः” प्रत्यय होकर एवं “भू” धातु से “क्त” प्रत्यय लाकर “वेणीभूत” ऐसा रूप सम्पन्न होता है (वेणी + च्चिव + भू + क्त) । रुहाः—रोहन्तीति रुहाः, “रुह” धातु से “इगुपथज्ञाप्रीकिर कः” इस सूत्र से ‘‘क’’ प्रत्यय होकर बहवचन की विवक्षा में “रुहाः” ऐसा रूप बना है । **सिन्धुः**—कुछ टीकाकार “सिन्धु” को स्वतन्त्र मालवदेश में बहनेवाली “काला सिन्धु” नदी ही भानते हैं । परन्तु महोपाध्याय मलिनाथजी “सिन्धु” का अर्थ सामान्यतया निर्विन्द्या ही करते हैं । जो भी हो, हमने अपनी व्याख्या में “वा” करके दोनों का उल्लेख कर दिया है ।

अलङ्कारः—इस श्लोक में लिङ्गसाम्य के द्वारा सिन्धु से नायिका का एवं मेघ से नायक का व्यवहार किया गया है, अतः यहाँ “समासोक्ति” नामक अलङ्कार है ॥ २९ ॥

प्राप्यावन्तीनुदयनकथा—कोविदग्रामवृद्धान्-
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम् ।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यहृतमिव दिवः क्रान्तिमत् खण्डमेकम् ॥३०॥

अन्वयः—उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् अवन्तीन् प्राप्य सुचरितफले स्वल्पीभूते गां गतानां स्वर्गिणां शेषैः पुण्यैः हृतं क्रान्तिमत् एकं दिवः खण्डम् इव पूर्वोद्दिष्टाम् श्रीविशालाम् विशालाम् पुरीम् अनुसर ।

ध्याख्या—उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्= वत्सराजकथाविज्ञजनपदवृद्धान्, अवन्तीन्= मालवदेशान्, प्राप्य= गत्वा, सुचरितफले= पुण्यफले, स्वल्पीभूते= क्षीणे सति, “क्षीणे पुण्ये मत्यंलोकं विशन्ति” इति भगवद्वाक्यानुसारम्, गाम्= पृथ्वीम्, गतानाम्= प्राप्तानाम्, स्वर्गिणाम्= देवलोकनिवासिनाम्, शेषैः=

अवशिष्टैः, पुण्यैः=धर्मैः, सुकृतैरिति भावः, हृतम्=अवतारितम्, कान्ति-मत्=उज्ज्वलम्, एकम्=अन्यतमम्, दिवः=स्वर्गलोकस्य, स्पृष्टमिव=शकलमिव, पूर्वोद्दिष्टाम्=पूर्वकथिताम्, श्रीविशालाम्=सम्पत्तिपूरणमि (शोभा-शालिनीम्), विशालाम्=उज्जयिनीम्, पुरीम्=नगरीम्, अनुसर=गच्छ ।

शब्दार्थः—उदयन०=जहाँ के गाँवों के वृद्धलोग उदयन राजा की कथाओं के पण्डित हैं, (ऐसे) अवन्तीन्=अवन्ती देश में, प्राप्य=जाकर, सुचरित-फले=पुण्यफल के, स्वल्पीभूते=क्षीण हो जाने पर, गाम्=पृथ्वी पर, गतानाम्=आए हुए, स्वर्गिणाम्=देवलोक में रहनेवालों के, शेषैः पुण्यैः=अवशिष्ट पुण्यों के द्वारा, हृतम्=लाया गया, कान्ति-मत्=उज्ज्वल, एकम्=एक, दिवः=स्वर्ग के, शकलमिव=टुकड़े की तरह, पूर्वोद्दिष्टाम्=पहले कही गयी, श्रीविशालाम्=सम्पत्ति से परिपूर्ण, विशालाम्=उज्जयिनी, पुरीम्=नगरी को, अनुसर=जाना ।

भावार्थः—हे मेघ ! यत्रत्याः ग्रामवृद्धाः वत्सराजोपाख्यानज्ञातारः सन्ति, तामवन्ति न नगरीं प्राप्य, पुण्यफले क्षीणे सति पृथिव्यामागतानां स्वर्गनिवासिना-मवशिष्टैः पुण्यफलैराहृतं स्वर्गस्यैकं दिव्यं शकलमिवं सम्पत्तिपूर्णं पूर्वकथिता-मुजयिनीं गच्छ ।

हिन्दी—हे मेघ ! जहाँ के गाँवों के वृद्ध लोग राजा उदयन की कथा को जानने वाले हैं ऐसे अवन्तिनगरी में जाकर पुण्यफल के कम हो जाने पर पृथ्वी-पर आये हुए स्वर्गवासियों के बचे हुए पुण्यफलों के द्वारा लाये गये स्वर्ग के एक उज्ज्वल टुकड़े की तरह सम्पत्ति से परिपूर्ण पूर्वोक्त उज्जयिनीनगरी को जाना ।

समाप्तः—उदयनस्यकथा=उदयनकथा (४० तत्०), उदयनकथायां कोविदाः=उदयनकथा-कोविदाः (स० तत्०) । ग्रामे वृद्धाः=ग्रामवृद्धाः (स० तत्०), उदयन-कथा-कोविद-ग्रामवृद्धाः येषु तान् उदयनकथाकोविद-ग्रामवृद्धान् (बह०) । श्रिया विशालाम्=श्रीविशालाम् (तृ० तत्०) । पूर्वम् उद्दिष्टाम्=पूर्वोद्दिष्टाम् (सुप्तुपेति समाप्तः) । विविधाः शालाः यस्यां सा विशाला (बहुत्री०) ताम् ।

कोशः—विद्वान् विपश्चित् दोषजः सन् सुधीः कोविदो ब्रुधः, इत्यमरः । स्यादधर्मस्त्रियां पुण्यं श्रेयसी सुकृतं बृषः, इत्यमरः । शोभा सम्पत्ति पद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव दृश्यते, इति शाश्वतः । विशालात्विन्द्रवारुण्यामुजयिन्यां तु योषिति, इति मेदिनी ।

टिष्पणी—उदयनकथा—विदन्तीति विदाः—ज्ञानार्थकं विद आतु से “इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः” इस सूत्र से क प्रत्यय लाकर “विदाः” यह रूप बना है । ओकसः (वेदस्थान के) विदाः—कोविदाः यहाँ महोपाध्याय मल्लिनाथजी ने “ओकस” शब्द के ओकार का “पृष्ठोदरादीनि यथोपदिष्टम्” इस नियमानुसार लोप करके “कोविद” शब्द की साधृता निष्पत्त करते हैं । अर्थात् “कोविद” शब्द का अर्थ हुआ “वेद” स्थान के जानकार । वत्सराज उदयन की कथा पैशाची भाषा में लिखित सम्प्रति अनुपलब्ध वृहत्कथा में, वृहत्कथामञ्जरी, कथासर्त्त्वागर, भास लिखित “स्वप्नवासवदत्तम्”, रत्नावली, आदि ग्रन्थों में पायी जाती है । **सुचरितफले**—शोभनं चरितं सुचरितम् “कुरुति-प्रादयः” से समाप्त हुआ है । **स्वल्पीभूतम्**—अस्वल्पं स्वल्पं सम्पद्यते यथा तथाभूतम् । इस विश्रह में “स्वल्प” शब्द से अभूततदभाव अर्थ में “च्छ” प्रत्यय एवं “भू” आतु से, “क्त” प्रत्यय लाकर स्वल्पीभूत शब्द की निष्पत्ति होती है । **स्वर्गिणाम्**—स्वर्गमस्त्यस्य इति स्वर्गी । स्वर्ग से “अतः इनठनो” से इन्द्र प्रत्यय लाकर “स्वर्गी” यह रूप बनता है । तेषां स्वर्गिणाम् ।

अलंकारः—यहाँ “विशालाम्” में “दिवः स्वण्डमिव” इस वाक्य के द्वारा स्वर्ग के एक खण्ड की सम्भावना की गयी है अतः “उत्प्रेक्षा” अलंकार हुआ, एवं “श्रीविशालां विशालाम्” यहाँ “यमक” अलंकार हुआ इसलिए दोनों का “संसृष्टि” अलंकार है ॥ ३० ॥

दीर्घीकुर्वन् पदु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चादुकारः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—यत्र प्रत्यूषेषु पटु मदकलम् सारसानाम् कुजितम् दीर्घीकुवंन्
स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः अङ्गानुकूलः शिप्रावातः प्रार्थनाचाटुकारः
प्रियतमः इव स्त्रीणाम् सुरतग्लानिम् हरति ।

व्याख्या—यत्र = विशालायाम्, प्रत्यूषेषु = प्रातःसमयेषु, पटु = स्फुटम्,
मदकलम् = मदेनाव्यक्तमधुरम्, सारसानाम् = पक्षिविशेषाणाम्, कुजितम् =
शब्दम्, दीर्घीकुवंन् = वर्द्धयन्, स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः = विकसित-
पद्मं सुगन्धिसंसर्गं सुरभिः, अङ्गानुकूलः = अवयवानुरूपः, शरीरसुखद इति भावः,
शिप्रावातः = शिप्रानदीपवनः; प्रार्थनाचाटुकारः = रतिरचनाय मधुरभाषी,
प्रियतमः = वल्लभः, इव = यथा, स्त्रीणाम् = कामिनीनाम्, सुरतग्लानिम् =
सम्भोगपरिश्रमम्, हरति = दूरीकरोति ।

शब्दार्थः—यत्र = जहाँ अर्थात् (विशाला में) प्रत्यूषेषु = प्रातःकाल,
पटु = प्रस्फुट, मदकलम् = मद से मधुर, सारसानाम् = सारस पक्षियों के,
कुजितम् = शब्द को, दीर्घीकुवंन् = विस्तृत करता हुआ, स्फुटितकमलामोदमैत्री-
कषायः = विकसित कमलों के सुगन्ध के संसर्ग से सुगन्धित, अङ्गानुकूलः =
शरीर को सुख देने वाला, शिप्रावातः = शिप्रा नदी का वायु, प्रार्थनाचाटुकारः =
रतिक्रिया में (पुनः प्रवृत्त्यर्थ) मधुर-मधुर बोलने वाले, प्रियतम इव = प्रेमी
के समान, सुरतग्लानिम् = संभोग के परिश्रम को, हरति = दूर करता है ।

भावार्थः—हे मेघ ! यस्यां विशालायां प्रातःकाले सारस-पक्षिविशेषाणां
प्रस्फुटं मदेनाव्यक्तमधुरं कलरवं वर्द्धयन् विकसितकमलसुगन्धिसंस्पर्शं सुगन्धितः
सुखदः शिप्रानदीपवनः रतिक्रीडायां पुनः प्रवृत्त्यर्थं मधुरभाषणशीलः वल्लभ इव
कामिनीनां सम्भोगजन्यपरिश्रमं दूरीकरोति ।

हिन्दी—हे मेघ ! जिस विशाला नगरी में प्रातःकाल सारस पक्षियों के
तीक्ष्ण एवं मद से मधुर कलरव को विस्तृत करता हुआ पूर्ण विकसित कमल
की सुगन्धि के सम्पर्क से सुगन्धित शरीर के अंगों को सुख देने वाला
शिप्रानदी का वायु रतिक्रीड़ा में (पुनः प्रवृत्ति के लिए) मीठी-मीठी बातें करने
वाले प्रेमी के समान कामिनियों के सम्भोग के परिश्रम को दूर करता है ।

समाप्तः—स्फुटितानि च तानि कमलानि=स्फुटितकभलानि (कर्म-
आ०) तेषाम् आमोदः (ष० तद०) तेन मैत्री (त३० तद०) तथा कपायः=—
स्फुटितकमलामोदमैत्रीकघायः (त३० तद०) । अदीर्घं दीर्घं करोतीति दीर्घी-
करोति (अभूततद०) । सुरतस्य ग्लानि सुरतग्लानि (ष० तद०) ।
प्रार्थनायां चाटुकारः=प्रार्थनाचाटुकारः (स० तद०) । अङ्गानाम् अनुकूलः
अङ्गानुकूलः (ष० तद०) ।

कोशः—प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यम्, इत्यमरः । ध्वनौ तु मधुरास्फुटे कलः,
इत्यमरः । सरसो मैयुनी कामी गोनदैः पुष्कराह्वयः, इति यादवः । चक्राङ्गः
सारसो हंसः, शब्दार्णवः । मदोरेतसिकस्तूर्यां गर्वे हृष्णे भेदानयोः, इति मेदिनी ।
पटुदीक्षे च नीरोगे चतुरेऽप्यभिघ्येयवत्, इति मेदिनी । रागद्रव्ये कपायोऽस्त्री
नियसि सौरभे रसे, इति यादवः । विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे ।
आमोदः, इत्यमरः ।

टिष्ठणो—सरसि चरन्ति=सारसाः, या सरसि भवाः सारसाः—दोनों
अर्थों में “सरस” शब्द से अण् प्रत्यय लाकर “सारस” शब्द निष्पत्ति किया
जाता है । **मैत्री**—मित्रस्य भावः—मित्र शब्द से भाव या कर्म में ‘‘प्यव्’’
प्रत्यय करके उसके आदि वृद्धि करके खित्वात् “षिदगीरादिभ्यश्च” से डी॒
करके “मैत्री” शब्द की निष्पत्ति होती है । “अङ्गानुकूल” को यदि वायु का
विशेषण मानते हैं तब तो शरीर को सुख देने वाला यह अर्थ होगा, यदि
“प्रियतम्” का विशेषण मानते तब गाढालिङ्गन के द्वारा “नायिका के अङ्गों
को सुख देने वाले” ऐसा अर्थ होगा । अच्छा तो यह होता कि “देहलीदीपक-
न्यायेन” दोनों का विशेषण माना जाता । शिरा नदी उज्जयिनी के समीप
बहती है जो कि बहुत ही प्रसिद्ध नदी है । कुछ लोग यहाँ “प्रार्थना चाटुकारः”
को लेकर “खण्डिता” नायिका के अनुनय की कल्पना करते हैं । परन्तु
महिलनाथजी ने उसका खण्डन इसलिए किया है कि यहाँ खण्डिता नायिका
के साथ पहले संभोग नहीं किया गया और इसलिए अनुनय कर रहा है तो
पुनः उसके “सुरतग्लानि” का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है । अतः यहाँ खण्डिता
नायिका नहीं है बल्कि स्वकीया है जिसके साथ एक बार संभोग कर चुकने

के बाद पुनः प्रवृत्ति के लिए यज्ञी-मांदी नायिका के परिश्रम को चिकनी-चुपड़ी बातों से नायक दूर करता है।

अलंकार—यहाँ पूर्णोपमा नामक अलंकार है ॥ ३१ ॥

'हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शंखशुक्तीः'

शब्द—इयामान्मरकतमणीनुन्मयूख—प्ररोहान् ।

दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणाङ्गं भज्जान्

संलक्ष्यन्ते सलिलनिधय—स्तोयमात्रावशेषाः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—यस्यां कोटिशो विपणि-रचितान् तारान् तरल-गुटिकान् हारान् शंखशुक्तीः शब्दश्यामान् उन्मयूखप्ररोहान् मरकतमणीन् विद्रुमाणां भज्जान् च दृष्ट्वा सलिल-निधयः तोयमात्रावशेषाः संलक्ष्यन्ते ।

व्याख्या—यस्याम्=विशालायाम्, कोटिशः=असंख्यान्, विपणिरचितान्=पर्येषु विक्रयार्थं प्रसारितान्; “अयं शब्दः विशेषणत्वेन सर्वं त्रयं यथालङ्घमन्वीयते देहलीदीपन्यायेन” न्यायं टिप्पण्यां स्पष्टयिष्यते ।” तारान्=विमलान् तरलगुटिकान्=हारमध्यमहारत्नान्; हारान्=मुक्तास्त्रः, शंखशुक्तीः=कम्बुमुक्तास्फोटान्; शब्दश्यामान्=नव-तृणमिव हरितान्, उन्मयूख प्ररोहान्=उदगतांकुरान्, मरकतमणीन्=मरकताख्य-मणि-विशेषान् गारुडरत्नानीति यावत्, विद्रुमाणाम्=प्रवालानाम्, भज्जान्=शक्लान्, च=तथा, दृष्ट्वा=अवलोक्य, सलिलनिधयः=रत्नकराः समुद्रा इत्यर्थः । तोयमात्रावशेषाः=केवल-जलावशिष्टाः, संलक्ष्यन्ते=अनुमीयन्ते । पर्येषु प्रसारितान् तादृशान् रत्नसमूहान् दृष्ट्वा जनाः समुद्रः रत्नहीनः जलमात्रावशिष्ट इत्यनुमीयन्ते ।

शब्दार्थः—यस्याम्=जिस उज्जयिनी नगरी में, कोटिशः=असंख्य, विपणि-रचितान्=(वेचने के लिए) बाजारों में फैलाये गये, तारान्=विशुद्ध, तरलगुटिकान्=जिनमें मध्यमणीमूर्त महारत्न थे, (ऐसे) हारान्=मोतियों की मालाओं को, शंखशुक्तीः=शंखों को एवं सीपियों को, शब्दश्यामान्=नयी धात की तरह गाढ़े हरे रंग की, उन्मयूख-प्ररोहान्=जड़कुरों की तरह जिनकी किरणें ऊपर की

ओर फैल रही हैं, (ऐसे) मरकतमणीन् = “मरकत” नामक मणियों को, विद्वु-
माणां = मूँगों के, भज्जान् = टुकड़ों को, दृष्ट्वा = देखकर, सलिलनिधयः =
समुद्र, तोयमात्रावशेषाः = केवल जल वाला, संलक्षण्यन्ते = दिस्वाई देते हैं ।

भावार्थः—हे मेघ ! यस्यामुज्जयिन्यां पथ्येषु विक्रयाथं प्रसारितान् बहून्
बहुमूल्यमुक्तात्म तः शङ्खान् शुक्तीः हरितवर्णान् मनोरमाऽङ्गकुरान् मरकतमणीन्
प्रवालशकलांश्च विलोक्य जनाः रत्नाकराः समुद्राः जलमात्रावशिष्टाः सञ्जाता
इत्यनुभीयन्ते ।

हिन्दी—हे मेघ ! जिस उज्जयिनी नगरी में बाजारों में बेचने के लिए
फैलाये गये असंख्य बहुमूल्यमौतियों की मालाओं को, जिनमें कि मध्यमणीभूत
महारत्न लगे हैं, शङ्खों को, सीपियों को, घास की तरह गाढ़े हरे रंग की जिनकी
किरणें ऊपर की ओर फैल रही हैं, ऐसे मरकत मणियों को, और मूँगों के
टुकड़ों को देखकर लोग, समुद्र को केवल जलवाला ही (रत्न-विहीन) समझेंगे ।

समाप्तः—विपणिषु रचिता विपणिरचिताः (स० तत०) तान् । तरलाः
गुटिकाः येषु ते (बह०) तान् शङ्खांश्च शुक्तींश्च तान् (द्वन्द०) । उदगताः मयूखाः
येषां ते उन्मयूखाः (बह०) तान् । उन्मयूखाः तादृशाः प्ररोहाः येषां ते उन्मयूख-
प्ररोहाः (बह०) तान् । तोयमेव तोयमात्रम् (रूपक-समाप्तः) तोयमात्रमवशेषो
येषान्ते तोयमात्रावशेषाः (बह०) । शश्पाणीव श्यामान् (उपमितकमं०) ।

कोशः—तरलो हारमध्यगः, इत्यमरः । पिण्डे मणौ सहारत्ने गुटिकावद्द-
पारदे, इति शब्दार्णवः । मुक्तास्फोटः स्त्रियां शुक्तिः श्वसः स्यात् कम्बुरस्त्रियाम्,
इत्यमरः । शष्पोः बालतृणं घासः, इत्यमरः । किरणोत्तमयूखांशुगभस्तिष्ठृणि-
रशमयः, इत्यमरः ।

टिष्ठणी—संलक्षयते—यह रूप “सम्” उपसर्वपूर्वक णिजन्त “लक्ष”
घातु के प्रथमपुरुष के बहुवचन का है । यह घातु आत्मनेपदी है ‘कर्म में णिच्
का विद्यान किया गया है ।

(प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जहे
 हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः ।
 अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाटच इर्पा-
 दित्यागन्तून् रमयति जनौ यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥)

अन्वयः—अत्र वत्सराजः प्रतोद्यतस्य प्रियदुहितरम् जहे । अत्र तस्यैव राज्ञः हैमम् तालद्रुमवनम् अभूत् अत्र किल नलगिरिः दर्पात् स्तम्भम् उत्पाटच उद्भ्रान्तः यत्र इति अभिज्ञः जनः आगन्तून् बन्धून् रमयति ।

व्याख्या—अत्र = उज्जयिन्याम्, वत्सराजः = वत्सदेशाधिपः उदयन इति भावः, प्रद्योतस्य = प्रद्योताभिषेयस्य, उज्जयिनीनरेशस्येति भावः, प्रियदुहितरम् = प्रियां पुत्रीम्, वासवदत्तामिति भावः, जहे = अपहृतवान् । अत्र = उज्जयिन्याम्, तस्यैव = प्रद्योतस्यैव, राज्ञः = नरेशस्य, हैमम् = सुवर्णमयम्, तालद्रुमवनम् = तालबृक्षकाननम्, अभूत् = आसीत् । अत्र = उज्जयिन्याम्, नलगिरिः = नलगिरि-नामको हस्ती, दर्पात् = मदात्, स्तम्भम् = स्थाणुम्, उत्पाट्य = उदधृत्य, उद्भ्रान्तः = उद्भ्रमणं चकार, इति = अनेन प्रकारेण, अभिज्ञः = पूर्वोक्तकथा-कोविदः, जनः = नरः, आगन्तून् = प्रागधुणिकान्, अन्यस्मात् देशादागतान्, बन्धून् = बान्धवान्, रमयति = विनोदयति ।

शब्दार्थ—अत्र = उज्जयिनी, में वत्सराजः = वत्सदेश के राजा (उदयन) प्रद्योतस्य = प्रद्योतनामक, उज्जयिनी नरेश की, प्रियदुहितरम् = प्रिय पुत्रीका (वासवदत्ता का), जहे = अपहरण किया था । अत्र = इसी उज्जयिनी में, तस्यैव = प्रद्योत, राज्ञः = नरेश का ही, हैमम् = स्वर्णमय, तालद्रुमवनम् = तालबृक्षों का वन, अभूत् = था । अत्र = यहाँ, किल = निश्चय ही, नलगिरिः = नलगिरि नामक राजा का हाथी, दर्पात् = मदमत्त होकर, स्तम्भम् = खूंटे को, उत्पाट्य = उखाड़कर, उद्भ्रान्तः = घूमा करता था, यत्र = जहाँ, इति = इस प्रकार से अभिज्ञः = उदयन-वासवदत्तादि की कथाओं के जानकार, जनः = लोग, आगन्तून् = दूसरे देशों से आये हुए, बन्धून् = बान्धवों का, रमयति = (मन) बहलाया करते हैं ।

भावार्थः—हे मेघ ! उदयन उज्जयिन्यामेव वासवदत्तामपहृतवान् । अत्रैव प्रद्योतस्य राज्ञः सौवर्णं तालवृक्षकाननमासीत्, अस्मिन्नेव प्रदेशे नलगिरिनामा उज्जयिनीनरेशगजः मदात् स्थूणमुत्पाट्य बन्ध्राम, एतादृशीः कथाः श्रावयित्वा कथाज्ञाता जनः देशान्तरादागतानां बान्धवानां मनांसि रमयति ।

हिन्दी—हे मेघ ! इसी उज्जयिनी में उदयन ने वासवदत्ता का अपहरण किया था । यहीं प्रद्योत का सोने का बना तालवृक्षों का बन था । इसी उज्जयिनी में, नलगिरि नाम के राजा का हाथी मदमत्त होकर खम्भों को उखाड़कर धूमा करता था, इस प्रकार की कथाओं को कहकर जानकार लोग दूसरे देश से आये हुए बन्धुओं का मनोविनोद किया करते हैं ।

समासः—वत्सानां राजा=वत्सराजः (४० तद०) । प्रिया चासौ दुहिता च ताम्=प्रियदुहितरम् (कर्म० धा०) । तालानां द्रुमाः=तालद्रुमाः (४० तद०) तेषां वनम् तम् तालद्रुमवनम् (४० तद०) ।

कोशः—दर्पोऽवलेपोऽहङ्कारः, इत्यमरः । वार्तासंभाव्ययोः किल, इत्यमरः । अब्रीणे नियुणभिज्ञनिष्ठातशिक्षिताः, इत्यमरः । स्युरावेशिक आगन्तुरतिथिनां गृहागते, इत्यमरः ।

टिक्पणी—वत्सराजः—यहाँ वत्स पद का राजा के साथ समास हो जाने पर “राजाऽहःसत्त्विभ्यष्टच्” इस सूत्र से “टच्” प्रत्यय हुआ है ।

अभिज्ञः—“अभि जानातीति” इस विग्रह में “अभि” पूर्वक ज्ञानार्थक “ज्ञा” धातु से “आतश्चोपसर्गं कः” इस सूत्र से “क” प्रत्यय लाकर “अभिज्ञ” ऐसा रूप बना है ।

अलंकार—जयदेव के “भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षाददर्शनवर्णनम् ।

अलं विलोक्याद्यापि युध्यन्तेऽत्र सुराऽसुराः ॥”

इस लक्षण के अनुसार यहाँ “भाविक” नामक अलङ्कार है, क्योंकि यहाँ वत्सराजादि के बीते हुए इत्तान्त का साक्षात् दर्शन के समान कथन है ॥

(पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः
 शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदाद् ।
 योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः
 प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहास-व्रणाङ्कः ॥)

अन्वयः—यत्र वाहाः पत्रश्यामाः दिनकरहयस्पर्धिनः शैलोदग्राः करिणः प्रभेदाद् त्वमिव वृष्टिमन्तः योधाग्रण्यः संयुगे प्रतिदशमुखम् तस्थिवांसः चन्द्रहासव्रणाङ्कः प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः ।

व्याख्या—यत्र=उज्जयिन्याम्, वाहाः=घोटकाः, पत्रश्यामाः=पण-श्यामाः हरितवर्णाः इत्यर्थः; दिनकरहयस्पर्धिनः=सूर्यश्वतुल्याः, वर्णन वेगेन च सूर्यश्वतुल्या इति भावः । शैलोदग्राः=पवर्तेवोच्छ्रुताः, करिणः=गजाः, प्रभेदाद्=मदजलमानात्, त्वमिव=भवत्समानः, मेघेवेत्यर्थः, वृष्टिमन्तः=वर्षणशीलाः सन्तीति शेषः । योधाग्रण्यः=सेनानायकाः, संयुगे=शुद्धे, प्रतिदशमुखम्=रावणसमक्षम्, तस्थिवांसः=स्थिताः, चन्द्रहासव्रणाङ्कः=रावणकरवाल-क्षतचिह्नैः, प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः=तिरस्कृतभूषणकान्तिवन्तः सन्तीति भावः ।

शब्दार्थः—यत्र=जिस उज्जयिनी में, वाहाः=घोड़े, पत्रश्यामाः=पत्ते के समान हरे रंग के, दिनकरहयस्पर्धिनः=सूर्य के घोड़ों से, रंग में एवं वेग में होड़ लेने वाले हैं । शैलोदग्राः=पवर्त के समान ऊंचे, करिणः=हाथी, प्रभेदाद्=मदजल के गिरने के कारण, त्वमिव=तुम्हारी तरह, वृष्टिमन्तः=वर्षा वाले हैं । योधाग्रण्यः=श्रेष्ठ योद्धा-गण, संयुगे=युद्ध में, प्रतिदशमुखम्=रावण के सम्मुख, तस्थिवांसः=स्थिर होकर (उसके विरुद्ध होकर,) चन्द्रहासव्रणाङ्कः=रावण के तलवार के प्रहार के चिह्नों से, प्रत्यादिष्टाभरणरुचयः=आभूषणों को तिरस्कृत करने वाली कान्ति से युक्त है ।

भावार्थः—हे मेघ ! यत्रत्या अश्वा: हरितवर्णत्वात् वेगाच्च सूर्यश्वसंघवर्णशीलाः सन्ति, पवर्तसमानोच्चाः गजाः मदजलवर्षणात् वृष्टिमन्तः सन्ति, श्रेष्ठाः

योद्धारः रणे रावणं प्रतियुद्धयन्तस्तदीयखड्गप्रहारचिह्नैः प्रत्यारूप्याताऽमरण-
कान्तयः सन्ति ।

हिन्दी—हे मेघ ! जहाँ बोडे हरे रंग के होने के कारण (और वेग के कारण) सूर्य के धोड़ों से होड़ लेने वाले हैं, पर्वत के समान ऊँचे हाथी मदजल के गिरने से वृष्टि वाले हैं एवं श्रेष्ठ योद्धागण युद्ध में रावण के विहृद्ध युद्ध करते हुए रावण के खड्ग के प्रहार-चिह्न से युक्त होकर आभूषण को तिरस्कृत करने वाली कान्ति से युक्त हैं ।

समासः—पत्रमिभूत्यामाः—पत्रश्यामाः (कर्मधारयः) । दिनकरस्य हयाः
—दिनकरहयाः (४० तद०) तैः स्पृष्टं तत्त्वं च इति दिनकरहयस्पृष्टिनः ।
चन्द्रहासस्य व्रणानि चन्द्रहासव्रणानि (४० त०) तान्येव अङ्गास्तैः चन्द्रहास-
व्रणाङ्गैः (रूपकसमासः) । आभरणानां रुचयः आभरणरुचयः (४० तद०)
प्रत्यादिष्टा आभरणरुचयो यैस्ते—प्रत्यादिष्टाऽभरणरुचयः (बहू०) ।

कोशः—वाजिवाहाऽर्बंगन्धर्वहयसैन्द्यवसप्तयः, इत्यमरः । खड्गे तु निर्स्त्रिश-
चन्द्रहासाऽसिरिष्टयः, इत्यमरः । स्युः प्रभारूपरुचित्वद्भाभाश्छविद्युतिदीपयः,
इत्यमरः ।

टिप्पणी—वाहाः—“वह” धातु से धन् प्रत्यय करके “वाह” ऐसा रूप
बनाया जाता है । दिनकरः—करोतीति करः दिनं करोतीति दिनकरः ॥

जालोद्गोर्णेरूपचित्वपुः केशसंस्कारधूपै-
बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः ।
हृयेष्वस्याः कुमुमसुरभिष्वध—खेदं नयेथाः
लक्ष्मीं पश्येल्ललितवनितापादरागाङ्कतेषु ॥ ३२ ॥

अन्वयः—जालोदणीर्णः केशसंस्कारधूपैः उपचित्वपुः बन्धुप्रीत्या भवन-
शिखिभिः दत्तनृत्योपहारः कुमुमसुरभिषु ललितवनितापादरागाङ्कतेषु, हर्म्येषु
अस्याः लक्ष्मीम् पश्यन् अष्वखेदम् नयेथाः ।

व्याख्या—जालोदगीर्णः=वातायननिर्गतिः, केशसंस्कारधूपैः=कामिनीवेणी संस्कृतधूपैः, उपचितवपुः=परिपुष्टदेहः, वन्धुप्रीत्या=वान्धवस्नेहेन, भवन-शिखिभिः=सदनमयूरैः, दत्तनृत्योपहारः=प्रदत्तनर्तनोपहारः, कुसुमसुरभिषु=पुष्प सौरभेषु, ललितवनितापादरागाङ्क्षतेषु=सुन्दराङ्गनाचरणलाक्षाचित्तिः-तेषु, हर्म्येषु=अट्टालिकासु, अस्याः=उज्जयिन्याः, लक्ष्मीम्=शोभाम्, पश्यन्=विलोकयन्, अष्वखेदम्=मार्गपरिश्रमम्, नयेथाः=दुरीकुश ।

शब्दार्थः—जालोदगीर्णः=जालियों से (खिड़की से) निकलते हुए, केश-संस्कारधूपैः=(कामिनियों के) केशों को सुगन्धित करने वाले धूप से, उपचितवपुः=परिपुष्ट देह वाला, वन्धुप्रीत्याः=वान्धव स्नेह से, भवनशिखिभिः=घर के (पालतू) मोरों द्वारा, दत्तनृत्योपहारः=जिसे नृय का उपहार दिया गया है, कुसुम-सुरभिषु=फूलों के सुगन्ध से सुगन्धित, ललितवनितापादरागाङ्क्षतेषु=सुन्दर स्त्रियों के पैरों में लगे महावर के चित्त से चित्तित, हर्म्येषु=महलों में, अस्याः=इस उज्जयिनी की, लक्ष्मीं=शोभा को, पश्यन्=देखता हुआ, अष्वखेदम्=रास्ते के परिश्रम को, नयेथाः=दूर करना ।

भावार्थः—हे मेघ ! तत्रोज्जयिन्यां वातायनमार्गनिर्गतिः कामिनीकच-वासनार्थः: गन्धद्रव्यधूपैः परिपुष्टशरीरः भ्रातृस्नेहेन सदनमयूरेण नृत्यद्वारा कृतातिथ्यः (त्वम्) पुष्पपरिमलेषु सुन्दरललनाचरणालक्ष्मितेषु भवनेषु उज्जयिन्याः शोभामवलोकयन् मार्गमनजन्यपरिश्रममपनय ।

हिन्दी—हे मेघ ! वहाँ उज्जयिनी में खिड़की की जालियों से स्त्रियों के केशों को सुगन्धित करनेवाले धूप से परिपुष्ट देहवाले भ्रातृस्नेह से घर के पालतू मयूरों के द्वारा सत्कृत तुम पुष्प के सुगन्ध से सुगन्धित, सुन्दर स्त्रियों के पैरों में लगे महावर के चित्तों से युक्त महलों में उज्जयिनी की शोभा को देखते हुए मार्ग में चलने के कारण उत्पन्न परिश्रम को दूर करना ।

समाप्तः—जालेभ्यः उद्गीर्णः तैः (ष० तद०) । केशानां संस्कारः केश-संस्कारः (ष० तद०) तस्य धूपस्तैः (ष० तद०) । वन्धोः प्रीतिः तया वन्धु-प्रीत्या (ष० तद०) । उपचित्तं वपुर्यस्य स उपचितवपुः (बह०) । भवनेषु

शिखिनः भवनशिखिनः तैः (स० तद०) । नूत्यमेवोपहारः नूत्योपहारः (रूपक-
समासः) इत्तः नूत्योपहारः यस्मै सः (बहुब्रीहिः) । कुसुमैः सुरभिषु = कुसुम-
सुरभिषु (त्र० तद०) । ललिताश्री ताः वनिताः = ललितवनिताः (कर्म०धा०),
पादयोः रागः = पादरागः (स० तद०) ललितवनितानां पादरागः = ललित-
वनितापादरागः (प० तद०) तेन अद्वृतेषु (त्र० तद०) = ललितवनिता-
पादरागाद्वृतेषु ।

कोशः—जालं गवाक्ष आनाये जालके कपटे गणे, इति यादवः । निदिग्धो-
पचिते, इत्यमरः । उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा, इत्यमरः । ललितं त्रिषु
सुन्दरम्, इति शब्दार्थं । अयनं वत्मं मार्गाऽध्यः, इत्यमरः । हर्म्यादि धनिनां
वासः, इत्यमरः ।

टिष्पणी—उद्गीर्णः—“उद्” उपसर्गपूर्वक निगरणार्थक “गृ” धातु
से “क्त्” प्रत्यय करके णत्व करके “उद्गीर्णः” ऐसा रूप बनता है । **संस्कारः**—
“सम्” उपसर्गपूर्वक करणार्थक (दु) “कृ” धातु से व्यञ्जन प्रत्यय करके विस्त्रात्
आदि वृद्धि करके “सम्परिभ्यां करोती भूषणे” इस सूत्र से सुडागम करके
अनुस्वारादि करके “संस्कार” ऐसा रूप बना है । (सम् + सकार + अ = संस्कार)
शिखिनः—“शिखा” शब्द ब्रीह्यादिगण में पढ़ा गया है । अतः ब्रीह्यादिभ्यश्च
इस सूत्र से ‘इनि’ प्रत्यय करके ‘शिखिन्’ ऐसा रूप बनता है । उक्त रूप उसी
शब्द के बहुवचन का है । **नूत्यम्—गात्र विक्षेपार्थक** “नृती” धातु से “ऋदुपघ-
चाऽक्लपितृतेः” इस सूत्र से “क्यप्” प्रत्यय करके “नृत्य” ऐसा रूप बनता है ।
उपहारः—“उपसर्गपूर्वक “हृ” धातु से “धन्” प्रत्यय करके “उपहार”
ऐसा रूप बनता है । कुछ टीकाकार “अध्वर्येदं नयेथाः” के स्थान पर “अह्व-
खिन्नाऽन्तरात्मा” ऐसा पाठ मानते हैं और इसका सम्बन्ध आगे वाले श्लोक
के साथ कर इन दोनों को “युग्मक” मानते हैं ॥ ३२ ॥

भर्तुः कण्ठच्छविरितिगणैः सादरं वीक्ष्यमाणः

पुष्पं यायास्त्रभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।

धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-

स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिकर्त्तमरुद्ध्रः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—भरुः: कण्ठच्छविः: इति गणः सादरं वीक्ष्यमाणः कुवलयरजो-
गन्धिभिः तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिकर्त्तः गन्धवत्याः मरुद्ध्रिः धूतोद्यानं
त्रिभुवनगुरोः चण्डीश्वरस्य पुण्यं धाम यायाः ।

व्याख्या—भरुः: स्वामिनो नीलकण्ठस्य, कण्ठच्छविः: = गलशोभा, इति
= अस्माद्वेतोः, गणः: = दूतैः, सादरम् = सम्मानपूर्वकम्, वीक्ष्यमाणः = अवलो-
क्यमानः (सन्), कुवलयरजोगन्धिभिः = पद्मपरागसुगन्धितैः, तोयक्रीडानिरत-
युवतिस्नानतिकर्त्तः = जलक्रीडातत्परवनिताऽवगाहनसुगन्धितैः, गन्धवत्याः = एतन्ना-
मिकायाः सरितः, मरुद्ध्रिः = वायुभिः, धूतोद्यानम् = प्रकम्पिताऽरामम्, त्रिभुवन-
गुरोः = त्रैलोक्यनाथस्य, चण्डीश्वरस्य = भवानीपतेः, पुण्यम् = पवित्रम्, धाम =
स्थानम्, महाकालमिति भावः, यायाः = गच्छेः ।

शब्दार्थः—भरुः: = स्वामी नीलकण्ठ के, कण्ठच्छविः: = गले की शोभा के
समान (तुम हो), इति = इस कारण, गणः: = शिवजी के गणों द्वारा, सादरम् =
सम्मान, वीक्ष्यमाणः = देखा जाता हुआ, कुवलयरजोगन्धिभिः = कमल के
पराग से सुगन्धित, तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिकर्त्तः = जलक्रीडा में आसक्त
युवतियों के स्नान से सुगन्धित, गन्धवत्याः = गन्धवती नाम की नदी के, मरुद्ध्रः
= वायु के द्वारा, धूतोद्यानम् = जहाँ का बगीचा कौपाया गया है, त्रिभुवन-
गुरोः = त्रैलोक्यनाथ, चण्डीश्वरस्य = पार्वतीपति (शिवजी के उस) पुण्यम् =
पवित्र, धाम = स्थान को (महाकाल को), यायाः = जाना ।

भावार्थः—हे मेघ ! शिवस्य गलशोभामिव त्वां प्रथमाः सादरमवलोक-
यिष्यन्ति त्वच्छोजजयन्यां पद्मपरिमलसुगन्धितैः जलक्रीडाऽसक्तकामिनीस्नान-
(चन्दनादिभिः) सुरभितैः गन्धवत्याः नद्याः वायुभिः कम्पिताऽरामं भवानी-
भरुः महाकालेश्वरस्य पवित्रं धाम गच्छ ।

हिन्दी—हे मेघ ! शिवजी के गले की शोभा के समान तुम्हें शिवजी के
गण सादर देखेंगे । तुम भी वहाँ कमल के पराग से सुगन्धित जलक्रीडा में लगी

कामिनियों के स्नान से (देह में लगे चन्दनादि से) सुवासित गन्धवती के बायु के द्वारा जहाँ का बगीचा कौपा दिया गया है, महाकालेश्वर के उस पवित्र स्थान में जाना ।

समासः—कण्ठस्येव छवियर्थंस्य स कण्ठच्छविः (बहु०) । कुवलयानां रजः=कुवलयरजः (ष० तत०) तेषां गन्धः=कुवलयरजोगन्धः (ष० तत०) सः, येषामस्तीति तैः=कुवलयरजोगन्धिभिः (बहुत्री०) । तोये क्रीडा=तोयक्रीडा (स० तत०) तस्यां निरताः=तोयक्रीडानिरताः, ताञ्च युवतयः=तोयक्रीडा-निरतयुवतयः (कर्मधा०) तासां स्नानं (ष० तत०) तेन तिक्ततास्तैः (तृ० तत०) । कम्पितानि उद्यानानि यस्मिन् तत् कम्पितोद्यानम् (बहुत्री०) । त्रयाणां भुवनानां समाहारः=त्रिभुवनम् (समाहारद्विगुः) तस्य गुहः, तस्य (ष० तत०) ।

कोशः—कण्ठो गलः, इत्यमरः । गणस्तु गणनायां स्याद् गणेशो प्रमथे चये, इति शब्दाण्डवः । प्रमथाः स्युः पारिषदाः, इत्यमरः । स्नानीयेऽभिषये स्नानम्, इति यादवः । कटुतिक्तकषायास्तु सौरभे च प्रकीर्तिताः, इति हलायुधः । गृहदेह-टिव्द् प्रभावाद्भासामन्यथ इत्यमरः ।

टिप्पणी—कण्ठच्छविः—यहाँ “सप्तमीविशेषणे बहुत्रीहौ” इस सूत्र के “सप्तमी” पद से ज्ञापित “व्यधिकरण बहुत्रीहि” समास हुआ है। समुद्र-मन्थन के समय निकले विष को शिवजी ने संसार की रक्षा के लिए पी लिया था, उसके ताप से उनका गला मेघ की तरह “नीला” हो गया था इसलिए शिवजी को नीलकण्ठ कहा गया है। **वीक्षमाणः—“वि” उपसर्गपूर्वक “इक्ष” धातु से “शान्त्” प्रत्यय करके “वीक्षमाणः” ऐसा रूप बना है।**

अलङ्कार—यहाँ “उदात्ताऽलङ्कार” है ॥ ३३ ॥

**अप्यन्यस्मिन्द्वजलघर ! महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ।**

कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः इलाघनीया
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यते गर्जितानाम् ॥ ३४ ॥

अन्यव्यः—हे जलधर ! महाकालम् अन्यस्मिन् अपि काले आसाद्य ते स्थातव्यम्, यावत् भानुः नयनविषयम् अत्येति । इलाघनीयाम् शूलिनः सन्ध्याबलिपटहतां कुर्वन् आमन्द्राणाम् गर्जितानाम् अविकलम् फलम् लप्स्यते ।

व्याख्या—हे जलधर ! =हे मेघ ! महाकालम्=एतश्चामकज्योतिलिङ्गस्थानम्, अन्यस्मिन्नपि=अपरस्मिन्नपि, काले=समये, आसाद्य=प्राप्य, ते=त्वया, स्थातव्यम्=निविसितव्यम्, यावत्=यावत् कालम्, भानुः=दिनकरः, नयनविषयम्=दृष्टिगोचरताम्, अत्येति=अतिक्रामति, सूर्यास्तसमयपर्यन्तं त्वया तत्र स्थातव्यम् इति भावः । श्लाघनीयाम्=प्रशंसनीयाम्, शूलिनः=महाकालेश्वरस्य, शिवस्येत्यर्थः, सन्ध्याबलिपटहताम्=सायंच्छालिकपूजापटहभावम्, कुर्वन्=विदधत्, आमन्द्राणाम्=ईषदगम्भीराणाम्, गर्जितानाम्=स्तनितानाम्, अविकलम्=सम्पूर्णम्, फलम्=पुण्यम्, लप्स्यते=प्राप्स्यति ।

शब्दार्थः—हे जलधर ! =हे मेघ ! महाकालम्=चण्डीश्वर के स्थान में, अन्यस्मिन्नपि=सन्ध्या के अतिरिक्त, काले=समय में भी, आसाद्य=जाकर, ते=तुम्हें, स्थातव्यम्=(वहाँ) ठहरना चाहिए, यावत्=जब तक, भानुः=सूर्य, नयनविषयम्=दृष्टिगोचरता को, अत्येति=अतिक्रमण करता है, अर्थात् जब तक सूर्य डूब नहीं जाते हैं, तब तक । इलाघनीयाम्=प्रशंसनीय, शूलिनः=शिवजी की, सन्ध्याबलिपटहताम्=सन्ध्या की पूजा (आरती) में नगाड़े का काम, विदधतः=करता हुआ (तुम), आमन्द्राणाम्=किञ्चिद् गम्भीर, गर्जितानाम्=गर्जन का, अविकलम्=सम्पूर्ण, फलम्=फल को, लप्स्यते=प्राप्त करेगा ।

भावार्थः—हे मेघ ! सन्ध्याऽतिरिक्तसमयेऽपि महाकालेश्वरस्य पुण्यं धाम गत्वा त्वं सूर्यो यावत्कालपर्यन्तमस्ताचलं न गच्छेत् तावत्कालपर्यन्तं स्थास्यसि । (यतो हि) सायन्तनपूजापटहतां विदधत् ईषदगम्भीरनादस्त्वं गर्जितानां सम्पूर्णं फलं प्राप्स्यसि ।

हिन्दी—हे मेघ ! सन्ध्या के अतिरिक्त दूसरे समय में भी महाकाल के पवित्र स्थान में जाकर जबतक सूर्य डूब नहीं जाते तब तक ठहरना । (क्योंकि) महाकालेश्वर की सायंकाल की पूजा (आरती) में नगाड़े के काम को करते हुए तुम थोड़े गम्भीर गर्जन का सम्पूर्ण कल प्राप्त करोगे ।

समाप्तः—धरतीति धरः जलानां धरः=जलधरः (ष० तद०) । नयनयोः विषयः=नयनविषयः (ष० तद०) तम् । सन्ध्यायाः बलिः=सन्ध्यावलिः (ष० तद०) तस्य पटहः=सन्ध्यावलिपटहः (ष० तद०) तस्य भावस्तम्=सन्ध्यावलिपटहताम् । विगताः कलाः यस्मात् तत् विकलम् (बहु०) न विकलम् =अविकलम् (नव्) ।

कोशः—यावत्तावच्च साकल्येऽवधी मानेऽवधारणे, इत्यमरः । शिवः शूली महेश्वरः, इत्यमरः । बलिः पूजापहारे च, इति वैजयन्ती । कलो मन्द्रस्तु गम्भीरे, इत्यमरः । आनकः पटहोऽस्त्री स्यात्, इत्यमरः । स्तनितं मर्जितं मेघनिधोषे-रसितादि च, इत्यमरः ।

टिष्पणी—धरतीति धरः=यहाँ धारण अर्थ में विद्वमान “धूक्” धातु से “नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः” इस सूत्र से पचादित्वात् “भूक्” प्रत्यय किया गया है । **आसाद्य**—“आङ्” उपसर्गपूर्वक (ष) “सद्” धातु से क्त्वा प्रत्यय करके एवं उसके स्थान पर ल्यबादेश करके “आसाद्य” ऐसा रूप बनता है । **अत्येति**—“अति” उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक ‘इण्’ धातु के लट् लकार के प्रथमपुरुप के एकवचन का ‘अत्येति’ यह रूप है । **स्थातव्यं ते**—तव्यत् प्रत्यय के कृत्य होने के कारण ‘स्थातव्यम्’ के योग में ‘कृत्यानां कर्तृं वा’ इस सूत्र से विकल्प से षष्ठी यहाँ दृष्टि है, जिसका अर्थ ‘त्वया’ है । यहाँ इस बात का व्यान रखना चाहिए कि युष्मद् अस्मद् शब्द को ते, मे, आदेश वाक्य के आदि में नहीं होता है, जैसा कि ‘गत्यात् ते वसतिः’ यहाँ पर भी ‘ते’ प्रयोग वाक्य के आदि में नहीं किया गया है । **सन्ध्या**—‘सम्’ उपसर्गपूर्वक चिन्ता अर्थ में विद्वमान् ‘ध्यै’ धातु से आत्व करके ‘आतश्चोपसर्गे’ इस सूत्र से ‘अङ्’ प्रत्यय करके स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् करके ‘संध्या’ ऐसा रूप निष्पत्त होता है ।

अलंकार—यहाँ पूर्वाधं कथित वाक्यों का उत्तराधं कथित वाक्य हेतु है, अतः यहाँ 'काव्यलिङ्ग' नामक अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

**पादन्यासैः कवणित-रशनास्तत्र लीलावधूतैः
रत्नच्छायाखचित्-बलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपद-सुखान् प्राप्यवषाग्रिबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकर-श्रेणि-दोर्धान् कटाक्षान् ॥ ३५ ॥**

अन्वयः—तत्र पादन्यासैः कवणितरशनाः लीलावधूतैः रत्नच्छायाखचित्-बलिभिः चामरैः क्लान्तहस्ताः वेश्याः त्वत्तः नखपदसुखान् वषाग्रिबिन्दून् प्राप्य त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान् आमोक्ष्यन्ते ।

ठ्याहया—तत्र = सन्ध्यासमये, पादन्यासैः = चरणप्रक्षेपैः, कवणितरशनाः = मुखरितमेखलाः, लीलावधूतैः = विलाससञ्चलितैः, रत्नच्छायाखचित्वलिभिः = कङ्कणमणिप्रभाव्यासदण्डैः, चामरैः = बालव्यजनैः, क्लान्तहस्ताः = खिन्नहस्ताः, वेश्याः = वाराङ्गनाः, त्वत्तः = भवतः मेधादिति भावः, नखपदसुखान् = नखक्षत-सुखदान्, वषाग्रिबिन्दून् = वृष्टिप्रथमकणान्, प्राप्य = लब्धवा, त्वयि = मेधे, मधुकरश्रेणिदीर्घान् = ग्रमरपंक्तीवायतान्, कटाक्षान् = अपाङ्गान्, आमोक्ष्यन्ते = परित्यक्ष्यन्ति ।

शब्दार्थः—तत्र = संध्या समय में, पादन्यासैः = पैरों के सञ्चालन से, कवणितरशनाः = जिनकी करघनियाँ बजती रहती हैं, लीलावधूतैः = विलासपूर्वक डुलाये गये, रत्नच्छायाखचित्वलिभिः = मणियों की प्रभा से व्यासदण्डवाले, चामरैः = चैवरों से, क्लान्तहस्ताः = यके हुए हाथों वाली, वेश्याः = नर्तकियाँ = त्वत्तः = तुमसे, नखपदसुखान् = नखक्षत को सुख देनेवाली, वषाग्रिबिन्दून् = वर्षा की पहली बूँदों को, प्राप्य = पाकर, त्वयि = तुम्हारे ऊपर, मधुकरश्रेणि-दीर्घान् = ग्रमरों की पंक्ति की तरह लम्बी, कटाक्षान् = कटाक्ष, आमोक्ष्यन्ते = फेंगी ।

भावार्थः—हे मेघ ! सायंकाले चरणविक्षेपैः मुखरितमेखलाः सविलासैः
मणिमयदण्डयुक्तचामरसच्चालनेन स्त्रिहस्ताः गणिकाः त्वत्तः नखक्षतशान्ति-
प्रदान् वृष्टेः प्रथमविन्दून् लब्धवा त्वयि भ्रमरपंक्तीवायतान् कटाक्षान् परित्य-
क्ष्यन्ति । कामिनीकटाक्षरूपं शिवस्तुतिफलं सद्यः लप्त्यसे इति भावः ।

हिन्दी—हे मेघ ! सायंकाल वहाँ, चरणसंचालन से जिनकी करधनियाँ
बजती रहती हैं, विलासपूर्वक मणिमयदण्डवाले चौंवरों को डुलाने के कारण यके
द्वाए हाथों वाली, (ऐसी) नरंकियाँ, तुमसे नखक्षत को सुख देने वाली वर्षा की
प्रथम विन्दुओं को पाकर, तुम्हारे ऊपर भौरों की पंक्ति के समान लम्बी
कटाक्षों फेंकेगी । इस तरह शिवजी की स्तुति का कामिनी के कटाक्षरूप फल
तुरन्त पा जाओगे ।

समाप्तः—पादयोः न्यासः=पादन्यासः (४० तद०) तैः क्वणिता रशनाः
यासां ताः पादन्यासक्वणितरशनाः (बहुत्री०) । लीलया अवघूर्तैः=लीलावधूर्तैः
(४० तद०) । रत्नानां छाया=रत्नच्छाया (४० तद०) तया खचिता वलयोः
येषां तैः = रत्नच्छायाखचितवलिभिः (बहुत्री०) । क्लान्तौ हस्तौ यासां ताः
क्लान्तहस्ताः (बहुत्री०) । नखानां पदानि=नखपदानि (४० तद०) तेषु सुखाः
तान् नखपदसुखान् (४० तद०) । अग्राश्च ते विन्दवः=अग्रविन्दवः (कर्मधा०)
वर्षस्य अग्रविन्दवः=वर्षग्रिविन्दवः (४० तद०) । मधुकराणां श्रेणी मधुकर श्रेणी
तद्ददीर्घान् मधुकरश्रेणीदीर्घान् (उपमानानि सामान्यवचनैरिति समाप्तः) ।

कोशः—पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्मांघ्रिवस्तुषु, इत्यमरः । वलिश्चा-
मरदण्डे च जरा विश्लयचमणि, इति विश्वः । करोपहारयोः पुंसि वलिः, इत्य-
मरः । सुखहेतौ सुखे सुखम्, इति शब्दार्णवः । दीर्घमायतम्, इत्यमरः । कटाक्षोऽ-
पाङ्गदशने, इत्यमरः । पृष्ठन्ति विन्दुत्रृष्टतः पुमांसो विप्रूषः स्त्रियाम्, इत्यमरः ।

टिप्पणी—**न्यास**—“नि” उपसर्गपूर्वक “अस्” धातु से भाव में “घ्र्”
प्रत्यय करके आदिवृद्धि करके “न्यास” शब्द निष्पन्न होता है । **क्वणित**—
यहाँ शब्दार्थक “क्वण” धातु से कर्ता में “क्” प्रत्यय हुआ है, क्योंकि यह धातु,

अकर्मक है, इसलिए “गत्यर्थादिकर्मकशिलषशीडस्थाऽसवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च” इस सूत्र से कर्ता में “क्त” प्रत्यय का विद्यान किया जाता है। त्वत्तः—यहाँ “युष्मद्” शब्द से “पञ्चम्यास्तसिल्” इस सूत्र से तसिल् प्रत्यय करके उसके परे रहते “प्रत्ययोत्तरपदयोश्च” इस सूत्र से “युष्मद्” शब्द के स्थान पर “त्वत्” आदेश का विद्यान करके “त्वत्:” ऐसा रूप बना है। मधुकरः—मधुकरोतीति=मधुकरः, यहाँ करोति तच्छीलः इस अर्थ में “कु” धातु से “कृत्वा हेतुताच्छील्याङ्गुलोम्येषु” इस सूत्र से “ट” प्रत्यय करके गुण करके मधुकर ऐसा रूप बनता है।

अलंकार—यहाँ “मधुकरश्रेणिदीर्घात्” इस स्थल पर “इव” आदि उपमानवाची सामान्य शब्द का लोप होने के कारण “लुप्तोपमा” नामक अलङ्कार है ॥ ३५ ॥

पश्चादुच्चैर्भुज—तरुवनं मण्डलेनाभिलीनः

सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।

नृत्यारम्भे हर पशुपतेराद्रनागाजिनेच्छां

शान्तोदवेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्याः ॥३६॥

अन्वयः—पश्चात् नृत्यारम्भे प्रतिनवजपापुष्परक्तम् सान्ध्यम्, तेजः दधानः: उच्चैः भुजतरुवनम् मण्डलेन अभिलीनः भवान्या शान्तोदवेगस्तिमित-नयनम् दृष्टभक्तिः पशुपते: आद्रनागाजिनेच्छाम् हर ।

व्याख्या—पश्चात् सायन्तनपूजावसाने, नृत्यारम्भे = ताण्डवोपक्रमे शिव-स्येति शेषः; प्रतिनवजपापुष्परक्तम् = नूतनजपाकुसुमारुणम्, सान्ध्यम् = सन्ध्या-कालिकम्, तेजः = कार्तिम्, दधानः = धारयन्, उच्चैः = उभ्रतम्, भुजतरुवनम् = बाहृवृक्षकाननम्, मण्डलेन = बृत्ताकारतया, अभिलीनः = अभिव्यासः, (सन्) भवान्या = पार्वत्या, शान्तोदवेगस्तिमितनयनम् = विगतभयस्थिरनेत्रम् यथा-स्यात्तथा, (त्वम्) दृष्टभक्तिः = अवलोकितानुरागः, पशुपते: = महाकालेश्वरस्य आद्रनागाजिनेच्छाम् = किलभ्रगजचर्मादिकांकाम्, हर = दूरी कुरु, त्वमेव गज-बर्मस्थानी कृष्णवर्णत्वेन भवेति भावः ।

शब्दार्थः—पश्चात्=सायंकाल की पूजा के बाद, नृत्यारम्भे=ताण्डव के प्रारम्भ में, प्रतिनवजपापुष्परक्तम्=नवीन जपा (अड्हुल) पुष्प के समान लाल, मान्धयम्=सायंकालिक, तेजः=प्रकाश को, दधानः=धारण करते हुए, उच्चैर्भुजतरुवनम्=ऊंचे बाहुरुपी वृक्षों के बन पर, मण्डलेन=वृत्ताकारतया, अभिलीनः=व्यास होकर, भवान्या=पार्वती के द्वारा, शान्तोद्गेगस्तिमितनयनम्=निर्भय होकर निश्चल आँखों से, दृष्टभक्तिः=देखी गयी है भक्ति जिनकी (ऐसे तुम) पशुपतेः=शिवजी की, आद्रंनागाजिनेच्छाम्=(शोणित से) गीले हाथी के चमड़े की इच्छा को, हर=दूर करना ।

भावार्थः—सायद्वालिक-पूजावसाने ताण्डवारम्भे नवीन-जपापुष्पाऽरुण्य-मिव सायद्वालिक प्रकाशं धारयन् उच्छ्रितबाहुरूपे वृक्षवने मण्डलाकारेणाच्छब्दः सन् पार्वत्या विगतभयस्तिथरलोचनेनावलोक्यमानः; अवलोकितपूज्यानुरागस्त्वं शिवस्य आद्रंगज्जर्माऽभिलापमपनय ।

हिन्दी—सायं समय को पूजा के बाद ताण्डव (नृत्य) के प्रारम्भ में नवीन जपाकुमुम के समान सायद्वालिक तेज को धारण करते हुए, ऊंचे बाहुरुपी वृक्षों के बनों पर वृत्ताकार रूप से व्यास होकर, पार्वती के द्वारा निर्भय-पूर्वक निश्चल आँखों से देखे जाते हुए तुम शिवजी के ताजे हाथी के चमड़े की (ओढ़ने की) इच्छा को दूर करना ।

समाप्तः—पशुनां पतिः=पशुपतिः (ष० तत०) तस्य । नृत्यस्य, आरम्भे=नृत्यारम्भे (ष० तत०), नवं प्रतिगतं=प्रतिनवं च तत् जपापुष्पम्=प्रतिनव-जपापुष्पम् (कमं० धा०) तदवत् रक्तम्=(उपमानकमं०) । उच्चैर्भुजा एव तरवः (रूपक०) भुजतरुणां वनम्=उच्चैर्भुजतरुवनम् (ष० तत०) । शान्त उद्गेगो ययोस्ते शान्तोद्गेगे (बहुव्री०) अतएव स्तिमिते नयने यस्मिस्तत् यथा तथा (बहुव्री०) क्रियाविशेषणम् । (दृष्टं वस्तु) भक्तिरेव यस्य स; दृष्ट-भक्तिः (बहुव्री०) ।

कोशः—नाट्यं नृत्यञ्च नर्तने, इत्यमरः । प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यः, इत्यमरः उद्गेगरत्वदिते क्लेशे भये मन्त्ररगामिनि, इति शब्दाण्वः । मण्डलं परिधी कोण्ठे

देशे द्वादशराशिषु, इति मेदिनी । स्तिमितोऽच्चलाद्रेयः, इति मेदिनी । आद्रै
किलनं निमित्तं स्तिमितं सम्मुन्नतं मुक्तच्च, इत्यमरः । अजिनं चर्मं कृत्तिः स्त्री,
इत्यमरः ।

टिप्पणी—पश्चात् यह अव्यय है । “अपरस्मिन्” ऐसा विग्रह करके
“अपर” के स्थान में “पश्चात्” इस सूत्र से “पश्चात्” आदेश किया गया है ।
दधानः—धारणार्थक “धा” धातु से लट्काकर में तिप् के स्थान पर “लटः
शत्रृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे” इस सूत्र से “शानच्” आदेश किया गया
है । **उच्चाच्चः—**यह अव्यय है; इस शब्द से आयी विभक्ति का “अव्ययादाप्युपः”
इस सूत्र से ‘लुक्’ हो गया है ।

इसका सभी वचनों एवं सभी विभक्तियों में और तीनों लिङ्गों में एक-सा
ही रूप रहता है । क्योंकि अव्यय का सामान्य लक्षण है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।

वचनेषु च सर्वेषु यत्र व्येति तदव्ययम् ॥

सान्ध्यम्—सन्ध्यायां भवः=सान्ध्यम् यहाँ सन्ध्या शब्द से “तत्र भव”
इस सूत्र से अन् प्रत्यय लाकर “सान्ध्यम्” ऐसा रूप बनता है ।

भवानी—भवस्य स्त्री इस विग्रह में “भव” शब्द से स्त्रीत्व विवक्षा में
‘इन्द्रवरुणभवसर्वरुद्रमृडहिमाऽरण्यवयवनमातुलाऽचार्याणिमानुक्’ इस सूत्र से
“डीप्” प्रत्यय एवं “आनुक्” का आगम हुआ है ।

दृष्टभक्तिः—महाकवि का यह प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध प्रयोगों
में अन्यतम है । “दृष्टा भक्तियंस्य” इस विग्रह में समास हो जाने के पश्चात्
“स्त्रियाः पुंवदभाषितपुस्कादनूङ् सामानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु” इस
सूत्र से “दृष्टा” इस पद को पुंवद्वाव नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त सूत्र
“प्रियादि” गणपठित शब्द से भिन्न शब्दों के परे रहते ही पुंवद्वाव करता है,
जल कि “भक्ति” शब्द का पाठ “प्रियादि” गण में आता है । अतः पाणिनीय
व्याकरण-सम्मत तो “दृष्टा भक्तिः” ऐसा ही प्रयोग होगा । कुछ विद्वानों ने
इसको व्याकरण-सम्मत बनाने का परिश्रम किया है । उनका विग्रह “दृष्टं”

(वस्तु) भक्ति यस्य” इस प्रकार है। उनका अभिप्राय है “दृष्ट” शब्द “भक्ति” का विशेषण न होकर स्वतन्त्र विशेष्य है और “प्रमाणम्—वेदः” की तरह शुद्ध है। परन्तु यह केवल खींचा-तानी ही प्रतीत होता है क्योंकि महाकवि का अभिप्राय वही है जो “दृष्टा भक्ति” से ध्वनित हो रहा है।

अलङ्कार—इस श्लोक में “भुजतरुवनम्” यहाँ भुजाओं में रूपक का आरोप होने से “रूपक” अलंकार है। “प्रतिनवजपापुष्परक्तम्” यहाँ उपमान-वाची सामान्य शब्द इवादि के लोप होने से लुप्तोपमा है, एवं साम्यतेज को मेघ के धारण करने से असंभव वस्तु सम्बन्ध विम्बप्रतिविम्बभाव व्यक्त हो रहे हैं। अतः यहाँ “निदर्शना” नामक अलंकार है। इस प्रकार तीनों की संसृष्टि होने से “संकर” नामक अलंकार है॥ ३६॥

गच्छन्तीनां रमणवसर्ति योषितां तत्र नवतं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ।
सौदामन्या कनकनिकषस्तिनग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मासमभूविकलवास्ताः ॥३७॥

अन्वयः—तत्र नवतं रमणवसर्ति गच्छन्तीनां योषितां सूचिभेद्यैः तमोभिः रुद्धालोके नरपतिपथे कनकनिकषस्तिनग्धया सौदामन्या उर्वाम् दर्शय तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः मासमभूः ताः विकलवाः ।

व्याख्या—तत्र = उज्ययिन्याम्, नक्तम् = निशायाम्, रमणवसर्तिम् = ग्रेमी-सदनम्, गच्छन्तीनाम् = यान्तीनाम्, योषिताम् = स्त्रीणाम्, अभिसारिकाणामित्य-भिप्रायः। सूचिभेद्यैः = निविडः (कविप्रसिद्धोऽयं शब्दः), तमोभिः = अन्धकारैः, रुद्धालोके = आदृतप्रकाशे, नरपतिपथे = राजमार्गे, कनकनिकषस्तिनग्धया = हैम-शाणरेखातेजसा, सौदामन्या = तडिता, उर्वाम् = पृथ्वीम् मार्गमितिभावः, दर्शय = आलोकय, तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः = वृष्टिगर्जनवाचालः, मासमभूः = नो भव, (यतो हि) ताः = प्रियसदनगन्तुमुत्सुकाः अभिसारिकाः, विकलवाः = भीरुका भवन्ति अतः ताः त्वया न भेतव्याः।

शब्दार्थः—**उत्र**=उज्जयिनी में, **नक्तम्**=रात्रि में, **रमणवसतिम्**=प्रिय के घर, **गच्छन्तीनाम्**=जाती हुई, **योषिताम्**=अभिसारिकाओं का, **सूचिभेद्यः**=गहन, **तमोभिः**=अन्धकार से, **रुद्धालोके**=आदृत-प्रकाशवाले, **नरपतिपथे**=राजमार्ग पर, **कनक-निकषस्तिरध्या**=सोने की कसौटी की रेखा की तरह तेज वाली, **सौदामन्या**=विजली के द्वारा, **उर्वोम्**=पृथ्वी को अर्थात् मार्ग को, **दर्शय**=प्रदर्शन करो (अर्थात् उन्हें रास्ता दिखलाओ) **तोयोत्सर्गं**, **स्तनितमुखरः**=वृष्टि से तथा गर्जन से शब्दायमान, **मास्मधूः**=मत होना, **क्योंकि**, **ताः** =वे अभिसारिकायें, **विकलवा**=डरपोक (भवन्ति =होती हैं) ।

भावार्थः—हे मेघ ! उज्जयिन्यां रात्रि प्रियसदनं यान्तीनां अभिसारिकाणां निविडस्तमोभिः प्रकाशरहिते राजमार्गे स्वर्णशलाकातेजसेव विद्युत मार्गनिदर्शनं कुरु । वृष्टिगर्जनेन ताः न भेतव्याः स्वभावेन ताः विकलवा भवन्ति ।

हिन्दी—हे मेघ ! उज्जयिनी में रात्रि में प्रेमी के घर जाती हुई अभिसारिकाओं का घोर अन्धकार के कारण प्रकाशहीन राजमार्ग पर कसौटी पर स्वर्ण-रेखा के तेज के समान तेजवाली विजली के द्वारा पथ-प्रदर्शन करना । वृष्टि से तथा गर्जन से शब्दायमान मत होना क्योंकि वे अभिसारिकायें डरपोक होती हैं ।

समाप्तः—रमणानां वसतिः **ताम्**=रमणवसतिम् (४० तद०) । **रुद्धः** आलोकः यस्मिस्तस्मिन् रुद्धालोके (बहुवी०) । **नराणां पतिः** नरपतिः (४० तद०) तस्य पथे नरपतिपथे (४० तद०) । **सूचिभिः भेद्याः** (तृ० तद०) तीः । **कनकस्य निकषः** कनकनिकषः (४० तद०) । **तद्वृत्तिरध्याः यस्याः** तथा (व्यधिकरण बहु०), **तोयोत्सर्गं** **स्तनितम्**=तोयोत्सर्गस्तनितम् (द्वन्द्व) **ताम्यां मुखरः** (तृ० तद०) ।

कोशः—दोषा च नक्तम् रजनाविति, इत्यमरः । आलोको दर्शनोद्योती, इत्यमरः । तदित्सौदामिनी विद्युच्चच्चला चपला अपि, इत्यमरः । वसुघीर्वा वसुन्धरा, इत्यमरः ।

टिप्पणी-नक्तम्=यह अर्थय है। रमणः—रमयतीति विग्रह में क्रीडार्थक “रम” धातु से णिच् प्रत्यय करके कर्ता में “नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः” इस सूत्र से ल्यु प्रत्यय करके हङ्गवादि करके “रमण” ऐसा रूप बनता है। **सूचिभेदः**=सूई से छेदने योग्य, यह इस शब्द का अर्थ है। परन्तु यह गाढ़े अन्धकार के लिए प्रयुक्त होता है, ऐसी कवित्रसिद्धि है। **नरपतिपथः**=यहाँ नरपति शब्द का “पथिन्” शब्द के साथ समास हो जाने पर ‘ऋक्पूरव्यूष्यामानक्षे’ इस सूत्र से समासान्त “अ” प्रत्यय करके उपधालोपादि करके “नरपतिपथ” ऐसा रूप बनता है। उक्तरूप उसी शब्द के समीक्षी विभक्ति का है। **मुखरः**=मुखमस्यास्ती विग्रह में मुख शब्द से “प्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्यः रः” इससे रप्रत्यय करके “मुखर” ऐसा रूप बनाया जाता है।

अलङ्कारः=यहाँ “कनक-निकषस्तिरघ्या” इसमें लुप्तोपमा नामक अलङ्कार है। एवं “तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः” इसका हेतु “विक्लवास्ता:” यह पद है इसलिए वाक्यार्थहेतुक-“काव्यलिङ्गः” नामक अलङ्कार है। अतः यहाँ दोनों का “संसृष्टिः” नामक अलङ्कार है॥ ३७ ॥

तां कस्यांचिद्भवन-बलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रि चिर-विलसनातिख्यज्ञविद्युत्कलत्रः ।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान् वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ ३८ ॥

अन्यव्यः=चिरविलसनात् खिश्विद्युत्कलत्रः भवान् सुप्तपारावतायाम् कस्यांचित्त भवनबलभौ ताम् रात्रिम् नीत्वा सूर्ये दृष्टे पुनरपि अध्वशेषम् वाहयेत्, सुहृदाम् अभ्युपेतार्थकृत्याः न मन्दायन्ते खलु।

ध्यात्वया—(हे मेघ) चिरविलसनात्=बहुकालं यावत्-स्फुरणात्, खिश्विद्युत्कलत्रः=श्रान्त वच्चलभायः, भवान्=मेघः, सुप्तपारावतायाम्=निद्रितकपोतानाम्, कस्यांचिद्=अन्यतमायाम्, भवन-बलभौ=हर्म्याच्छादनोपरि-भागे, तां रात्रिम्=तां रजनीम्, नीत्वा=ध्यतीत्य सूर्ये=भानो, दृष्टे=उदिते, पुनरपि=सूर्योऽपि, अध्व-

शेषम् = मार्गविशेषम्, वाहयेत् = प्राप्नुयात्, सुहृदाम् = मित्राणाम्, अभ्युपेतार्थं-कृत्याः = अङ्गीकृत-क्रियाः, (जनाः), न खलु मन्दायन्ते = नैव मन्दाः भवन्ति ।

शब्दार्थः—चिरविलसनात् = बहुत समय तक चमकने के कारण, खिन्न-विद्युत्कलत्रः = यक गयी है बिजलीरूपी स्त्री जिसकी (ऐसे), भवान् = आप, सुसपारावतायाम् = जहाँ कबूतर सो गये हैं ऐसे, कस्यांचित् = किसी, भवन-वलभी = महल के ऊपरी भाग पर, तां रात्रिम् = उस रात्रि को, नीत्वा = वितान-कर, सूर्यैः = सूरज के, दूष्टे = दीखने पर अर्थात् उग जाने पर, अष्टवेषम् = अवशिष्ट मार्ग को, वाहयेत् = पार करना (क्योंकि), सुहृदाम् = मित्रों के, अभ्युपेतार्थं-कृत्याः = कार्य को (करने के लिए) अङ्गीकार कर लिया है, जिन्होंने ऐसे पुरुष, न खलु मन्दायन्ते = कभी आलस्य नहीं करते हैं ।

भावार्थः—बहु-कालं यावत् स्फुरणात् खिन्न-चञ्चलभार्यः त्वं सुसपारावते कस्मिन्श्रिद् भवनस्योपरिभागे तां रात्रिमतिवाह्य सूर्योदये सति पुनः मार्गविशेषं वाहये । यतो हि मित्राणामङ्गी-कृतकर्तव्याः जनाः न मन्दायन्ते ।

हिन्दी—हे मेघ ! बहुत समय तक चमकने के कारण यही हुई बिजली-रूपी पत्नीवाले तुम जहाँ कबूतर सो गये हैं ऐसे किसी भवन के ऊपरी भाग पर उस रात्रि को विताकर सूर्योदय हो जाने पर जो मार्ग बच गया हो उसे भी पार करना, क्योंकि जिन्होंने मित्रों के कार्यों को करना स्वीकार कर लिया है, वे पुरुष कभी आलस्य नहीं करते ।

समाप्तः—चिरं विलसनं तस्मात् (सुप्सुपेति समाप्तः) । खिन्नं विद्युदेव कलत्रं यस्य सः = खिन्नविद्युत्कलत्रः (बहुत्री०) । सुप्ताः पारावताः यस्यां सा सुसपारावता (बहुत्री०) तस्याम् । भवनस्य वलभी = भवनवलभी (ष० तत०) तस्याम् । अव्वनः शेषम् = अष्टवेषम् (ष० तत०) । अभ्युपेता अर्थस्य कृत्या यैस्ते अभ्युपेतार्थंकृत्याः (बह०) ।

कोशः—कलत्रं श्रोणिभार्ययोः, इत्यमरः । पारावतः कलरवः कपोतोऽथ, इत्यमरः । आच्छादन्तु वलभी छादने वक्रदाशणि, इत्यमरः । आच्छादनं स्याद्वल-

भी गृहणाम्, इति हलायुधः । कृत्याः क्रिया देवतयोः कार्ये स्त्री कुपिते त्रिषु,
इति यादवः ।

टिट्पणी—सूर्यः—सरति आकाश इति सूर्यः । यहाँ “सू” धातु से “राज-
सूयसूर्य—मृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपञ्चाऽव्यवद्याः” इस सूत्र से “क्यप्” प्रत्यय एवं
उत्त्व निपातन किया जाता है । **कृत्याः—**“कृ” धातु से “कृबः च” इस सूत्र से
चकार बलात् “क्यप्” प्रत्यय का विद्यान करके “हस्वस्य पिति कृति” इस
सूत्र से तुक् का आगम करके स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् करके “कृत्या” ऐसा रूप
बनता है । अभ्युपेत शब्द “मुहूदाम्” पद के साथ सापेक्ष है परन्तु यहाँ गमक-
त्वात् समास विद्यान हुआ है । **मन्दायन्ते—**यहाँ मन्द शब्द से “लोहितादि-
डाजभ्यः क्यप्” इस सूत्र से “क्यप्” प्रत्यय करके विकल्प से “वा यथः” इस
सूत्र से आत्मनेपद हुआ है ।

अलङ्कारः—यहाँ विद्युत में कलत्र का आरोप शाब्द एवं मेघ में पतित्व
का आरोप अर्थतः होने से “एकदेशविवर्ति—रूपक” नामक अलंकार है, एवं
सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन होने से “अर्थान्तरन्यास” नामक अलंकार
है और दोनों का अङ्गाङ्गिभाव होने से “संकर” नामक अलंकार है ॥ ३८ ॥

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु ।
प्रालेयात्रं कमलवः नात्सोऽपि हरुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—तस्मिन् काले प्रणयिभिः खण्डितानाम् योषिताम् नयनसलिलम्
शान्तिम् नेयम् । भानोः वर्त्म आशु त्यज । सः अपि नलिन्याः कमलवदनात्
प्रालेयात्रम् हरुंम् प्रत्यावृत्तः त्वयि कररुधि अनल्पाभ्यसूयः स्यात् ।

ठ्याख्या—तस्मिन् = उपर्युक्ते, काले = समये, सूर्योदय—समय इत्यर्थः ।
प्रणयिभिः = रमणीः, खण्डितानाम् = नायिकाविशेषाणाम्, नयनसलिलम् = नेत्राभ्यु
अशुरित्यर्थः, शान्तिम् = प्रशमनम्, नेयम् = नेत्रब्यम् । रात्र्यन्ते प्रेमिणः अन्यथा

रमणं कृत्वा स्वकीयां खण्डनां नायिकामनुनयेन प्रार्थयन्ति, अतः भानोः=दिन-करस्य, वर्त्म=पन्थानम्, आशु=शीघ्रम्, त्वज=मुच्च । सः=सूर्यः अपि, नलिन्याः=पद्मिन्याः, कमलवदनात्=पद्म-मुखात्, प्रालेयान्नम्=तीहारविन्दुम् हर्तुम्=दूरीकर्तुम्, प्रत्यावृत्तः, (सन्) त्वयि=मेघे, कररुधि=किरणावरोधे सति, अनल्पाभ्यसूयः=प्रकामेष्यः, स्यात्=भवेत् ।

शब्दार्थः— तस्मिन्=पहले कहे गये, काले=समय में (सूर्योदय काल में) प्रणयिभिः=प्रेमियों के द्वारा, खण्डतानाम्=जिनके पति दूसरी स्त्री के साथ रमण करते हैं ऐसी, योषिताम्=स्त्रियों के, नयनसलिलम्=आँसुओं को, वान्तिम्=शान्त, नेयम्=करना (होता है), रात्रि के बीत जाने पर, जो पुरुष दूसरी स्त्रियों के साथ संभोग करते हैं वे अपनी खण्डता पत्नी को मनाने के लिए उसकी प्रार्थना करते हैं, अतः भानोः=सूर्य के, वर्त्म=मार्ग को, आशु=शीघ्रता से, त्वज=छोड़ देना, क्योंकि, सः=सूर्य, अपि=भी, नलिन्याः=कमलिनी के, कमल-वदनात्=कमलरूपी मुँह से, प्रालेयान्नम्=ओस-कणरूपी आँप्शों को, हर्तुम्=दूर करने के लिए, प्रत्यावृत्तः=लौटा हुआ रहता है, त्वयि=तुम्हारे (द्वारा), कररुधि=किरण के रोके जाने पर, अनल्पाभ्यसूयः=अत्यधिक द्वेष वाले, स्यात्=हो जायेंगे ।

भावार्थः— हे मेघ ! सूर्योदय—काले, वल्लभैः खण्डतानां कामिनीनां नेत्राश्रु शमनीयं भवत्यतः भानुपर्यं त्वरितं मुच्च । यतो हि सूर्योऽपि नलिन्याः पद्मरूपान्मुखान्मिहिकारूपमश्रु निवारयितुं प्रत्यागतः (भवति) तस्मिन् काले त्वयि तदीयकरावरोधके सति सः त्वां प्रत्ययिकेष्यं भवेत् ।

हिन्दी— हे मेघ ! सूर्योदय—काल में प्रेमियों को अपनी खण्डता पत्नियों के आँसुओं को दूर करना रहता है अर्थात् तुम सूर्य के मार्ग को शीघ्र छोड़ देना । क्योंकि वे भी अपनी प्रिया कमलिनी के कमलरूपी मुख से ओसरूपी आँसू को हटाने के लिए, बापस आते हैं । उन नमय यदि तुम (उनके) हाथों (किरणों) के बाधक बनोगे तो वे (तुम्हारे प्रति) अधिक कृद्ध हो जायेंगे ।

समाप्तः— नयनयोः सलिलं=नयनसलिलम् (ष० तत्०) । कमलमेक

वदनम् = कमलवदनम् (रूपकक्मंधा०) तस्मात् । न अल्पा = अनल्पा (नव्र्)
अनल्पा अभ्यसूया यस्य स = अनल्पाभ्यसूयः (बहुव्री०) ।

कोषः—अयनं वर्त्म मार्गाऽध्य, इत्यमरः । सलिलं कमलं जलम्, इत्यमरः,
तृणेऽम्बुजे नलं वा तु राज्ञि नाले तु न स्त्रियाम्, इति शब्दार्णवः । प्रालेयं
मिहिकाचार्थी, इत्यमरः । अन्नकोणे कचे पुंसि क्लीबमश्रुणि शोणिते, इति
मेदिनी । वलिहस्तांशवः, कराः, इत्यमरः ।

टिष्ठणी—खण्डितानाम्—वैसे तो नायिका के बहुत भेदोपभेद हैं पर
मुख्य आठ भेदों में “खण्डिता” भी एक नायिका का विशेष भेद होता है ।
“खण्डिता नायिका” उसे कहते हैं जिनके पति रात्रि में किसी दूसरी स्त्री के
साथ विहार करते हैं और वह यह जान जाती है कि मेरे पति अमुक स्त्री के
साथ रात्रि व्यतीत करते हैं । यहाँ सूर्य अस्ताचल पर जाकर उधर की कमलि-
नियों के साथ विहार करते हैं अतः इधर की कमलिनियाँ खण्डिता हुईं । मैंने
हिन्दी एवं संस्कृत दोनों व्याख्याओं में इस बात का संकेत किया है ।
शान्ति नेयम्—“नी” धातु द्विकर्मक है, अतः “नयनसलिलम्” यह पद यहाँ
मुख्य कर्म है एवं “सलिलम्” यह गौणकर्मवाची पद है । **प्रत्यावृत्तः**—प्रति
उपसर्गपूर्वक ‘वृत्’ धातु से “क्त्” प्रत्यय करके “प्रत्यावृत्तः” ऐसा रूप बनता
है । **कररुद्धि**—‘कर’ उपपदपूर्वक “रुद्ध्” धातु से क्रिप् प्रत्यय करके उसका
सर्वाधारी लोप करके “कररुद्ध्” ऐसा शब्द बनता है । यह रूप उसी शब्द के
सप्तमी विभक्ति का है ।

अलङ्कारः—यहाँ “भानोः वर्त्म त्यज” इस पूर्वांकित वाक्य का
उत्तरांशं का वाक्यार्थ हेतु है, अतः “काव्यलङ्क” अलङ्कार है । और लिङ्ग-
समानता से नलिनी में नायिका और सूर्य में नायक का आरोप होने से “समा-
सोक्ति” अलङ्कार है, एवं “कररुद्धि” इस शब्द के “कर” में “इलेप” अलङ्कार
है । एवं तीनों का अङ्गाङ्गभाव होने से “संकर” नामक अलङ्कार है ॥३९॥

गम्भीरायाः पर्यसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।

**तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यहर्षि त्वं न धैर्यति-
मोघीकरुं चटुलशफरोद्वर्तनं—प्रेक्षितानि ॥ ४० ॥**

अन्वयः—गम्भीरायाः सरितः चेतसि इव प्रसन्ने पर्यसि प्रकृतिसुभगः ते याऽत्मा अपि प्रवेशम् लप्स्यते । तस्मात् अस्याः कुमुदविशदानि चटुलशफरोद्वर्तनं—प्रेक्षितानि त्वम् धैर्यति मोघीकरुं म् न अहर्षि ।

व्याख्या—हे मेघ ! गम्भीरायाः एतन्नामिकायाः, सरितः=नद्याः, चेतसि मानसे, इव = यथा, प्रसन्ने = स्वच्छे, पर्यसि = जले, प्रकृतिसुभगः = शाहवति. कमनोहरः, ते = तव मेघस्येति यावद्; छायात्माऽपि = प्रतिबिम्बस्त्रूपात्माऽपि; प्रवेशम् = निवेशम्. लप्स्यते=प्राप्स्यति । तस्मात् = तत्कारणात्. तस्याः= गम्भीरायाः, कुमुदविशदानि = कैरवोज्ज्वलानि, चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि = चञ्चलमत्स्योलुण्ठनानि, त्वम् = मेघः, धैर्यति = धीरत्वात्, मोघीकरुं म् = विफलीकरुं म्, न अहर्षि = न योग्योऽसि ।

शब्दार्थः—(हे मेघ !) गम्भीरायाः=गम्भीरा नाम की, सरितः=नदी के, चेतसि=हृदय, इव = की तरह, प्रसन्ने = निर्मल, पर्यसि=जल में, प्रकृतिसुभगः = स्वभाव से सुन्दर, ते = तुम्हारा, छायात्माऽपि = छायारूपी शरीर भी, प्रवेशम् = प्रवेश को, लप्स्यते = प्राप्त करेगा । तस्मात्=इस कारण से, अस्याः= इस गम्भीरा नदी के, कुमुदविशदानि=कुमुद के समान घबल, चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि = चञ्चल मछलियों के उच्छलन रूप चितवनों को, त्वम्=तुम, धैर्यति = धीरता से, मोघीकरुं म् = निष्कर करने मे, न अहर्षि=समर्थ नहीं हो ।

भावार्थः—हे मेघ ! गम्भीरायाः प्रसन्नहृदय इव स्वच्छे जले प्रतिबिम्बरूपेण प्रविष्टो हि त्वं गम्भीरया नद्या क्याचिदुदात्तनायिकयेव चञ्चलमत्स्योलुण्ठन-रूपैरवलोकनैरवलोक्यिष्यसे । त्वमपि धैर्यमाश्रित्य तदवलोकनं निष्कली करुं म् न समर्थोऽसि ।

हिन्दी—हे मेघ ! गम्भीरा नदी के प्रसन्न हृदय के समान निर्मल जल में छायारूप से प्रविष्ट तुम्हें गम्भीरा नदी किसी उदात्त नायिका की तरह चञ्चल-

मछलियों के उद्घातन (उछलन) रूपी चितवनों से देखेगी । तुम भी धीरता का अवलम्बन कर उसके अवलोकन को व्यर्थ मत होने देगा ।

समासः—प्रकृत्या सुभगः=प्रकृति-सुभगः (तृ० तद०) । छाया चासौ आत्मा च छायात्मा (कर्म० धा०) । कुमुदनीव विशदानि=कुमुदविशदानि (उपमानकर्म०) । चटुलानि च ताति शफरोद्घतनानि चटुलशफरोद्घतनानि (कर्मधा०), तान्येव प्रेक्षितानि=चटुल-शफरोद्घतनप्रेक्षितानि (रूपक०) ।

कोशः—चित्तन्तु-चेतो हृदयम्, इत्यमरः । सुन्दरेऽधिकभाग्ये च दुर्दिनेतर-वासरे । तुरीयांशे श्रीमति च सुभगः, इति शब्दार्णवः । सिते कुमुदे कैरवे, इत्यमरः । विषु स्याच्चटुलं शीघ्रम् इति विश्वः ।

टित्पणी—प्रकृतिसुभगः—यहाँ ‘प्रकृति’ शब्द से प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्’ इस सूत्र से तृतीया विभक्ति आती है तब तृतीया समास होता है । **प्रवेशः—‘प्र’** उपसर्गपूर्वक प्रवेशार्थक ‘विश’ धातु से षण् प्रत्यय करके ‘प्रवेश’ ऐसा रूप बनता है । **कुमुदविशदानि**=इस पद का विग्रह तो समास के समय प्रदर्शित किया गया है । यहाँ महोपाध्याय पं० मलिलनाथजी ने ‘कुमुदवत् विशदानि’ ऐसा विग्रह किया है । यहाँ ‘कुमुद’ शब्द से ‘तत्र तस्येव’ इस सूत्र से ‘वति’ प्रत्यय किया गया है, न कि ‘तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः’ इस सूत्र से, और इस सूत्र से ‘क्रिया’ पद की अनुवृत्ति भी ‘तत्र तस्येव’ इस सूत्र में नहीं जाती है । अतः ‘वति’, प्रत्यय होने में कोई अनुपरपत्ति नहीं है । कुछ टीकाकार जैसे कि विद्याविनोद, शारदारञ्जन राय और संसारचन्द्र जी एवं मोहनदेव पन्त जी इत्यादि विद्वानों ने महोपाध्याय के उपर्युक्त विग्रह का खण्डन किया है, सम्भव है उन्हें ‘तत्र तस्येव’ यह सूत्र ध्यान में न रहा हो—**धैर्यात्—‘धीर’** शब्द से ‘ध्यव्’ प्रत्यय करके धैर्यं यह रूप बनता है । उक्त रूप पञ्चमी विभक्ति का है । यहाँ पञ्चमी विभक्ति ‘त्यव्लोपे कर्मण्यविकरणे च’ इस सूत्र से हुई है । यहाँ ‘आश्रित्य’ इस त्यबन्त पद का लोप हुआ है ।

अलङ्कारः—यहाँ ‘संकर’ नामक अलङ्कार है । क्योंकि यहाँ पयः का चेतः से, प्रेक्षितों का कुमुदों के साथ समानता (सादृश्य) होने से शाब्दी उपमा

हुई एवं गम्भीरा का नायिका के साथ आर्थ सादृश्य होने से यहाँ 'एकदेश विवर्तनी' उपमाइलङ्कार हुआ और 'कुमुदविशदानि' यहाँ वर् इवादि का लोप होने से लुप्तोपमा हुई एवं उद्वर्तनों में प्रेक्षितों का आरोप होने से 'रूपक' अलङ्कार हुआ और इन तीनों का अङ्गाङ्गभाव संकर है ॥ ४० ॥

तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं

नीत्वा नीलं सलिलसवनं मुक्तरोधोनितम्बम् ।

प्रस्थानं ते कथमपि सखे ! लम्बमानस्य भावि

जातस्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ॥४१॥

अन्वयः——हे सखे ! प्राप्तवानीरशाखम् किञ्चित्करधृतम् इव मुक्त-रोधो-नितम्बम् नीलम् तस्याः सलिलवसनम् नीत्वा लम्बमानस्य ते प्रस्थानम् कथमपि भावि जातस्वादः कः विवृतजघनाम् विहातुम् समर्थः ॥ ४१ ॥

व्याख्या——हे सखे=हे मित्र ! प्राप्तवानीरशाखम् =लब्ध-वेतसशाखम्, किञ्चित्करधृतम्=ईषद् हस्तगृहीतम्, इव=यथा (स्थितम्), मुक्त-रोधो-नितम्बम्=परित्यक्ततटकटि, नीलम्=श्यामलम्, तस्याः=गम्भीरायाः; सलिलवसनम्=जलाम्बरम्, नीत्वा=अपहृत्य, लम्बमानस्य=जलभारावनतस्य ते=मेघस्य, प्रस्थानम्=प्रयाणम्, कथमपि=केनापि-प्रकारेण, भावि=भविष्यति । यतो हि-जातस्वादः=अनुभूतकामिनीसंभोगसुखः, कः=पुरुषः, विवृतजघनाम्=प्रदर्शित-कटि-पूर्वभागम्, विहातुम्=त्यक्तुम्, समर्थः, योग्यः ।

शब्दार्थः——हे सखे=हे मित्र ! प्राप्तवानीरशाखम्=बैतं की शाखाओं को जिसने प्राप्त कर ली है, किञ्चित्करधृतम्=कुछ कुछ हाथ से पकड़े हुए की, इव=तरह, मुक्तरोधोनितम्बम्=जिसने तटरूपी, नितम्ब-प्रदेश को छोड़ दिया है (ऐसे) नीलम्=नीले रंग के, सलिलवसनम्=जलरूपी वस्त्रों को, नीत्वा=हटाकर, लम्बमानस्य=जल के भार से अवनत, ते=तुम्हारा, प्रस्थानम्=नाना, कथमपि=किसी प्रकार अर्थात् कष्ट से, भावि=होगा । (क्योंकि) जातस्वादः=जिसने स्त्री के संभोग के सुख का अनुभव कर लिया है ऐसे

कः—कौन पुरुष, विवृत-जघनाम्=उघड़ी जंधाओं वाली (कामिनी) को, विहातुम्-छोड़ने के लिए, समर्थः=(होगा) अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थः—हे मेघ ! वेतसशाखाप्राप्ता ईषद्दस्तगृहीतमिव त्यक्त-तटरूप-नितम्ब कृष्णवर्णं जलरूपवस्त्रमपनीय तव गम्भीरायाः नद्याः प्रस्थानं कष्टेन भविष्यति ! यतो हि अनुभूतकामिनी-संभोग-सुखः कः पुरुष एवं स्यात् यः प्रदर्शितजघनां नारीं त्यक्तुम् (अनुपभोक्तुम्) समर्थो भवेत् ।

हिन्दी—हे मेघ ! समीप तक बैठ की शाखाओं के पहुँचने के कारण कुछ-कुछ हाथों से पकड़े हुए की तरह, छोड़ दिया है तटरूपी नितम्ब को जिसने काले रंग के जलरूपी वस्त्र को हटाकर गम्भीरा नदी के पास से तेरा जाना बहुत कठिन होगा । क्योंकि जिसने कामिनीसंभोग के सुख का अनुभव कर लिया है ऐसा कौन पुरुष होगा जो उघड़ी जंधाओं वाली स्त्री को छोड़ सकता है ?

समाप्तः—प्राप्ता वानीर-शाखा येन तत् प्राप्त-वानीर-शाखम् (बहुब्री०) । करेण धृतम्=करधृतम् (तृ० तद०) । रोघ एवं नितम्बः रोधोनितम्बः (रूपक) मुक्तः मुक्तिरोधोनितम्बम् (बहुब्री०) । सङ्ग्रिलमेव वसनं तत्=सङ्ग्रिलवसनम् (रूपक० कर्म०) ज्ञातः स्वादो येन सः ज्ञातस्वादः (बहु०) । विवृतं जघनं यस्याः ताम् विवृत-जघनाम् । (बहुब्री०) ।

कोशः—कूलं रोघश्च तीरश्च प्रतीरश्च तटं त्रिषु, इत्यमरः । नितम्बः पश्चिमे भागोऽद्वि कटके कटी, इति यादवः । जघनं स्यात् कटो पूर्वश्रोणिभागा-परांशयोः, इति यादवः ।

टिप्पणी—विवृतम्—“वि” उपसर्गपूर्वक “वृ” धातु से “वत्” प्रत्यय करके “विवृत” शब्द बनता है । **विहातुम्**—“वि” उपसर्गपूर्वक (ओ) हा धातु से जिसका “त्याग” अर्थ है “उमुक्त” प्रत्यय करके “विहातुम्” ऐसा रूप बनता है । कुछ टीकाकार “विवृतजघनाम्” के स्थान पर “विपुल-जघनाम्” ऐसा पाठ मानते हैं ।

अलंकारः—यहाँ “करधृतमिव” इस पद में “उत्प्रेक्षा” रोघ में नितम्ब एवं सङ्ग्रिल में वसन का आरोप शाब्दरूपक तथा गम्भीरा में नायिका का

आरोप अर्थरूपक है अतः एकदेश विवर्तिरूपक एवं चतुर्थं चरण के वाक्यार्थ द्वारा ऊपर के तीनों चरणों के वाक्यार्थ का समर्थन होने से “अथन्तिरन्यास” ये तीन अलंकार हैं। एवच उपर्युक्त तीनों अलंकारों का अज्ञाज्ञ-भाव होने “संकर” अलंकार है ॥ ४१ ॥

त्वश्चिष्यन्दोच्छ्रवसित—वसुधा-गन्धसंपर्करम्यः

स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।

नीचैः वास्यत्युपजिगमिषोदेवपूर्वं गिरि ते

शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥४२॥

अन्वय—त्वश्चिष्यन्दोच्छ्रवसितवसुधा—गन्धसंपर्करम्यः स्रोतोरन्ध्रध्वनित सुभगम दन्तिभिः पीयमानः काननोदुम्बराणाम् परिणमयिता शीतो वायुः देवपूर्वम् गिरिम् उपजिगमिषोः ते नीचैः वास्यति ।

ब्याहुया—(हे मेरे !) त्वश्चिष्यन्दोच्छ्रवसितवसुधागन्धसंपर्करम्य=त्वद-बृष्टिवधितपृथ्वीगन्धसंस्पर्शसुरभिः, स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगम्=शुण्डाग्रछिद्रशब्द-सुन्दरम् यथा स्यातथा, दन्तिभिः=गजैः, पीयमानः=आद्यायमाणः, काननोदुम्ब-राणाम्=बन्यहेमदुघ्घकानाम्, परिणमयिता=परिपाकयिता, शीतः=हिमः, वायुः=पवनः, देवपूर्वम्=“देव”शब्दपूर्वकम्, गिरिम्=पर्वतम्, देवगिरि”-पर्वतमित्यर्थः, उपजिगमिषोः=यियासोः, ते=मेरस्य, नीचैः=शनैः, वास्यति=प्रापयिष्यतीत्यर्थः ।

शब्दार्थः—त्वश्चिष्यन्दोच्छ्रवसित—वसुधा-गन्धसम्पर्करम्यः=तुम्हारे बरसने के कारण प्रसन्न पृथ्वी के संसर्वे से सुन्दर, स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगम्=(हाथी के) शुण्ड के छिद्रों में शब्दपूर्वक जिसका सेवन सुन्दर प्रतीत होता है, दन्तिभिः=हाथियों के द्वारा, पीयमानः=सूंधा जाता, शीतः=ठंडी, वायुः=हवा, काननोदुम्बराणाम्=जंगली गूलरों को; परिणमयिता=पकाने वाली, देवपूर्वम्=जिसके पूर्व में “देव” शब्द है ऐसे, गिरिम्=पर्वत को (देवगिरि को) उपजिगमिषोः=जाने की इच्छा वाले, ते=तेरे, नीचैः=नीचे या धीरे, वास्यति=बहेगी ।

भावार्थः—(हे मेघ !) वृष्ट्युपवृंहितावनिसौरभसंपन्नं गजैः शुण्डाग्र-
छिद्रैः सशब्दमाग्रायमाणः वन्योदुम्बवरफलानां परिणमयिता शीतलः पवनः
देवगिरि यियासोस्ते नीचैः वास्यति ।

हिन्दी—हे मेघ ! तुम्हारे बरसने के कारण प्रसन्न भूमि के गन्ध के संसर्ग से सौरभयुक्त, शुण्ड के अग्रभागस्थ छिद्रों के द्वारा शब्दपूर्वक सूंचने में अच्छे हाथियों के द्वारा सूंधा गया, बन के गूलरों को पकाने वाला शीतल पवन तुम्हारे नीचे बहेगा, अर्थात् तुम्हें पंखा झलेगा ।

समाप्तः—तव निष्पन्नः त्वन्निष्पन्नः (ष० तत०) तेन उच्छ्रवसितः (त० तत०) त्वन्निष्पन्नच्छ्रवसिता चासौ वसुधा च—त्वन्निष्पन्नोच्छ्रवसितवसुधा (कमं०) तस्याः गन्धः (ष० तत०) तस्य सम्पर्कः (ष० तत०) तेन रम्यः—
त्वन्निष्पन्नोच्छ्रवसित—वसुधागन्ध—सम्पर्करम्यः (त० तत०) स्रोतसो रन्धाणि—
स्रोतोरन्धाणि (ष० तत०) लेषां ध्वनितम् (ष० तत०) काननेषु उदुम्बराणाम्—
काननोदुम्बराणाम् (स० तत०) । देव शब्दः पूर्वो यस्य सः देवपूर्वः (बहु०) ।

कोशः—स्रोत इन्द्रिये निम्नगारये, इत्यमरः । दन्तो दन्तावलो हस्ती
द्विरदोऽनेकपो द्विपः, इत्यमरः । उदुम्बरो जन्तु—फलो यज्ञाङ्गो हेम—दुर्घटः,
इत्यमरः ।

टिप्पणी—उच्छ्रवसिता:—उद उपसर्गपूर्वक “श्वस्” धातु से “क्त”प्रत्यय करके इडादि कर स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् किया गया है । संपर्कः—“सम्”—उपसर्गपूर्वक “पृच्” धातु से “घञ्” प्रत्यय करके “संपर्क” ऐसा रूप निष्पन्न होता है । त्वन्निष्पन्नो—स्रोतोरन्ध०—ये दोनों समस्तपद क्रिया-विशेषण हैं । **परिणमयिता**—यहाँ परि उपसर्गपूर्वक जिजन्त “परिणामि” धातु से कर्त्ता में तृच् प्रत्यय हुआ है । एवं “मितां हस्व” इस सूत्र से हस्व करके परिणमि बनाकर गुणादि करके “परिणमयिता” ऐसा रूप बनता है । देवपूर्वम् गिरिम्—इस प्रकार के प्रयोग संस्कृत साहित्य के बहुत से कवियों के काव्यों में पाये जाते हैं । जैसे कि कालिदास के रघुवंश महाकाव्य के ८वें सर्ग २९वें श्लोक के देखिये “दशपूर्वरथं यग्नारुद्यया दशकण्ठारिगुरुविदुर्द्विष्टः” और महाकवि भारकि

के किराताजुनीय महाकाव्य के १८वें सर्ग के ४४ वें श्लोक को देखें—“धनुरूप-पदमस्मै वेदमभ्यादिदेश” इसी तरह महाकवि माघ के शिशुपालवध के प्रथम सर्ग के ४२वें श्लोक में “हिरण्यपूर्वं कशिषुं प्रचक्षते” ऐसा वर्णन है। रघुवंश का उक्त पद “दशरथ” इसको, एवं किराताजुनीय का पद “धनुर्वेद” को एवं शिशुपाल का पद “हिरण्य-कशिषु” को व्यक्त करने के लिए कहा गया है। इसी तरह महाकवि ने यदि “देवपूर्वं गिरिम्” ऐसा प्रयोग कर ही दिया तो महोपाध्यायजी का अवाच्य वचन “दोष का उदधाटन प्रयुक्त” प्रतीत नहीं होता।

“देवगिरि” से यहाँ देवगढ़ विवक्षित है न कि ‘दक्षिण’ में स्थित देवगिरि या दौलताबाद। क्योंकि देवगढ़ जो चम्बल के दक्षिण में मालवा के मध्य में पड़ता है वहीं कार्तिकेयजी का मन्दिर भी है जिसका वर्णन आगे स्वयं कवि करेंगे ॥ ४२ ॥

तत्र स्कन्दं नियतवसर्ति पुष्पमेघीकृतात्मा

पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलाद्र्वेः ।

रक्षाहेतोनंवशशिभूता वासवीनां चमूना-

मत्यादित्यं हृतवहमुखे संभूतं तद्धि तेजः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—तत्र नियतवसर्ति म् स्कन्दम् पुष्पमेघीकृतात्मा भवान् व्योम-गङ्गाजलाद्र्वेः पुष्पासारैः स्नपयतु । तत् हि वासवीनाम् चमूनाम् रक्षा—हेतोः नवशशि-भूता हृतवह-मुखे, सम्भूतम् अत्यादित्यम् तेजः ।

व्याख्या—तत्र = देवगिरी, नियतवसर्ति म् = निश्चितनिवास-वन्तम्, स्कन्दम् = कार्तिकेयम्, पुष्पमेघीकृतात्मा = कुसुम-वर्षकमेघीकृतदेहः, भवान् = मेघः, व्योमगङ्गाजलाद्र्वेः = देवनदी-तौयकिलन्तेः, पुष्पासारैः = कुसुम-वृष्टिभिः, स्नपयतु = अभिषिञ्चतु । तत् = स्कन्दः, वासवीनाम् = इन्द्र-सम्बन्धिनीनाम्, चमूनाम् = सेनानाम्, रक्षाहेतोः = रक्षणाय, नवशशिभूता = अभिनवहिमांशु-शारिणा, हृतवहमुखे = अग्निवदने, सम्भूतम् = सञ्चितम्, अत्यादित्यम् = दिन-करातिशायि, तेजः = प्रतापः अस्ति, शंकर-प्रतिमूर्ति एवाऽस्ति ।

शब्दार्थः—तत्र=वहाँ देवगिरि पर, नियत—वसतिम्=निश्चित निवास चाले, स्कन्दम्=कार्तिकेय को, पुष्पमेधीकृतात्मा=अपने-आपको फूल का मेघ बना कर, भवान्=तुम, व्योमगङ्गाजलाद्र्वः=आकाशगङ्गा के जल से सिक्त (भींगे हुए), पुष्पासारैः=फूलों की दृष्टि से, स्नपयतु=नहलाओ, तद्=वह, वासवीनाम्=इन्द्र की, चमूनाम्=सेनाओं की, रक्षाहेतोः=रक्षा के लिए, नवशशिभृता=नूतन चन्द्रधारी शंकर के द्वारा, हुतवहमुखे=अग्नि के मुख में, सम्भृतम्=एकत्रित किया गया, अत्यादित्यम्=सूर्य का अतिक्रमण करने वाला तेजः=तेज (ही है)। अर्थात् सूर्य की प्रतिमूर्ति ही है।

भावार्थः—हे मेघ ! तत्र देवगिरी पुष्पमेधीकृत—विग्रहस्त्वं पुष्पसंपातैः कार्तिकेयमभिषिञ्चतु । सः स्कन्दः इन्द्रसम्बन्धीनीनां सैन्यानां रक्षणाय शंकरेण वहिमुखे सञ्चितं तेज एवास्ति, शंकर-प्रतिमूर्ति एवास्तीति भावः ।

हिन्दी—(हे मेघ !) उस देवगिरि पर्वत पर, अपने-आपको फूल का मेघ बनाकर तुम, वहाँ निश्चित रूप से रहनेवाले कार्तिकेय को आकाशगङ्गा के जल से गीली पुष्पदृष्टि से नहलाना । वे (कार्तिकेय) इन्द्र की सेना की रक्षा के लिए अग्नि के मुख में शंकर द्वारा एकत्रित किये गये तेज हैं । अर्थात् शंकर की प्रतिमूर्ति ही है ।

समाप्तः—नियता वसतियस्य स नियतवसतिः (बहु०), तम् । पुष्पाणां मेघः=पुष्पमेघः (ष० तत०) । अपुष्पमेघः पुष्पमेघः यथा सम्पद्यते तथा कृतः पुष्पमेधीकृतः, तथाविधिः आत्मा यस्य स पुष्पमेधीकृतात्मा (बहु०) । व्योम्नि गङ्गा व्योमगङ्गा (स० तत०) तस्याः जलम् (स० तत०), तेन आद्राः=व्योमगङ्गाजलाद्र्वः (त० तत०) तैः । पुष्पाणाम् आसारैः=पुष्पासारैः (ष० तत०) । नवश्वासी शशी=नवशशी (कर्मधारय) तं विभर्ति इति नवशशिभृत तेन नवशशिभृता (उपपद०) । हुतस्य वहः=हुतवहः (ष० तत०) हुतवहस्य मुखे=हुतवहमुखे (ष० तत०) । आदित्यमतिक्रान्तमिति=अत्यादित्यम् (मयूरव्यंसका०) ।

कोशः—पार्वतीनन्दनः स्कन्दनः, इत्यमरः । धारासम्पात आसारः,

इत्यमरः । वासवो द्रुत्रहा द्रुषा, इत्यमरः । ईश्वरः शर्वं ईशानः पिनाकी शशि-
शेखरः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—स्नपयतु— णिजन्त “स्नापि” धातु से “स्नापयतु” ऐसा प्रयोग बनाना उचित था, परन्तु अनुपसर्ग होने के कारण “गलास्नवनुवमां च” इस सूत्र से विकल्प से मिल्ता हो जाने के कारण “मितां हस्तः” इस सूत्र से हस्त होकर “स्नपयतु” ऐसा रूप बना है । **वासवीनाम्—** वासवस्येयं वासवी तासाम्, यहाँ “वासव” शब्द से “तस्येदम्” इस सूत्र से अण् प्रत्यय करके आदिवृद्धि करके स्त्री-विवक्षा में “डीप्” होकर “वासवी” ऐसा रूप बनाया जाता है, इसी के षष्ठी विभक्ति के बहुवचन का वासवीनाम् प्रयोग है । **कार्तिकेय और हुतवहमुखे सञ्चितम्—** तारकामुर के उपद्रव से संत्रस्त देवताओं की रक्षा के लिए “शंकर” जी ने अपना वीर्य अग्नि में स्थापित किया । इसी पौराणिक कथा को आधार बनाकर “हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः” ऐसा कहा गया । एवच जब उस वीर्य को अग्नि नहीं सहन कर पाये तो उन्होंने उसे गङ्गाजी में डाल दिया, और गङ्गा की लहरों पर तैरता हुआ वह वीर्य स्नान करती छः कृत्तिकाओं के पेट में चला गया; और वे भी तेजाधिक्य के कारण इसे न सह सकीं तो शरकण्डों के बन में उसे डाल दिया । इस प्रकार कृत्तिकाओं के मुख से उत्पन्न होने के कारण उन्हें “कार्तिकेय” कहा जाता है । शरकण्डे के बन में उत्पन्न हुए अतः “शरजन्मा” कहा जाता है ।

अलङ्कारः— यहाँ “रूपक” एवं “अर्थान्तरन्यास” ये दो अलंकार हैं, और दोनों के अङ्गाङ्गभावतया रहने के कारण “संकर” अलंकार है ॥४३॥

ज्योतिलेखावलयि गलितं यस्य बहुं भवानो
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ।
घौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं भयूरं
पश्चादद्वि— ग्रहण—गुहभिर्गजितैनंतर्येथाः ॥ ४४ ॥

अन्वयः— ज्योतिलेखावलयि गलितम् यस्य बहुम् भवानी पुत्रप्रेम्णा

कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति । हरशशिरुचा धौतापाङ्गम् पावके: तम्
मयूरम् पश्यत् अद्रिग्रहणगुरुभिः गर्जितैः नर्तयेथाः ।

ध्यात्या—ज्योतिर्लेखावलयि=कान्तिराजिमण्डलयुक्तम्; गलितम्=स्त्रीम्,
पतितमिति भावः । बहुम्=पिच्छम्, भवानी=गौरी, पुत्रप्रेम्णा=सुतस्नेहेन,
कुवलयदलप्रापि = नीलकमलपत्रप्राप्यम्, यथा स्यात्यथा, कर्णे = कर्णे, करोति =
आदधाति । हरशशिरुचा = शिवशशित्विषा, धौतापाङ्गम् = धवलितनयन-
प्रान्तम्, पावके: = कार्तिकेयस्य, तम् = वर्णितम्, मयूरम् = बहिणम्, पश्चात् =
स्कन्दाभिषेचनान्तरम्, अद्रिग्रहणगुरुभिः = देवगिरि-प्रतिष्ठवनिवद्धिगुणितैः,
गर्जितैः = स्तनितैः, नर्तयेथाः = नृत्यङ्कारय ।

शब्दार्थः—ज्योतिर्लेखावलयि = कान्तिवाली रेखाओं के मण्डन से युक्त,
गलितम्=गिरे हुए, यस्य =जिसके, बहुम्= पंख को, भवानी=पावृत्ती, पुत्र-
प्रेम्णा = पुत्र-प्रेम के कारण, कुवलयदलप्रापि = नील कमल के पत्रों से युक्त,
कर्णे = कान में, करोति = पहनती है । हरशशिरुचा = शंकरजी के मस्तकस्थ
चन्द्रमा की कान्ति से, धौतापाङ्गम् = धुल गये हैं (श्वेत हो गये हैं) नेत्र
कोरक जिसके, पावके: = कार्तिकेय के, तम्=उस, मयूरम्=मोर को, पश्चात् =
कार्तिकेय के अमिषेक के बाद, अद्रिग्रहणगुरुभिः = देवगिरि की प्रतिष्ठवनि से
बढ़े हुए, गर्जितैः = गर्जनों से, नर्तयेथाः = नचाना ।

भावार्थः—हे मेष ! स्कन्दाभिषेचनानन्तरं कान्तिपङ्क्ति-मण्डलान्वितं
यस्य पिच्छं पावृत्ती सुतस्नेहेन नीलपद्मपत्रप्रापि श्रोत्रे धारयति, यस्यापाङ्गैः
शिवशशि-चन्द्रिका-धवलितमस्ति- कार्तिकेयस्य तं मयूरं देवगिरिप्रतिष्ठवनि-
वद्धितैः गर्जितैः नर्तयेथाः ।

हिन्दी—हे मेष ! कार्तिकेय को पुष्पवृष्टि से नहला चुकने के बाद कान्ति
वाली रेखाओं के मण्डलों से युक्त गिरे हुए जिसके पंख को पावृत्ती पुत्र-प्रेम से
नीलकमल के पत्तों से युक्त कानों में पहनती हैं; एवं जिसकी आँखों की
कनकियाँ शिवजी के चन्द्रमा की चन्द्रिका से श्वेत हो गयी हैं, कार्तिकेय के
उस “मयूर” को देवगिरि के प्रतिष्ठवनि से बढ़े हुए गर्जन से नचाना ।

टिष्पणी-कुवलयदलप्रापि—समाप्ति के अलग-अलग करने से अर्थं भी अनेक प्रकार के उत्तप्ति के हैं। जैसा कि मैंने ऊपर किया है। उस व्युत्पत्ति के अनुसार “कमलदल के साथ जिसे धारण करती है” ऐसा अर्थ होता है। (१) यदि कुवलयदलं प्राप्नोति इति “कुवलयदलप्राप्” ऐसा विग्रह करके “कर्णे” इस सम्बन्धित पद का विशेषण माना जाय तो इसका अर्थ होगा ‘कुवलय के पत्तों को छोड़कर जिसे पहनती है।’ (३) कोई-कोई मूल के “प्रापि” इस पाठ के स्थान पर “क्षेपि” ऐसा पाठ मानते हैं, उसके अनुसार अर्थ होगा “कुवलयदलं क्षिपतीति=कुवलयदलक्षेपि”। कुछ लोग “प्रापि” के स्थान पर “स्पर्धि” ऐसा पाठ मानते हैं, कुवलयदलं स्पर्धते तच्छीलमस्यास्तीति” “कुवलयदलस्पर्धि” इस विग्रह के अनुसार अर्थ होगा “नील कमल के पत्तों से स्पर्धा करने वाला” इत्यादि। **पावकिः**—पावकस्यापत्यं पुमान्=पावकिः, यहाँ “पावक” शब्द से “अत इव्” इस सूत्र से “इव्” प्रत्यय किया गया है। **नर्तयेथा:**—गात्रविक्षेपार्थकं “नृत्” धातु से णिच् करके लङ्घकार के मध्यम-पुरुष एकवचन का यह रूप है। यद्यपि यहाँ णिजन्त “नृत्” अकर्मक होते हुए भी चित्वान् कर्ता से युक्त है अतः “अणावकम्मकाच्चित्तवत्कर्तुंकात्” इस सूत्र से, चलनार्थक होने से “निगरणचलनार्थेऽयश्च” इस सूत्र से परस्मैपद होना चाहिए था, त्रिपरन्तु “न पादम्याङ्ग्यसपरिमुहरुचिन्तिवदवसः” इस सूत्र से निवेद हो गया और “णिवश्ज” इस सूत्र से आत्मनेपद हो गया ॥ ४४ ॥

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुलङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वज्ञलकण-भयाद्वोणिभिर्मुक्तमार्गः ।
व्यालम्बेथा: सुरभितनयालभजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४५॥

अन्वयः—एनम् शरवणभवम् देवम् आराध्य वीणिभिः सिद्धद्वन्द्वैः जलकण-भयात् मुक्तमार्गः उलङ्घिताध्वा सुरभितनयालभजाम् भुवि स्रोतोमूर्त्या परिणताम् रन्तिदेवस्य कीर्तिम् मानयिष्यन् व्यालम्बेथा: ।

व्याख्या— एनम् = पूर्वोक्तम्, शरवणभवम् = बाणतृणारथ्यजातम्,
देवम् = सुरम्, कार्तिकेयमिति भावः आराध्य = सम्पूज्य, वीणिभिः =
वीणावद्धिः, सिद्धद्वन्द्वैः = सिद्धयुगलैः, जलकणभयात् = तोयविन्दुभीतेः,
मुक्तमार्गः = उज्जिताध्वा, (सन्) उल्लङ्घताध्वा = निस्तृतपथः, सुरभि-
तनयाऽलम्भजाम् = गवालम्भनजाताम्, भुवि = अवनी, स्रोतोमूर्त्या =
नदीरूपेण, परिणताम् = परिवर्तिताम्, रन्तिदेवस्य = एतन्नामकस्य दशपुर-
नरेशस्य, कीर्तिम् = यशः, 'चर्मण्वती' नाम्नी नदीमित्यर्थः, मानयिष्यन् =
सत्कुवन्; व्यालम्बयेथाः = अवतरेः ।

शब्दार्थः— एनम् = पहले कहे गये, शरवणभवम् = सरकण्डों के बन में
उत्पन्न. देवम् = देवता की अर्थात् कार्तिकेय की, आराध्य = आराधना करके,
वीणिभिः = वीणाधारी, सिद्धद्वन्द्वैः = सिद्धों के जोड़ों द्वारा, जलकणभयात् =
जल-कण के भय से, त्यक्तमार्गः = जिसका मार्ग छोड़ दिया गया है, उल्लङ्घ-
ताध्वा = जिसने अपना मार्ग तय कर लिया है (ऐसे तुम), सुरभितनया-
लम्भजाम् = गौओं के बलिदान से (गौमेधयज्ञ से), भुवि = पृथ्वी पर उत्पन्न,
स्रोतोमूर्त्या = नदीरूप से, परिणताम् = परिणत, रन्तिदेवस्य = इस नाम के
दशपुर के राजा के, कीर्तिम् = यश को, अर्थात् "चर्मण्वती" नदी को, मान-
यिष्यन् = सत्कृत करते हुए, व्यालम्बयेथाः = नीचे उतरना ।

भावार्थः— हे मेघ ! पूर्ववर्णितं भगवंतं कार्तिकेयं संपूज्य वीणावद्धिः सिद्ध-
मिथुनैः तोयपतनभयात् परित्यक्तपथः अतिक्रान्ताध्वा (त्वंम्) दशपुरनरेशस्य
यशोमूर्ति गवालम्भनोद्भवां भूमी नदीरूपेण परिणतां चर्मण्वतीं सत्कुवन् नीचैः
अवतरेः ।

हिन्दी— हे मेघ ! पहले कहे गये कार्तिकेय की पूजा करके, वीणाधारी
सिद्धयुगलों ने जिसका मार्ग छोड़ दिया है एवं जिसने मार्ग पार कर लिया है
(ऐसे तुम) यज्ञ में गौओं के बलिदान से उत्पन्न, पृथ्वी पर नदीरूप में
परिणत रन्तिदेव नामक दशपुरनरेश की कीर्तिमूर्ति, "चर्मण्वती" का सत्कार
करते हुए नीचे उतरना ।

समाप्तः—शरवणे भवो यस्य तम्=शरवण-भवम् (व्यधिकरण) । जलस्य कणाः=जलकणाः (४० तद०) तेभ्यः भयात्=जलकणभयात् (४० तद०) । त्यक्तः भार्गो यस्य सः त्यक्तमार्गः (बहुब्री०) । उल्लङ्घितोऽष्टवा येन सः=उल्लङ्घिताष्टवा (बहुब्री०) । सुरभेः तनयाः=सुरभितनयाः (४० तद०) तासाम् आलम्भनम् सुरभितनयालम्भनम् (४० तद०) तस्माद् जानाम्=सुरभितनयालम्भजाम् (४० तद०) । स्रोतसः मूर्तिः=स्रोतोमूर्तिः (४० तद०) तया ।

कोशः—शरो वाणे वाणतृणे, इति शब्दार्णवः । शरजन्मा षडाननः, इत्यमर; । अयनं वर्तमार्गाष्टव, इत्यमरः । सुरभिर्गंवि च स्त्रियाम्, इत्यमरः ।

टिष्ठणी—शरवणभव्यम्-भवनं भवं=“भू” धातु से “ऋदोरप्” इस सूत्र से धातु के उकारान्त होने के कारण अप् प्रत्यय किया गया है । शरवण=पद-घटक “वन” शब्द के नकार को “प्रविरन्तः शरेच्छुप्लक्षाऽप्रकाव्यंखदिर-पीयूषक्षाम्योऽसंज्ञायामपि” इस सूत्र से ज्ञत्व हो गया है । वीणिमि:—वीणा अस्त्येषामिति “वर्णितः” यां “वीणा” शब्द से “वीह्यादिभ्यश्च” इस सूत्र से “इनि” प्रत्यय करके “वीणिन्” शब्द बना है । उल्लङ्घितः—“उद्” उपसर्गं पूर्वक ‘लघि’ धातु से कर्म में ‘क्त’ प्रत्यय करके इडादि करके “उल्लङ्घितः” शब्द निष्पत्न होता है । मानयिष्यन्—णिजन्त “मानि” धातु के लृट् लकार के शेरृ प्रत्ययान्त उक्त शब्द है । व्यालस्वेद्याः—“वी” एवं “आङ्” उपसर्गं पूर्वक “लवि” धातु के लिङ् लकार के मध्यमपुरुष के एकवचन का यह रूप है । रन्तिदेवः—प्राचीन समय में भरतवंश में उत्पन्न संस्कृति के पुत्र “रन्ति-देव” थे । यह दशपुर के राजा थे । ये बहुत बड़े याजिक, दानी एवं प्रतापी थे । इन्होंने ही कबूतर की प्राणरक्षा के लिए अपना मांस काटकर बाज को दिया था ।

अलङ्कारः—यहाँ कीर्ति में एवं चमंच्वती नदी में भेद होने पर भी अभेदेन वर्णन होने के कारण “अतिशयोक्ति” नामक अलङ्कार है ॥ ४५ ॥

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्ग्न्मणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रबाहम् ।

प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावज्यं दृष्टी—

रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—शार्ङ्गणः वर्णचौरे त्वयि जलम् आदातुम् अवनते पृथुमपि दूर-भावात् तनुम् तस्याः सिन्धोः प्रवाहम् गगनगतयः दृष्टीः आवज्यं एकम् स्थूलमध्येन्द्रनीलम् भुवः मुक्तागुणम् इव नूनम् प्रेक्षिष्यन्ते ।

व्याख्या—शार्ङ्गणः = श्रीकृष्णस्य; वर्णचौरे = कान्ति-चौरे, समान-वर्णंके इति भावः, त्वयि = मेघे, जलम् = तोयम्, आदातुम् = प्रहीतुम्, अवनते = लम्बिते सति, पृथुमपि = स्थूलमपि, दूरभावात् = विप्रकृष्टत्वात्, तनुम् = सूक्ष्म-मिवाभासमानम्, तस्याः = पूर्वंकथितायाः, सिन्धोः = एतन्नामिकायाः नद्याः, प्रवाहम् = वेगम्, गगनगतयः = खेचराः, सिद्धादयः इत्यर्थः, दृष्टीः = नेत्राणि, आवज्यं = संनियम्य, एकम् = एकयष्टिकम्, स्थूलमध्येन्द्रनीलम् = पृथुमध्यमणि-भूतेन्द्रनीलम्, भुवः = पृथिव्याः, मुक्तागुणम् = मौक्तिकहारम्, इव = यथा, नूनम् = अवश्यम्, प्रेक्षिष्यन्ते = अवलोकयिष्यन्ति ।

शब्दार्थः—शार्ङ्गणः = श्रीकृष्ण के, वर्णचौरे = रंग को चुराने वाले अर्थात् श्यामरंगवाले, त्वयि = तुम्हारे, जलम् = जल, आदातुम् = लेने के लिए, अवनते = नीचे झुकने, (उतरने पर), पृथुमपि = विशाल होने पर भी, दूर-भावात् = दूर होने के कारण, तनुम् = छोटे से दीक्षते वाले, तस्याः = उस पहले कही गयी, सिन्धोः = सिन्धु (चर्मण्वती) नदी के, प्रवाहम् = प्रवाह को, गगन-गतयः = आकाशचारी सिद्धगन्धर्वादि, दृष्टीः = नजरों का (नीखों को), आवज्यं = केन्द्रित कर, एकम् = एक नदी वाली, स्थूलमध्येन्द्रनीलम् = जिसके बड़े मणियों के मध्य एक इन्द्रनीलमणि लगा है (ऐसे) भुवः = पृथ्वी को, मुक्ता-गुणम् = मोती की माला के, इव = समान, नूनम् = अवश्य, प्रेक्षिष्यन्ते = देखेंगे ।

भावार्थः—हे मेघ ! कृष्णसमानवर्णंके त्वयि तोयाऽदातुमवनते सति गगनचारिणः सिद्धादयः विशालमपि विप्रकृष्टत्वात् सिन्धोः तनुमिव प्रतीयमानं प्रवाहम्, एकयष्टिकामिन्द्रनीलमणियुक्तां पृथिव्याः मालामिव त्वां दृष्टीः नियम्य प्रेक्षिष्यन्ते ।

हिन्दी—हे मेघ ! श्रीकृष्ण के समान नीले रंग के तुम्हारे जल लेने के लिए उतरने पर, गगनचारी सिंदुगन्धर्वादि, विशाल होने पर भी दूर होने के कारण छोटे से दीखने वाले सिंधु नदी के प्रवाह को मध्यमणीभूत इन्द्रनील मणिवाली एक लरी की पृथ्वी की मोती की माला की तरह तुम्हें दृष्टि केन्द्रित कर अवश्य देखेंगे ।

समासः—गगते गतियोषान्ते=गगनगतयः (बहु०) । मध्यश्रासी इन्द्रनीलः = मध्येन्द्रनीलः (कर्मधारय), स्थूलः मध्येन्द्रनीलो यस्य तम्—स्थूलमध्येन्द्रनीलम् (बहु०) । मुक्तायाः गुणम् मुक्तागुणम् (ष० तत्पु०) । वर्णस्य चौरः—वर्णचौरः तस्मिन् (ष० तत०) ।

कोशः—चापः शाङ्कमुरारेस्तु, इत्यमरः । विशङ्गटं पृथु वृहद्विशालं पृथुलं महत्, इत्यमरः । स्तोकाल्पक्षुलकाः सूक्ष्मं इक्षणं दध्र्णं कृशं तनु, इत्यमरः ।

टिप्पणी—शार्ङ्ग्नः—“शृङ्गस्य विकारः” इस विग्रह में शृङ्ग शब्द से “तस्य विकारः” इस सूत्र से अण् प्रत्यय करके वृद्धिरपरत्वादि करके ‘शाङ्क’ ऐसा शब्द निष्पन्न होता है । और—“शाङ्कमस्यास्तीति” इस विग्रह में “शाङ्क” शब्द से “अत इनिठनौ” इस सूत्र से “इनि” प्रत्यय करके ‘शार्ङ्ग्नून्’ ऐसा शब्द निष्पन्न किया जाता है । उक्त रूप इसी शब्द के बष्टी विभक्ति के एक वचन का है । **चौरः**—इस शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है ।—(१) चोरण् चुराः स्तेय अर्थ में विद्मान “चुर” धातु से “अप्रत्ययात्” इससे अप्रत्यय करके स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् करेंगे, एवच्च चुरा शीलमस्याः स्तीति इस विग्रह में “छत्रादिष्यो णः” इस सूत्र से “ण” प्रत्यय करके “चौर” शब्द बनाया जा सकता है । (२) दूसरी व्युत्पत्ति “चोरयतीति चोरः, चोर एव चौरः” ऐसी भी हो सकती है । स्वार्थिक जिजन्त “चोरि” धातु से कर्त्ता में अच् प्रत्ययादि करके “चौर” शब्द बना लेंगे और उसी से स्वार्थ में “प्रज्ञादिष्यञ्च” इस सूत्र से “चौर” ऐसा रूप बनाया जा सकता है ।

अलंकारः—यहाँ “एक के वर्ण का दूसरे द्वारा चोरी होना” रूप असम्भव वस्तुसम्बन्ध होता हुआ शाङ्की के वर्णसाम्य का प्रतिपादन करने के

कारण निदर्शना अलंकार है। काले रंग के मेघ से युक्त सिन्धु (चर्मण्वती) के प्रवाह में स्थूलमणियों के मध्यमणीभूत इन्द्रनील मणि बाले हार की संभावना पृथ्वी के कण्ठ में की गई है, अतः “उत्प्रेक्षा” अलंकार हुआ। उत्प्रेक्षा वाचक शब्द यहाँ “तूनम्” है।

इस प्रकार यहाँ दोनों अलङ्कारों का अङ्गाङ्गभाव होने से “सङ्कर” अलङ्कार है॥ ४६॥

तामुत्तीर्थ ब्रज परिचितभूलताविभ्रमाणाम्
पक्षमोत्क्षेपाऽदुपरि—विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् ।
कुन्दक्षेपाऽनुगमधुकर — श्रीमुषामात्मविभवं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्र — कौतूहलानाम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—ताम् उत्तीर्थ आत्मविभवम् परिचितभूलताविभ्रमाणाम् पक्षमोत्क्षेपात् उपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् कुन्दक्षेपाऽनुगमधुकरश्रीमुषाम् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् पात्री-कुर्वन् ब्रज ।

व्याख्या—(हे मेघ) ताम्=चर्मण्वतीम्, उत्तीर्थ=पारङ्गत्वा, आत्मविभवम्=स्वस्वरूपम्, परिचितभूलताविभ्रमाणाम्=अवगतभ्रूवल्लीविलासानाम्, पक्षमोत्क्षेपात्=नेत्रलोमोन्नमनात्, उपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्=ऊद्धवाभागविराजितनीलशबलकान्तीनाम्, कुन्दक्षेपाऽनुगमधुकरश्रीमुषाम्=मध्यपुष्पेतस्ततः गमनानुगम्भरं शोभापहारिणाम्, दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्=रन्तिदेवनगरी-वनिताक्षिकौतूहलानाम्, पात्रीकुर्वन्=भाजनीकुर्वन्, ब्रज=गच्छ ।

शब्दार्थः—हे मेघ ! ताम्=उस चर्मण्वतीनदी को, उत्तीर्थ=पार करके, आत्मविभवम्=अपनी मूर्ति को, परिचितभूलताविभ्रमाणाम्=जो भ्रूलताओं के विलास से परिचित हैं, पक्षमोत्क्षेपात्=पलकों को ऊपर उठाने के कारण, उपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्=ऊपर विराजमान काले, लाल तथा सफेद कान्ति से सम्पन्न हैं (ऐसे), कुन्दक्षेपाऽनुगमधुकरश्रीमुषाम्=कुन्दपुष्प के ऊपर इधर-उधर धूमनेवाले भौंरों की शोभा को चुराने वाले हैं, दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्=

रन्तिदेव राजा की नगरी की स्त्रियों के नेत्रों की अभिलाषाओं का, पात्री-कुर्वन्=भाजन बनाते हुए, ब्रज=जाना ।

मात्रार्थः—हे मेघ ! त्वं चर्मण्वतीं नदीमुत्तीर्यं स्वात्मविम्बमवलोकनाय
ऊर्ध्वानां भ्रूविलासज्ञानां दशपुरवनितानां नेत्राणां कौतूहल-विषयीकुर्वन्
गच्छ ।

हिन्दी—हे मेघ ! उस चर्मण्वती नदी को पार कर अपनी मूर्ति को,
भ्रूविलास से परिचित, पलकों को ऊपर उठाने के कारण ऊपर विराजमान
काले, लाल तथा सफेद कान्तियों से युक्त कुन्दपुष्प पर इधर-उधर धूमने वाले
प्रमरों की शोभा को चुराने वाले दशपुर की नारियों के नेत्रों को अभिलाषाओं
का पात्र बनाते हुए जाना ।

समाप्तः—आत्मनः विम्बम्=आत्मविम्बम् (४० तद०) भ्रुवः लता
इव = भ्रूलता (उपमितकमंघारय), भ्रूलतानां विभ्रमाः = भ्रूलताविभ्रमाः
(४० तद०) परिचिता भ्रूलताविभ्रमा येषु तानि परिचरितभ्रूलताविभ्रमाणि
तेषाम् (बहुब्री०) । पक्षमणाम् उत्क्षेपः पक्षमोत्क्षेपः (४० तद०) तस्मात् ।
कृष्णाश्च ताः शाराः = कृष्णशाराः (कर्मघारय) उपरिविलसन्त्यः (सु-सुपेति-
समाप्तः) उपरिविलसन्त्यः कृष्णशाराः प्रभा येषां तानि तेषाम् = उपरिविल-
सत्कृष्णशारप्रभाणाम् (बहुब्रीहिः) । दशपुराणि यत्र तद् दशपुरम् (बहुब्री०) ।

कोशः—पक्षम् सूत्रे च सूक्ष्मांशे किञ्जल्के नेत्रलोभनि, इति विश्वः । कृष्णे
नीलासितश्याम-कालश्यामल-मेचकाः, इत्यमरः । कृष्णरक्तसिताशाराः, इति
यादवः । मात्र्यं कुन्दम्, इत्यमरः । वधूर्जायान्तुया स्त्री च, इत्यमरः ।

टिप्पणी—उत्तीर्थ—उद् उपसर्गपूर्वकं “प्लवन और संतरण” अर्थ में
विद्यमान “तृ” धातु से क्षत्वा प्रत्यय करके उसके स्थान में “ल्यप्” करके
ऐसा रूप बनता है । उत्क्षेपः—“उद्” उपसर्ग-पूर्वक क्षेपणार्थकं “क्षप्” धातु
से भाव में “घ्व्” प्रत्यय करके “उत्क्षेप” ऐसा रूप निष्पन्न किया जाता है ।
कृष्णशाराः—यहाँ जो कर्मघारय समाप्त “कृष्णाश्च ताः शाराः” किया गया है वह
दोनों पद के वर्णवाची होने कारण “वर्णो वर्णेन” इस सूत्र से किया गया है ।

श्रीमुषाम्—श्री मुषन्ति इति “श्रीमुट्” तेषाम् । यहाँ स्तेयार्थक “मुष्” धातु से किव्य प्रत्यय किया जाता है परन्तु उसका सर्वापहारी लोप हो जाता है । **पात्रीकुर्वन्**—“अपात्रं पात्रं यथा सम्पद्यते” इस विश्रह में “पात्र” शब्द से अभूततदधार अर्थ में “चिव” प्रत्यय करके “कृ” का अनुप्रयोग करके शरृ प्रत्यय लाकर “पात्रीकुर्वन्!” ऐसा रूप बनाया जाता है ।

अलङ्कारः—यहाँ कुन्द पुष्प सफेद, उसी तरह दशपुर-वस्तुओं के नेत्र भी सफेद, एवं उस फूल पर ध्रमर काला है, उसी तरह आँखों की पुतलियाँ भी काली हैं, इसलिए यहाँ “उपमा” अलङ्कार है ॥ ४७ ॥

ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधन-पिशुनं कौरवं तद्भजेयाः ।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीव-धन्वा
धारापातेस्त्वमिव कमलान्यस्थवर्षन्मुखानि ॥ ४८ ॥

अन्वयः—‘अथ ब्रह्मावर्तम्’ जनपदम् छायया गाहमानः छत्रप्रधनपिशुनम् तद कौरवं क्षेत्रम् भजेयाः । यत्र गाण्डीवधन्वा शितशर-शतैः राजन्यानाम् मुखानि धारा-पातैः कमलानि त्वम् इव अभ्यवर्षत् ।

व्याख्या—अथ = अनन्तरम्, ब्रह्मावर्तम् = ब्रह्मावर्तनामानम् जनपदम् = देशम्, छायया = अनातप-मण्डलेन, गाहमानः = प्रविशन्, क्षत्रप्रधनपिशुनम् = राजन्य-रण सूचकम्, तद् = प्रसिद्धम्, कौरवम् = कुरुसम्बन्धि, क्षेत्रम् = स्थानम्, कुरुक्षेत्र-मित्यर्थः, भजेयाः = गच्छेः । यत्र = कुरुक्षेत्रे, गाण्डीवधन्वा = अर्जुनः । शित-शर-शतैः = अत्यन्ततीक्षणबाणसहस्रैः, राजन्यानाम् = नृपानाम्, योद्धानामिति भावः । मुखानि = वदनानि, धारापातैः = आमारैः, कमलानि = पद्मानि, त्वम् = मेघः, इव = यथा, अभ्यवर्षत् = अभिमुख दृष्टवान्, बाणप्रहारैः शिरांसि पातयामासेत्यर्थः ।

शब्दार्थः—अथ = पश्चात्, ब्रह्मावर्तम् = ब्रह्मावर्तं नामक, जनपदम् = देश को, छायया = छायारूप से, गाहमानः = प्रविष्ट होता हुआ, क्षत्रप्रधनपिशुनम् = क्षत्रियों के युद्ध को सूचित करने वाले, तद् = उस प्रसिद्ध, कौरवम् = कुरुवंशियों के, क्षेत्रं = स्थान को अर्थात् कुरुक्षेत्र को, भजेयाः = प्राप्त करना । यत्र = जहाँ गाण्डीव-

घन्वा = अर्जुन ने, शितशरशतैः=असंख्यतीक्ष्णवाणों के द्वारा, राजन्यानम् = राजाओं के, मुखानि = शिरों पर, धारासारैः=मूसलाधार वृष्टि के द्वारा, कमलानि = कमलों पर, त्वम् = मेघ की, इव = तरह, अध्यवर्षत् = वर्षा की थी अर्थात् अत्रियों के मस्तकों को वेघ डाला था ।

आवार्थः—हे मेघ ! पश्चात् छाया-रूपेण ब्रह्मावर्तनामकं देशं प्रविश्य कौरव-युद्ध सूचक-कुरुक्षेत्रं गच्छ । यत्र अर्जुनः स्वतीक्ष्णवाणमहसैः प्रतिभटानां गिरांसि धारासंपातैः यथा त्वं कमलानि पातयसे तथैव पातयामास ।

हिन्दौ—हे मेघ ! उसके बाद छायारूप से ब्रह्मावर्त देश में प्रवेश करते हुए तुम, अत्रियों के युद्ध को आज भी जो सूचित कर रहा है, उस प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र को जाना । जहाँ अर्जुन ने अपने असंख्य तीखे बाणों के द्वारा अत्रियों के मस्तकों को उसी तरह काट गिराया था जिस तरह तुम मूसलाधार वृष्टि के द्वारा कमलों को गिराते हो ।

समाप्तः—क्षत्राणां प्रधनं = क्षत्रप्रधनम्, (४० तद०) तस्य पिशुनम् = क्षत्रप्रधनपिशुनम् (४० तद०) । शिताश्व ते शराः शितशराः (कर्म०) तेषां शतानि तैः (४० तद०) = शितशरशतैः । गाढीवं धनुर्यस्य गाढीवधन्वः (बहु० त्रीहिः) । धाराणां पाताः = धारापाताः (४० तद०) तैः ।

कोशः—नीवृज्जनपदो देशः, इत्यमरः । युद्धमायोध्यनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्, इत्यमरः । कपिष्ठवजस्य गाढीवगाण्डिवौ पुन्नपुंसकौ, इत्यमरः । मूर्धाभिषिक्तो राजन्यः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—**ब्रह्मावर्तम्**—आवर्तनं आवर्तंः=“आङ्” उपसर्गपूर्वक वर्तनार्थक “वृत्” धातु से भाव में घब्र प्रत्यय करके “आवर्तं” शब्द निष्पक्ष होता है, जिसका अर्थ “सृष्टि” है । ब्रह्माणः आवर्तः यस्मिन् सः=ब्रह्मावर्तः देश-विशेषः । गाहमानः—विलोडन अर्थ में विद्यमान “गाह्” धातु से लट्टलकार के स्थान पर “लटः शतुशानच्” इस सूत्र से “शानच्” प्रत्यय करके मुडादि करके “गाहमानः” ऐसा रूप बनता है । **कौरवं तद्भजेथाः**—यद्यपि इस श्लोक में “यद्” शब्द के पाठ के बिना भी “तद्” शब्द का प्रयोग है, एवं साहित्यिकों ने ऐसे स्थल पर सामान्य रूप से “विद्येयाऽविमर्शः” नामक दोष को माना है; क्योंकि “यद्

और तद्” शब्द का नित्य सम्बन्ध होता है। तथापि कुछ ऐसे स्थल भी होते हैं, जहाँ “यद्” शब्द की अपेक्षा किये बिना भी “तद्” शब्द के प्रयोग से दोष नहीं आता। इसमें प्रमाण आलङ्कारिकों की निम्नलिखित पंक्ति है—“प्रक्रान्तप्रसिद्धाऽनुभूतार्थकस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते” इति। इसका अर्थ है कि “प्रक्रान्त अर्थात् पूर्ववर्णित पदार्थ में प्रसिद्ध अर्थ में और अनुभूत अर्थ में प्रयुक्त ‘तद्’ शब्द ‘यद्’ की अपेक्षा नहीं करता। अतः यहाँ प्रसिद्ध अर्थ में “तद्” शब्द के प्रयोग होने के कारण उक्त दोष नहीं है।

कौरवम्—कुरुणामिदं कौरवम् यहाँ “कुरु” शब्द से “तस्येदम्” इस सूत्र से “अण्” प्रत्यय करके वृद्धचादि करके “कौरवम्” ऐसा रूप निष्पन्न किया गया है। **कुरुक्षेत्रः**—यहाँ पाण्डवों और कौरवों का प्रसिद्ध “महाभारत” युद्ध हुआ था। परशुरामजी ने वहीं पर २१ बार क्षत्रियों को निर्मूल करने के अभिप्राय से उनका संहार कर “स्यमन्तपञ्चक” क्षेत्र की स्थापना की थी। **गाण्डीवम्**—गाण्डी ग्रन्थिः अस्यास्तीति गाण्डीवम्, यहाँ “गाण्डी” शब्द से “गाण्डजगात्संज्ञायाम्” इस सूत्र से “व” प्रत्यय हुआ है, क्योंकि यह अर्जुन के धनुष की संज्ञा है। **शितम्**—“शो तत्त्वकरणे” इस धातु से “क्त” प्रत्यय करके “शाच्छोरन्यतरस्याम्” इस सूत्र से विकल्प से इत्व हुआ है। **राजन्यः**—राज्ञमपत्यानि इस विग्रह में “राजन्” शब्द से “राजश्वसुराद्यत्” इस सूत्र से यत प्रत्यय हुआ है एवं “ये चाऽमावकर्मणोः” इस सूत्र से “टी” (अन्) को प्रकृतिभाव हो गया, तब “राजन्य” ऐसा रूप बना है।

अलंकारः—यहाँ अर्जुन की बाणवृष्टि की तुलना मेघ की जलवृष्टि से की गयी है, अतः “उपमा” अलङ्कार है ॥ ४८ ॥

हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समर-विमुखो लाङ्गलो याः सिषेवे ।
कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना—
मन्तःशुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥ ४९ ॥

अन्वयः— बन्धुप्रीत्या समरविमुखः लाङ्गली अभिमतरसाम् रेवतीलोच-
नाङ्गाम् हालाम् हित्वा याः सिषेवे । हे सौम्य ! त्वम् अपि तासाम् सारस्व-
तीनाम् अपाम् अभिगमम् कृत्वा अन्तःशुद्धः वर्णमात्रेण कृष्णः भविता ।

व्याख्या— बन्धुप्रीत्या = संबन्धिस्तेहेन, न तु भीरुतया, समरविमुखः =
युद्धपराङ्मुखः, लाङ्गली = बलरामः, अभिमतरसाम् = इष्टस्वादाम्, रेवतीलोच-
नाङ्गाम् = स्वप्रियानयनाङ्गिताम्, हालाम् = मदिराम्, हित्वा = त्यक्त्वा, याः =
सरस्वत्यापः, सिषेवे = सेवितवान् पपावित्यर्थः । हे सौम्य ! = हे भद्र ! त्वम् =
मेघः अपि, तासाम् = पूर्वकथितानाम्, सारस्वतीनाम् = सरस्वतीसंबन्धिनीनाम्
अपाम् = तोयानाम्, अभिगमम् = सम्मुखगमनम्, पानमित्यर्थः, कृत्वा = विद्याय,
अन्तःशुद्धः = निर्मलान्तःकरणः सन्, वर्णमात्रेण = शारीरिकरूपेणैव, कृष्णः =
श्यामः, न तु हृदयेनापि कृष्णः पापी इति भावः । भविता = भविष्यति ।

शब्दार्थः— बन्धुप्रीत्या = बान्धवप्रेम से, चूंकि कौरव-पाण्डव संबन्धी थे
इस स्नेह से न कि भय से, समरविमुखः = युद्ध से विमुख, लाङ्गली = बलराम
ने, अभिमतरसाम् = इष्टस्वादवाली, रेवतीलोचनाङ्गाम् = अपनी प्रिया की आँखों
(की छाया) से चिह्नित, हालाम् = मदिरा को, हित्वा = छोड़कर, याः =
जिसका (सरस्वती के जल का), सिषेवे = सेवन किया था, अर्थात् पान किया
था । हे सौम्य = हे भद्र, त्वम् = तुम, अपि = भी, तासाम् = उस, सारस्वती-
नाम् = सरस्वती के, अपाम् = जलों का, अभिगमम् = सेवन, कृत्वा = करके
अर्थात् उसका पान करके, अन्तःशुद्धः = निर्मलान्तःकरण वाले होकर, वर्णमात्रेण =
केवल रंग से, न कि हृदय से भी, कृष्णः = श्यामवर्ण के, भविता = हो जाओगे ।

भावार्थः— हे सौम्य ! बान्धव प्रेमणा समरपराङ्मुखो हलधरः अभीष्ट-
स्वादां स्वप्रियानयनप्रतिविम्बितां मदिरां त्यक्त्वा याः सारस्वतीः अपः पपौ ।
त्वमपि तेषां सारस्वतीनाम् अपां पानं कृत्वा निर्मलान्तःकरणः सन् रूपेणैव
(न तु हृदयेन) श्यामो भविता ।

हिन्दी— हे सज्जन ! बान्धव-स्नेह के कारण युद्ध से विरत बलराम ने अपनी
इच्छित स्वादवाली, अपनी प्रिया के नेत्रों के प्रतिविम्ब से चिह्नित मदिरा को
छोड़कर जिस सरस्वती के जल का सेवन किया था । तुम भी उस जल का

सेवन (पान) करके निमंल अन्तःकरण वाले होकर केवल रूप से (न कि हृदय से भी) श्यामरंग के हो जाओगे ।

समाप्तः—बन्धुनां प्रीतिः—बन्धुप्रीतिः (ष० तत०) तथा । समराद् विमुखः समरविमुखः (पञ्चमी तत०) । अभिमतो रसो यस्या सा अभिमत-रसा (बहु०) ताम् । रेवत्याः लोचने एव अङ्कं यस्या सा रेवतीलोचनाङ्का (बहु०) ताम् ।

कोशः—रेवती रमणो रामः, इत्यमरः । कलङ्काङ्को लाङ्छनं च, इत्य-मरः । सुरा हलिप्रिमा हाला, इत्यमरः । तालांको मुसली हली, इत्यमरः ।

टिप्पणी—लाङ्कली—लाङ्कलमस्यास्तीति लाङ्कली, यहाँ “लाङ्कल” शब्द से “अतइनिठाँ” इस सूत्र से “इन” प्रत्यय करके “लाङ्कली” शब्द निष्पन्न होता है । इसका अर्थ हलवाला होता है, यह बलरामजी का नाम है; क्योंकि हल ही उनका प्रधान अस्त्र था । ये रोहिणी के गम्भ से उत्पन्न वसुदेव के ७वें पुत्र थे । **रेवतीलोचनाङ्काम्—बलरामजी “मदिरा”** के बहुत प्रेमी थे और पति यदि मदिरा पीता हो तो पत्नी भी यदि उसका साथ दे तो कोई अनुचित नहीं इसीलिए रेवती भी मदिरा पीती थी अतएव मदिरा में उसकी आँखों की परछाई पढ़ती होगी, जिसका कवि ने कथन किया है । **सारस्वती-नाम्—सरस्वत्यः** इमा सारस्वत्यः । सरस्वती शब्द से “तस्येदम्” इस सूत्र से अन् प्रत्यय करके वृद्धादि करके स्त्रीत्व की विवक्षा में ढीप् करके “जस्” विभक्ति लाकर “सारस्वत्यः” ऐसा रूप बनता है, तासाम्=सरस्वतीनाम् यह षष्ठीविभक्ति का रूप है । **अभिगमम्—“अभि”** उपसर्गपूर्वक “गम्” धातु से “ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च” इस सूत्र से “अप्” प्रत्यय करके “अभिगम” ऐसा रूप निष्पन्न होता है । उक्त रूप उसी शब्द के द्वितीया विभक्ति का है । **वर्ण-मात्रेण—वर्ण एव “वर्णमात्रम्”** यहाँ एव के साथ विग्रह करके “मात्र” के साथ-साथ समाप्त किया गया है, अतः अस्वपद विग्रह होने के कारण “मयूर-व्यंसकादयश्च” इस सूत्र से नित्य समाप्त किया गया है । उक्त रूप द्वितीया विभक्ति का है । **भविता—यहाँ “भू”** धातु से भविष्यत् अर्थ में “वर्तमान-समीपवर्तमानवद्वा” इस सूत्र से वर्तमान काल में “श्वलतृचौ” इस सूत्र से “तृच्” प्रत्यय किया गया है ॥ ४९ ॥

तस्मात् गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णा
जहोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपान-पंक्तिम् ।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शःभोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोमिहस्ता ॥ ५० ॥

अन्वयः—तस्मात् अनुकनखलम् शैलराजाऽवतीर्णाम् सगर तनय-स्वर्ग-सोपानपंक्तिम् जहोः कन्याम् गच्छ । या गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनाम् फेनैः विहस्य इव इन्दुलग्नोमिहस्ता शम्भोः केशग्रहणम् अकरोत् ।

व्याख्या—तस्मात् = कुरुक्षेत्रात्, अनुकनखलम् = कनखलतीर्थ-समीपे, शैलराजाऽवतीर्णाम् = हिमालयनिःसृताम्, सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् = सगर-पुत्रव्योमगमनारोहणशृङ्खलाम् स्वर्गमाधनभूतामिति भावः । जहोः = एतन्नाम-कस्य राजः, कन्याम् = पुत्रीम् जाह्नवीं गङ्गामित्यर्थः । गच्छः = यायाः । या = जाह्नवी, गौरीवक्त्र-भ्रुकुटिरचनाम् = पावंतीवदनभ्रुभङ्गनिर्मिताम्, फेनैः = डिण्डरैः विहस्य इव = उपहासं कृत्वेव; इन्दुलग्नोमिहस्ता = चन्द्रसंलग्नवीचिकरा (सती), शम्भोः = शंकरस्य, केशग्रहणम् = जटाग्रहणम्, अकरोत् = चकार ।

शब्दार्थः—तस्मात् = कुरुक्षेत्र से (आगे), अनुकनखलम् = कनखलतीर्थ के समीप, शैलराजाऽवतीर्णाम् = हिमालय से उतरी, सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् = सगर राजा के पुत्रों के लिए स्वर्ग की सीढ़ी के समान, जहोः = जहु-नामक राजा की, कन्याम् = लड़की, जाह्नवी गङ्गा के पास, गच्छः = जाना । या = जिस गङ्गाने, गौरीवक्त्र-भ्रुकुटि-रचनाम् = पावंतीके मुख में (ईश्यविश उत्पन्न) भ्रुकुटि रचना का, फेनैः = फेन के द्वारा, विहस्य इव = उपहास-सी करती हुई, इन्दुलग्नोमिहस्ता = चन्द्रमा को स्पर्श करते हुए लहररूपी हाथों वाली, शम्भोः = शिवजी का, केशग्रहणम् = जटा-जूट ग्रहण, अकरोत् = की है ।

भावार्थः—हे मेघ ! कुरुक्षेत्रादग्रे कनखलतीर्थ-समीपे सगरपुत्राणां कृते स्वर्गसोपानभूतां जाह्नवीं गच्छ । या जाह्नवी, (पतिशिरःस्थितत्वात्) पावंती-मुखे उत्पन्नभ्रुकुटिरचनां फेनैः उपहासं कृत्वेव चन्द्रसंस्पर्शं-शीलोमिकरा (सती) शिवजटाजूटग्रहणं कृतवती ।

हिन्दी—हे मेघ ! कुरु-क्षेत्र से आगे कनखल के समीप हिमालय से उतरी सगरपुत्रों के लिए स्वर्गं तोपानभूत जाह्नवी के पास जाना । जिसने अपने फेन के द्वारा (ईर्ष्यावश) पार्वती के मुख में उत्पन्न भ्रुकुटि का उपहास-सी करती हुई चन्द्रमा को छूनेवाले तरङ्गरूपी हाथ से शिवजी के जटा-जूट को पकड़ लिया है ।

समाप्तः—कनखलस्य समीपे अनुकनखलम् (अव्ययीभावः) । सगरस्य तनयाः—सगरतनयाः (४० तद०), सोपानानां पङ्क्तिः—सोपानपंक्तिः (४० तद०) स्वर्गस्य सोपानपङ्क्तिः—सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिः (४० तद०) । गौर्याः वक्त्रम्=गौरीवक्त्रम् (४० तद०) भ्रुकुटेः रचना भ्रूकुटिरचना, गौरीवक्त्र-भ्रुकुटिरचना (४० तद०) ताम् । इन्दी लर्णाः=इन्दुलर्णाः (४० तद०), इन्दुलर्णनाः ऊर्मय एव हस्ताः यस्याः सा इन्दुलर्णनोर्महस्ता (वह०) ताम् । केशानां ग्रहणम् केशग्रहणम् (४० तद०) ।

कोशः—गङ्गा विष्णुपदी जहूतनया नुरनिम्ननगा, इत्यमरः । वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्, इत्यमरः । डिण्डरोऽविद्यकफः फेनः; इत्यमरः ।

टिष्ठपन्नी—कनखलः—यह तीर्थं हरिद्वार के समीप है । हरिवंशपुराण में इसका वर्णन मिलता है, जैसे—

हरिद्वारे कुशावर्ते नीलके भिल्ल-पर्वते ।

स्नात्वा कनखले तीर्थे पुनजन्म न विद्यते ॥

महोपाध्याय मल्लिनाथजी कनखल को कनखल नामक पर्वत मानते हैं । उनका आधार महाभारत के बनपर्व का “एते कनखलाः राजन् ऋषीणां दयिता नगाः” यह इलोक है । **जहूतः कन्याम्—**सगरवंश में उत्पन्न भगीरथ के द्वारा अपने पूर्वजों के उद्धार के लिए जब गङ्गा पृथ्वी पर लायी गयीं, तब गंगाजी ने राजा जहूत की यज्ञशाला को हुता दिया तो क्रुद्ध होकर जहूत ने उन्हें पी लिया और पुनः अनुनय आदि करने पर उन्हें बाहर निकाल दिया अतः गंगाजी को जहूतनया कहते हैं । **सगरः—**यह सूर्यवंश में उत्पन्न हुए थे । इनके नाम के

विषय में प्रसिद्धि है कि ये जब गर्भ में ही थे उसी समय इनकी विमाता ने इनकी माता को गर (विष) दे दिया, परन्तु किसी ऋषि के आशीर्वाद के कारण ये मरे नहीं, सकुशल उत्पन्न हो गये अतः उन्हें “सगर” नाम दिया गया । गौरीवक्रभ्रुकुटिरचनाः—यहाँ पार्वती के मुख में भ्रुकुटि की कल्पना कर्ति ने किया है । पार्वती और गंगा दोनों हिमालय से उत्पन्न हैं और संयोग की बात यह है कि दोनों वहन एक शंकरजी की ही पत्नी हुईं । फिर ये दोनों वहनें परस्पर सौत हो गयीं । फिर पार्वती के मुँह में भ्रुकुटि क्यों न हो ? वह सोचती हैं मैं तो अद्वाङ्ग की ही स्वामिनी रही, गंगा तो पति देवता के शिर पर चढ़ी है । शंकरजी ने इसे सिर पर चढ़ा रखा है । फिर तो ईर्ष्या स्वाभाविक ही है । और इधर क्रुद्ध पार्वती को और अधिक क्रुद्ध करने के लिए फेन बहाने के व्याज से मानो हँसकर उनका उपहास-सी कर रही हैं ।

अलंकारः—यहाँ “विहस्य इव” इस अंश में “उत्प्रेक्षा” अलंकार है एवं “कर्महस्ता” यहाँ “रूपक” अलंकार है एवं दोनों के अंगांगिभाव होने से “संकर” अलंकार है ॥ ५० ॥

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चाद्दुलभ्वी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तकंयेस्तिर्यगम्भः ।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसिच्छाययाऽसौ
स्यादस्थानोपगत - यमुना - सङ्गमेवाभिरामा ॥ ५१ ॥

अन्वयः—सुरगज इव व्योम्नि पश्चाद्दुलभ्वी त्वम् अच्छस्फटिकविशदम् तस्याः अम्भः तिर्यक् पातुम् तकंये चेत् सपदि न्रोतसि संसर्पन्त्यां भवतः छायया असौ अस्थानोपगत-यमुना सङ्गमा इव अभिरामा स्यात् ।

व्याख्या—सुरगजः—देवहस्ती, इव=यथा, व्योम्नि=नभसि, पश्चाद्दु-
लभ्वी=पश्चिम भागार्धापिनतः, त्वम्=मेघः अच्छस्फटिकविशदम्=निमंल-
स्फटिकघवलम्, तस्याः=गङ्गायाः, अम्भः=तोयम्, तिर्यक्=तिरश्चीनं यथा
स्यात्तथा, पातुम्=पानङ्गुरुम्, तकंये:=विचारये, चेत्=तहि, सपदि=सहसा.

स्रोतसि=प्रवाहे, संसर्पन्त्या=संक्रामन्त्या, भवतः=मेघस्य, छायया=प्रतिविम्बेन, असौ=गङ्गा, अस्थानोपगत-यमुनासंगमा=प्रयागभिन्नस्थलप्राप्त-कालिन्दीसमागमा, इव=यथा, अभिरामा=मनोहरा, स्यात्=भवेत् ।

शब्दार्थः—सुरगजः=देवताओं के हाथी की, इव=तरह, व्योम्नि=आकाश में, पश्चाद्दूलम्बी=पीछे के आधे भाग से झुके हुए, त्वम्=तुम अच्छस्फटिकविशदम्=निर्मलस्फटिक के समान श्वेत, तस्याः=उस गंगा के, अम्भः=जल को, तिर्यक्=टेढ़ा होकर, पातुम्=पीने को, तक्ये=सोचेंगे, चेत्=यदि, तब, सपदि=सहसा, स्रोतसि=प्रवाह में, संसर्पन्त्या=चलते हुए, भवतः=तुम्हारे, छायया=प्रतिविम्ब से, असौ=वह गंगा, अस्थानोपगत-यमुनासङ्गमा=अस्थान प्रयाग से भिन्न दूसरे स्थान में [प्राप्त] यमुना के संगम वाली, इव=की तरह, अभिरामा=मनोहर, स्यात्=दिखाई देगी ।

भावार्थः—हे मेघ ! दिग्गज इवाकाशे पाश्चार्येण स्थितः पूर्वार्द्धेन त्वं यदा गङ्गायाः स्वच्छस्फटिक-घवलं जलं पातुं चिन्तयसे तदा सहसा प्रवाहे त्वच्छाया संयुक्ततया गंगा प्रयागेतरस्थाने प्राप्त-यमुना-समागममेव मनोहरा भवेत् ।

हिन्दी—हे मेघ ! सुरगजों की तरह आकाश में पीछे के आधेभाग से रहकर आगे के आधे भाग से टेढ़ा होकर जब तुम गंगाजी के निर्मलस्फटिक मणि की तरह घवल जल को पीने को सोचोगे तभी सहसा प्रवाह में तुम्हारी छाया पड़ने के कारण गंगा प्रयाग से भिन्न स्थान में यमुना संगम वाली-सी मनोहर दिखाई देगी ।

समाप्तः—अपरम् अर्धम्=पश्चाद्दूलम् (कर्मधारयः) पश्चाद्दून लम्बते तच्छीलः इति पश्चाद्दूलम्बी (उपपदसमाप्तः) । अच्छासौ स्फटिकः अच्छस्फटिकः (कर्म०) तदिव विशदम्=अच्छस्फटिकविशदम् (उपमात कर्म०) । न स्थानम्=अस्थानम् (नव्) अस्थाने उपगतः=अस्थानोपगतः (स० तत्०) यमुनायाः संगमः=यमुनासंगमः (ष० तद्०) अस्थानोपगतः यमुना संगमो यस्याः सा=अस्थानोपगतयमुनासंगमा (वह०) ।

कोशः—प्रसन्ने भल्लुकेऽच्छः, इत्यमरः । विशदश्वेतपाण्डुराः, इत्यमरः । सतिर्यं^४ यस्तिरोऽच्चति; इत्यमरः । सद्यः सपदि तत्क्षणे, इत्यमरः । छाया सूर्यं-प्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः, इत्यमरः ।

टिष्पणी—पश्चाद्दूम्—परं च तत् अर्धम् “यहाँ समास होने पर “अपर-स्यादेवं पश्च भावो वक्तव्यः” इस वार्तिक से “अपर” के स्थान पर “पश्च” आदेश हुआ है ।

तिर्यक्—तिरस उपपदक “अच्च” धातु से किवन् प्रत्यय करके उसका सर्वापिहारी लोप हो जाता है । उपपद समास किया जाता है और “तिरस्तिर्यं-लोपे” इस सूत्र से “तिरस्” के स्थान पर “तिरि” आदेश करके न लोप कुत्वादि करके “तिर्यक्” ऐसा रूप निष्पन्न होता है ।

पातुभू—पानार्थक “पा” धातु से तुमुन् प्रत्यय करके उक्त रूप बनाया जाता है ।

संसर्पन्त्या:—‘सम्’ उपसर्गपूर्वक “सृष्ट” धातु से लट् के स्थान पर शृृ प्रत्यय करके स्त्रीत्व विवक्षा में डीप् करके “संसर्पन्ती” ऐसा रूप बनता है । उक्त रूप उसी शब्द के तृतीया के एकवचन का है ।

अभिरामा:—“अभि” उपसर्गपूर्वक क्रीडार्थक “रम्” धातु से अधिकरण में घब् प्रत्यय करके स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् करके “अभिरामा” ऐसा रूप निष्पन्न होता है ।

सुरगजः—ये आठों दिशाओं के आठ दिग्गज होते हैं । अमर कोषकार ने कहा है—

‘ऐरावतः पुष्टरीको वामनः कुमुदोऽच्छनः ।

पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥

इन्हें ही सुरगज भी कहा जाता है ।

अलंकार—यहाँ “अच्छ-स्फटिक-विशदम्” में लुप्तोपमा एवं “अस्थानो-पगत-यमुना-संगमा इव” यहाँ उत्प्रेक्षा है और दोनों के अंगांगिभाव के कारण “संकर” अलंकार है ॥ ५१ ॥

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैमृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
दक्षयस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषणः
शोभां शुभ्र—त्रिनयन—वृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—आसीनानाम् मृगाणाम् नाभिगन्धैः सुरभितशिलम् तस्याः एव प्रभवम् तुषारैः गौरम् अचलम् प्राप्य अध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषणः शुभ्र—त्रिनयन—वृषोत्खात—पङ्कोपमेयाम् शोभाम् वक्ष्यसि ।

ब्याख्या—आसीनानाम्=स्थितानाम्, मृगाणाम्=कुरङ्गाणाम्, गन्धमृगाणा-मिति भावः । नाभिगन्धैः=कस्तूरिकागन्धैः, सुरभितशिलम्=सुगन्धितप्रस्तरम्, तस्याः=गङ्गायाः, एव प्रभवम्=उत्पत्तिस्थलम्, तुषारैः=हिमैः, गौरम्=ध्वलम्, अचलम्=पर्वतम्, प्राप्य =आसाद्य, हिमालयं गतवेत्यर्थः, अध्वश्रम-विनयने=मार्गपरिश्रमापनोदने, तस्य=हिमालयस्य, शृङ्गे=सानी, निषणः=उपविष्टः (सन्, त्वम्) शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्=श्वेतशिववृषभ-विदारितकर्दमतुल्याम्, शोभाम्=श्रियम्, वक्ष्यसि=धारयिष्यसि ।

शब्दार्थः—आसीनानाम्=बैठे हुए, मृगाणाम्=हिरण्यों के (गन्धमृगों के), नाभिगन्धैः=कस्तूरी की सुगन्धि से, सुरभितशिलम्=सुगन्धित पत्थरवाले, तस्याः एव=उस गङ्गा के ही, प्रभवम्=उत्पत्ति स्थान, तुषारैः=बफों से, गौरम्=उजले, अचलम्=पर्वत को अर्थात् हिमालय को, प्राप्य=प्राप्त करके, अध्वश्रम-विनयने=मार्ग के परिश्रम को दूर करने से, तस्य=उस हिमालय की, शृङ्गे=चोटी पर, निषणः=बैठे हुए (तुम), शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्=शिवजी के उजले नन्दी के द्वारा विदीर्ण की गयी कीचड़ की तरह, शोभाम्=शोभा को, वक्ष्यसि=धारण करोगे ।

भावार्थः—हे मेघ ! तदनन्तरमुपविष्टानां गन्धमृगाणां कस्तूरिकागन्धैः सुरभितप्रस्तरे गङ्गापितरि हिमशुक्ले पर्वते हिमालये मार्गपरिश्रमापनोदनायो-पविष्टस्त्वं शिवस्य श्वेतनन्दिनोत्खातकर्दमशोभां प्राप्स्यसि ।

हिन्दी—हे मेघ ! उसके बाद बैठे हुए मृगों के कस्तूरी के सुगन्ध से सुगन्धित पत्थर वाले; गंगा की उत्पत्ति के स्थान; बफों से उजले पर्वत हिमालय की चोटी पर मार्ग परिश्रम को दूर करने के लिए जब तुम बैठोगे तब शिवजी के उजले नन्दी के द्वारा विदारित कीचड़ के समान शोभा को धारण करोगे ।

समाप्तः—सुरभिताः शिला यस्य स सुरभितशिलः (बहू०) तम् । नाभीनां गन्धाः=नाभिगन्धाः (ष० तत००) तैः । अध्वनः श्रमः अध्वश्रमः (ष० तत००) तस्य विनयनम्=अध्वश्रमविनयनम्, (ष० तत००) तस्मिन् अध्वश्रमविनयने । विनयनस्य वृषः=त्रिनयनवृषः (ष० तत००) शुभ्रश्चासौ त्रिनयनवृषः=शुभ्र-त्रिनयनवृषः (कर्म०) शुभ्रत्रिनयनवृषेण उत्खातः शुभ्रत्रिनयन-वृषोत्खातः (तृ० तत००) स चासो पङ्कः (कर्म धा०) शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपंकेनोपमेयाम्=शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् (तृ० तत००) । त्रीणि नयनानि यस्य स विनयनः (ब० त्री०) ।

कोशः—मृगनाभिमृगमदः कस्तूरी च, इत्यमरः । नाभिः प्रधाने कस्तूर्यर्थं मदे च वचिदीरितः, इति विश्वः । अवदातः सितो गौरः, इत्यमरः । सुकृतं वृषभे वृषः, इत्यमरः । शुभ्रमुद्दीपशुक्लयोः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—आसीनानाम्—“आसत इति” इस विग्रह में उपवेशन अर्थात् बैठने के अर्थ में “आस” धातु से लट्टलकार के स्थान पर “लटः शतृशान-चावप्रथमासमानाधिकरणे” इस सूत्र से “शानच्” प्रत्यय आदेश करके, शानच् के आकार को “ईदासः” इस सूत्र से ईकार आदेश करके “आसीन” ऐसा रूप बनता है । उक्त रूप उसी के बाही विभक्ति का है ।

प्रभवः—“प्र” उपसर्गपूर्वक “भू” धातु से “ऋदोरप्” इस सूत्र से “अप्” प्रत्यय करके गुणादि करके “प्रभव” ऐसा रूप निष्पन्न होता है ।

अचलः—चलतीति चलः, न चलः अचलः, यहाँ संचलनार्थक “चल्” धातु से “नन्दिग्रहिपचादिभ्यो” इस सूत्र से पचादित्वात् अच् प्रत्यय होता है ।

विनयनम्—वि उपसर्गपूर्वक नी धातु से करण में अथवा कर्ता में ल्युट् प्रत्यय होता है ।

विनीयतेऽनेति विनयनम्=इस प्रकार करण में “वि” उपसर्गपूर्वक “नी” धातु से “करणाधिकरणयोश्च” इस सूत्र से “ल्युट्” प्रत्यय होता है ।

कर्ता में विनयतीति विनयनम् इस विग्रह में उसी धातु से “कृत्यल्युटो बहुलम्” इस सूत्र से बहुल ग्रहणात् ल्युट् प्रत्यय किया जाता है और “युवोर-नाकी” इस सूत्र से “यु” के स्थान में अनादेश होता है तब “विनयनम्” ऐसा रूप निष्पन्न होता है ।

विषषणः—“वि” उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक “सद्” (लू) धातु के कर्ता में कृत प्रत्यय किया जाता है ।

त्रिनयनः—यहाँ समास के पञ्चात् “पूर्वपदात्संज्ञायामगः” इस सूत्र से णत्व प्राप्त या परन्तु उक्त शब्द के क्षुभ्नादि गणपठित होने के कारण “क्षुभ्ना-दिषु च” इस सूत्र से णत्व का निषेध हो जाता है ।

उत्खातः—“उद्” उपसर्गपूर्वक “खन्” धातु से कृत प्रत्यय होता है एवं धातु के न् को आत्व हो जाता है ।

उपमेयाम्—उपमातुं योग्या इस विग्रह में “उप” उपसर्गपूर्वक “मा” धातु से “अचो यत्” इस सूत्र से यत् प्रत्यय करके “ई द्यति” इस से धातु के अकार को ईकारादेश करके गुण करके टाप् करके “उपमेया” निष्पन्न होता है । द्वितीयां-विभक्ति का उक्त रूप है ।

अलङ्कारः—यहाँ हिमालय की तुलना नन्दी से एवं मेघ की तुलना कीचड़ से की गयी है अतः यहाँ “उपमा” अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

तं चेद्वायो सरति सरलस्कन्धसङ्घट्जन्मा
बाधेतोत्काक्षपित-चमरी-बाल-भारो दवाग्निः ।
वहस्येनं शमयितुमलं वारि-धारा-सहस्रे-
रापन्नातिंप्रशमनकलाः सम्पदो हृत्तमानाम् ॥५३॥

अन्वयः—वायो सरति सरलस्कन्धसंघटजन्मा उल्काक्षपित-चमरीबालभारः दवाग्निः तम् बाधेत चेत् एनम् वारिधारासहस्रैः अलम् शमयितुम् अहंसि हि उत्तमानाम् सस्पदः आपन्नार्तिप्रशमनफलाः ।

व्याख्या—वायो=पवने, सरति=वाति सति, सरल स्कन्ध-संघटजन्मा=देवदारुप्रकाण्डसंघर्षणोदभवः, उल्काक्षपितचमरीबालभारः=स्फुलिलङ्गप्रदग्ध-चमरीकेश-समूहः, दवाग्निः=अरण्यवत्तिः, तम्=हिमालयम्, बाधेत=पीडयेत् चेत् (तर्हि) एनम्=वह्निम्, वारिधारासहस्रैः=जलसंपातैः, अलम्=पर्याप्तं यथास्यात्तथा शमयितुम्=निर्वापितुम्, अहंसि=योग्योऽसि, हि=यतः, उत्तमानाम्=महताम्, सस्पदः=समृद्धयः, आपन्नार्तिप्रशमनफलाः=पीडितपीडा-निवारण हेतुकाः (भवन्ति) ।

शब्दार्थः—वायो=हवा के, सरति=चलने पर- सरलस्कन्ध-संघट-जन्मा=देवदारु की शाखाओं के संघर्षण से उत्पन्न; उल्काक्षपितचमरीबालभारः=चिनगारियों से चमरीगायों की पूँछ की बालों को दग्ध कर देने वाली दवाग्निः=वन की आग, तम्=उस हिमालय को, चेत्=यदि, बाधेत=पीडित करे, तर्हि=तब, एनम्=इस दवाग्निं को, वारिधारासहस्रैः=जल की असंख्य धाराओं से (मूलधार बृष्टि से) अलम्=पर्याप्त रूप से, शमयितुम्=बुझाने के लिए, अहंसि=तुम योग्य हो अर्थात् तुम बुझा सकते हो । हि=क्योंकि, उत्तमानाम्=बड़ों की, सस्पदः=समृद्धि, आपन्नार्तिप्रशमनफलाः=दुखियों की पीड़ाओं को दूर करने के लिए (भवन्ति=होती हैं) ।

भावार्थः—हे मेघ ! वायो सरति यदि देवदारु-प्रशाखासंघर्षणोत्पन्नः उल्कया चमरीपुच्छ-केशदग्धको दवाग्निः हिमालयं पीडयेत् तर्हि त्वं जलधार-सहस्रैः दवाग्निमुग्धामयेः । यतो हि महतां समृद्धयः पीडित-पीडानिवारण-हेतुकाः भवन्ति ।

हिन्दी—हे मेघ ! हवा के चलने पर यदि देवदारु की शाखाओं की रगड़ से उत्पन्न चिनगारियों से चमरीगाय की पूँछ को झुलसा देनेवाली दवाग्नि हिमालय को पीड़ित करता हो तो तुम अपने जल की सहस्रधाराओं से दवाग्निं को बुझा

सकते हो; क्योंकि बड़ों की समृद्धि पीड़ितों की पीड़ा को दूर करने के लिए होती है।

समाप्त—सरलानां स्कन्धाः—सरलस्कन्धाः (ष० तद०) तेषां संघटनं सरलस्कन्ध—संघटनम् (ष० तद०) सरलस्कन्ध—संघटनेन जन्म यस्य सरलस्कन्ध—संघट—जन्मा (बहु०) उल्काभिः क्षपिताः=उल्काक्षपिताः (तृ० तद०) चमरीणां बालभाराः=चमरीबालभाराः (ष० तद०) उल्काक्षपिताः चमरीबालभाराः येन स उल्काक्षपिताचमरीबालभाराः (बहु०)। वारीणां धाराः वारिधाराः (ष० तद०) वारिधाराणां सहस्रैः वारिधारासहस्रैः (ष० तद०)। आपन्नानाम् आर्तिः आपन्नार्तिः (ष० तद०) तस्याः प्रशमनम्=आपन्नार्तिप्रशमनम् (ष० तद०) तदेव फलं यासां ता आपन्नार्तिप्रशमनफलाः (बहु०)।

कोशः—अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधेस्तरोः, इत्यमरः। उल्का स्यान्निर्गतज्जवाला, इत्यमरः। वने च वनवह्नौ च ददो दाव इतीव्यते, इति यादवः। ददो दावो वनवह्निः, इत्यधिभानचिन्तामणिः।

टिष्पणी—वायुः—वातीति वायुः “वा” धातु से औणादिक “कृवापाजि�०” इत्यादि सूत्र से यु प्रत्यय करके “वायु” शब्द निष्पन्न किया काता है। **चमरीः—** “चमरी” शब्द “चमरी” गाय का वाचक है। यह एक पशु (गाय) विशेष है जो हिमालय की तराई में अधिक पायी जाती है। इसकी पूँछ में बालों का गुच्छा रहता है जिसका चैवर बनाया जाता है। यह अपने बालों से बहुत स्नेह रखती है। **दवः—** दुनुतीति दवः—इस विश्रह में उपताप (संताप) अर्थ में विद्यमान (दु) दु धातु से पचायच् करके गुणादि करके “दव” ऐसा रूप बनता है। “दाव” शब्द तो उसी धातु से “दुन्योरनुपसर्गे” इस सूत्र से होने वाला ए प्रत्यय करने पर होता है। **बाधेत—“बाध”** धातु के लिङ् लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन का यह रूप है। **शमयितुम्—उपशमनार्थक “शम्”** धातु से णिच् प्रत्यय करके पश्चात् “तुमत्” प्रत्यय करके “शमयितुम्” ऐसा रूप निष्पन्न होता है। **सम्पदः—“सम्”** उपसर्गपूर्वक “पद्” धातु से किंच प्रत्यय भाव में करके उसका सर्वापहारी लोप करके “सम्पद्” शब्द बनता है, उक्त रूप प्रथमा के बहु-

वचन का है। आपन्नः—“आङ्” उपसर्गपूर्वक “पद” धातु से कर्ता में “क्त्” प्रत्यय करके “आपन्न” रूप निष्पन्न होता है। आर्ति—“आङ्” उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक शब्द धातु से भाव में “क्तिन्” प्रत्यय करके “अर्ति” ऐसा शब्द बनता है।

अलंकारः—यहाँ तृयीया चरण के वाक्यार्थ का समर्थन चतुर्थ चरण के वाक्यार्थ के द्वारा होता है, अतः “अर्थान्तरन्यास” नामक अलंकार है ॥ ५३ ॥

ये संरभ्मोत्पत्तनरभसाः स्वाङ्ग-भङ्गाय तस्मिन्
मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम् ।
तान्कुर्वीयास्तुमुल-करका-वृष्टि-पाताव कीणनि
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भ-यत्नाः ॥५४॥

अन्वयः—तस्मिन् संरभ्मोत्पत्तन-रभसाः ये शरभाः मुक्ताध्वानम् भवन्तम् सपदि स्वाङ्ग-भङ्गाय लङ्घयेयुः तान् तुमुलकरकावृष्टि-पाताऽवकीणनि कुर्वीयाः निष्फलारम्भ-यत्नाः के वा परिभवपदम् न स्युः ।

व्याख्या—तस्मिन्=हिमालये, संरभ्मोत्पत्तन-रभसाः=क्रोधोत्पलवनवेग-शालिनः, ये, शरभाः=अष्टापद-मृगविशेषाः, मुक्ताध्वानम्=परित्यक्तमार्गम्, भवन्तम्=मेघम्, सपदि=सहसा, स्वाङ्गभङ्गाय=निजगात्रोटनाय लङ्घयेयुः=अर्तिक्रमणं कुरुते, तान्=शरभान्, तुमुल-करका-वृष्टि-पाताऽवकीणनि=भीषणोपलववैषणविकीणनि, कुर्वीयाः=कुरुष्व, निष्फलारम्भयत्नाः=विफल-व्यापार-संलग्नाः, के वा=जन्तवः, परिभवपदम्=तिरस्कार-पात्राः, न स्युः=न भवेयुः, सर्वे भवत्येवेति छवनिः ।

शब्दार्थः—तस्मिन्=उस हिमालय पर, संरभ्मोत्पत्तन-रभसः=कुद्ध होकर उछलने से वेगवाले, ये=जो, शरभाः=आठ पैर वाले मृग (पशु) विशेष, मुक्ताध्वानम्=मार्ग को छोड़े हुए, भवन्तम्=तुमको, (यदि) सपदि=सहसा स्वांगभङ्गाय=अपने ही अंगों के विनाश के लिए, लङ्घयेयुः=अर्तिक्रमण करें (तो) तान्=उन मृशों को, तुमुलकरका-वृष्टिपातावविकीणनि=

ओलों की धोर वृष्टि से तितर-वितर, कुर्बायाः=कर देना । निष्फलारम्भयत्नाः=व्यर्थ के कामों को करने का प्रयास करने वाले, के वा=कौन जन्तु, परिभव-पदम्=अपमान के पात्र, न स्युः=नहीं होते ।

भावार्थः—हे मेघ ! क्रोधेणोत्पतनत्वात् वेगशीलाः शरभाः त्यक्तमार्गं भवन्तं यदि निजगात्रविक्षताय अतिक्रमणं कुर्यास्तर्हि त्वमपि करकानां तु मुल-वृष्टिभिस्तान् विप्रकीर्णान् कुरुष्व । व्यर्थव्यापारसंलग्नाः के प्राणिनः तिरस्कार-भाजनाः न भवन्ति । अर्थात् सर्वेषां भवन्त्यवेतिभावः ।

हिन्दी—हे मेघ ! क्रोध से कूदने के कारण वेगवाले शरभ (जिनकी आठ टाँगें होती हैं) छोड़ दिया है मार्ग को जिसने ऐसे तुम्हारा यदि अपने ही अङ्गों को विनष्ट करने के लिए अतिक्रमण करें तो तुम ओलों की धोर वर्षा से उन्हें तितर-वितर कर देना; क्योंकि व्यर्थ के कामों को करने का प्रयास करने वाले कौन अपमान के पात्र नहीं होते ? अर्थात् सब होते ही हैं ।

समाप्तः—संरम्भेण उत्पतनम्=संरम्भोत्पतनम् (७० तत्०) संरम्भोत्पतने रभसः येषान्ते संरम्भोत्पतनरभसाः (बहु०) । मुक्तः अङ्गा येन स मुक्ताष्वा (बहु०) तम् । अङ्गानां भङ्गः अङ्गभङ्गः (७० तत्०) स्वस्य अङ्गभङ्गः स्वाङ्गभङ्गः (७० तत्०) तस्मै । तु मुलाश्च ताः करकाः=तु मुल-करकाः (कर्मधारय) तासां वृष्टिः तु मुल-करका-वृष्टिः (७० तत्०) तस्याः पातः (७० तत्०) तेन अवकीर्णः तु मुलकरकावृष्टिपाताऽवकीर्णः (७० तत्०) तान् । आरम्भेषु यत्नः=आरम्भयत्नः (स० तत्०) निष्फल आरम्भयत्नः येषान्ते निष्फलारम्भयत्नाः (बहु०) । परिभवस्य पदम् परिभवपदम् (७० तत्०) ।

कोशः—रभसो हर्षवेगयोः, इति विश्वः । द्राक्षटित्याजसाह्याय द्राक्षमंकु सपदिद्वृते, इत्यमरः, सद्यः सपदि तत्क्षणे इति च । तु मुलं रण-संकुले, इत्यमरः । स्युपुंनर्वं वेत्यवधारण-वाचकाः, इत्यमरः । वर्षोपलस्तु करको-करकाऽपि च दृश्यते, इत्यमरः, इति रुद्रः ।

टिप्पणी—संरम्भः=संरम्भं संरम्भः—यहाँ भाव में सम् उपसर्गपूर्वक “रम्” धातु से धू प्रत्यय किया गया है । शरभाः—“शरभः शलभे चाऽष्टापदे

प्रोक्तो मृगान्तरे” इति विश्वः । आठ पैर वाले मृग को शरभ कहते हैं आजकल यह नहीं मिलता है । यह मृग सिंह को भी परास्त कर मार डालता है । पुराणों में कथा आती है कि—प्रह्लाद को हिरण्यकशिपु से रक्षा करने के लिए जब भगवान विष्णु ने “नृसिंह”—रूप धारण कर उस दैत्यराज को मार डाला तब भी उनका क्रोध शान्त नहीं हो सका, तब सभी देवताओं की प्रार्थना करने पर शिवजी ने “शरभ” का रूप धारण कर उन्हें परास्त करके उनका क्रोध शान्त किया । स्वाङ्गभङ्गाय—यहाँ तादर्थ्ये में चतुर्थी है । लङ्घन्येयुः—णिजन्त “लंघि” धातु के लिङ्ग लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन का यह रूप है । अवकीर्णः—“अव” उपसर्गपूर्वक (डु) “कृ” धातु से क्त प्रत्यय करके णत्व करके “अवकीर्ण” ऐसा रूप बनता है । जस् विभक्ति का यह रूप है । निष्फलः—फलाश्चिकान्तः निष्फलः, यहाँ “निरादयः क्रान्ताद्यर्थं पञ्चम्या” इस वार्तिक से जो “मयूरव्यंसकादयश्च” सूत्र में पठित है, समाप्त हुआ है । परिभवः—“परि” उपसर्गपूर्वक “भू” धातु से “अप्” प्रत्यय करके “परिभव” शब्द बनता है । इसका अर्थ तिरस्कार होता है “अनादरः परिभवः परीभाव-स्तिरस्किया” अमर कोश की यह उक्ति ही प्रमाण है ।

अलंकारः—यहाँ तृतीय चरण के वाक्यार्थ का समर्थन चतुर्थ चरण के वाक्यार्थ से होता है अतः अर्यान्तरन्यास नामक अलङ्कार है ॥ ५४ ॥

तत्र व्यवतं दृष्टिं चरणन्यासमधेन्दुमौले:

शश्वत् सिद्धैरुपचित्—बर्लिं भक्तिनम्रः परीयाः ।

यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतप पाः

कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्धधानाः ॥५५॥

अन्वयः—तत्र दृष्टिं व्यक्तम् शश्वत् सिद्धैः उपचितबलिम् अर्धेन्दुमौले: चरणन्यासम् भक्तिनम्रः परीयाः यस्मिन् दृष्टे उद्धूतपापाः श्रद्धधानाः करण-विगमात् ऊर्ध्वम् स्थिरगणपदप्राप्तये कल्पिष्यन्ते ।

व्याख्या—तत्र=हिमालये, दृष्टिऽप्रस्तरे, व्यक्तम्=स्पष्टम्, शश्वत्=स्थायी, सिद्धैः=गन्धवैः, उपचितबलिम्=विरचित-पूजाविषिम्, अर्धेन्दुमौले:==

इन्दुशेखरस्य, शिवस्येत्यर्थः, चरणन्यासम्=पादचिह्नम्, भक्तिनग्नः=भक्त्या-
वनतः, (सन्) परीयाः=प्रदक्षिणां कुर्याः, यस्मिन्=पदन्यासे, दृष्टे=अव-
लोकिते, उद्धूतपापाः=मुक्तकिलिषाः, (सन्तः) श्रद्धानाः=भक्ताः, करण-
विगमात्=शरीरत्यागात्, ऊर्ध्वम्, अनन्तरम्, स्थिररणगपदप्राप्तये=स्थायिप्रमथ-
स्थानलब्धये, संकल्पन्ते=समर्थाः भवन्ति ।

शब्दार्थः—तत्र=उस हिमालय पर, दृष्टिः=(किसी) पत्थर पर,
व्यक्तम्=स्पष्ट, शश्वत्=स्थायी, सिद्धैः=सिद्धों के द्वारा, उपचितबलिम्=जिसकी
पूजा की गयी है ऐसे, अर्धेन्दुमौले: =शिवजी के, चरणन्यासम्=चरणचिह्न
को, भक्तिनग्नः=भक्ति से झुक कर, परीयाः=प्रदक्षिणा करना, यस्मिन्=
जिस चरणचिह्न के, दृष्टे=दीखने पर, उद्धूतपापाः=निष्पाप होकर,
श्रद्धानाः=भक्तगण, करणविगमात्=शरीर त्यागने के, ऊर्ध्वम्=पश्चात्,
स्थिररणगपदप्राप्तये=शिवजी के गणों के स्थायी स्थान की प्राप्ति के लिए,
सङ्कल्पन्ते=समर्थ होते हैं ।

भावार्थः—हे मेघ ! तत्र हिमालये केस्मश्चित् पाषाणे स्पष्टं स्थायि
सिद्धैः रचितपूजाविधि शिवस्य चरणचिह्नं भक्तिविनग्नः सन् प्रदक्षिणां कुर्याः ।
यस्मिन्नश्वलोकिते भक्ताः सन्तः शिव-प्रमथेषु स्थायिस्थानं प्राप्तुं
समर्थाः भवन्ति ।

हिन्दी—हे मेघ ! किसी पत्थर पर स्पष्ट, स्थायी तथा सिद्धों ने जिसकी
पूजा कर ली है ऐसे शिवजी के चरणचिह्न की प्रदक्षिणा, भक्ति से विनग्न
होकर करना । जिस चरणचिह्न के देखने पर भक्तलोग शिवजी के गणों में
स्थायी स्थान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं ।

समाप्तः—चरणयोः न्यासः चरणन्यासः (४० तत्०) तम् । उपचितः
बलियस्य तम् उपचितबलिम् (बहु०) तस्य । अर्धश्वासौ इन्दुः अर्धेन्दुः (कर्म०)-
अर्धेन्दुः मौली यस्य सः अर्धेन्दुमौलिः (बहु०) तस्य । उद्धूतानि पापानि
येषान्ते उद्धूतपापाः (कर्म०) । गणानां पदं गणपदम् (४० तत्०) स्थिरच्छ

तद गणपदम्=स्थिरगणपदम् (कर्म०) तस्य प्राप्तिः स्थिरगणपदप्राप्तिः (ष० तद०) तस्मै ।

कोशः—सिद्धिनिष्ठत्योगयोः, इति विश्वः । बलिः पूजोपहारयोः, इति यादवः । अघः खण्डे समेतश्चके, इति विश्वः । करणं साधकतमं क्षेत्रग्रात्रेन्द्रिये-
ष्वपि, इत्यमरः । गणः प्रमथसंख्यीद्या:, इति दैजयन्ती । पापं किल्बर्षं कल्पयम्
इत्यमरः ।

टिष्पणी—व्यक्तम्—“वि” उपसर्गंपूर्वक “अञ्जू” धातु से कर्ता में
“क्त” प्रत्यय करके “व्यक्त” ऐसा रूप बनता है । **शश्वत्**—यह अव्यय है ।
परीया:—“परि” उपसर्गंपूर्वक गत्यर्थक “इण्” धातु के लिङ् लकार के
मध्यमपुरुष के एकवचन का यह रूप है । **न्यासः**—“नि” उपसर्गंपूर्वक “अस्”
धातु के भाव में “घब्” प्रत्यय करके “न्यास” ऐसा रूप बनता है । **करण-**
विगमादूधर्ष्म्—यहाँ “ऊधर्ष्म्” शब्द जो दिशावाची है, के आगे रहने के कारण
करणविगम शब्द से “अन्यारादितरतेदिक्षान्दाचूतरपदाजाहियुक्ते” इस सूत्र
से पचमी हुई है ॥ ५५ ॥

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः

संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किञ्चरीभिः ।

निहादिस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्

संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अनिलैः पूर्यमाणाः कीचकाः मधुरम् शब्दायन्ते संसक्ताभिः
किञ्चरीभिः त्रिपुरविजयः गीयते कन्दरेषु ते निहादिः मुरजे ध्वनिः इव स्यात्
तत्र पशुपतेः समयः संगीतार्थः भावी ननु ।

व्याख्या—(हे मेर !) अनिलैः=पवनैः, पूर्यमाणाः=पूरिताः, कीचकाः=
वेणुविशेषा, मधुरम्=श्राव्यम्, शब्दायन्ते=स्वनन्ति, संसक्ताभिः=संयुक्ताभिः
किञ्चरीभिः=किञ्चरकामनीभिः, त्रिपुरविजयः=त्रिपुरासुरवधः, गीयते=स्त्रयते,
कन्दरेषु=गुहासु, ते=मेरस्य, निहादिः=निष्ठाषिः, मुरजे=मृदंगे,

ध्वनिः—शब्दः, इव—यथा, स्यात्—भवेत्, तत्र—चरणन्याससमीपम्, पशुपते�—शिवस्य, संगीतार्थः—संगीतवस्तु, समग्रः—सम्पूर्णः, भावी—भविष्यति, ननु—खलु ।

शब्दार्थः—(हे मेघ !) अनिलैः—पवन के द्वारा, पूर्यमाणाः—जिनके छिद्र भर दिये गये हैं वे, कीचकाः—वेणु विशेष, मधुरम्—कर्णप्रिय, शब्दायन्ते—ध्वनि करते हैं, संस्कारभिः—(आपस में) मिली हुई, किञ्चरीभिः—किञ्चर वष्टुओं के द्वारा, त्रिपुरविजयः—त्रिपुरासुर का वध, गीयते—गाया जाता है, कन्दरेषु—गुफाओं में, ते—तुम्हारा, निर्हादिः—निर्धोष, मुरजे—मृदंगपर, ध्वनिः—शब्द की, इव—तरह, स्यात्—(यदि) होगा (तो) तत्र—तब, पशुपते�—शिवजी का, संगीतार्थः—संगीत वस्तु, समग्रः—सम्पूर्ण, भावी—हो जाएगा, ननु—अवश्य ।

भावार्थः—हे मेघ ! बायुपूरिताः कीचकाः कर्णप्रियं शब्दं कुर्वन्ति । संयुक्ताः किञ्चरवनिताः शिवस्य त्रिपुरविजयं गायन्ति । गुहासु तब निर्धोषः मृदंगे ध्वनिरिव यदि भवेत् तर्हि शंकरस्य संगीतार्थः सम्पूर्णो भविष्यति ।

हिन्दौ—(हे मेघ !) बायु से भरे कीचक (वेणु विशेष) कर्णप्रिय शब्द कर रहे हैं, आपस में मिली किञ्चरियाँ शिवजी के मयनिमित त्रिपुरविजय का गान करती हैं, कन्दराओं में यदि तुम्हारा निर्धोष मृदंग की ध्वनि के समान हो जाए तो शिवजी का संगीत सम्पूर्ण हो जाएगा ।

समाप्तः—त्रीणि पुराणि यस्य स त्रिपुरः (वह०) वा त्रयाणां पुराणां समाहारः त्रिपुरम् (समाहारद्विगुः) । त्रिपुरस्य विजयः—त्रिपुर-विजयः (ष० तत०) पशुनां पतिः पशुपतिः (ष० तत०) तस्य, संगीतस्य अर्थः संगीतार्थः (ष० तत०) ।

कोशः—कीचको दैत्यभेदे स्याच्छुष्कवंशे द्रुमान्तरे, इति विश्वः । दरी तु कन्दरो वास्त्री, इत्यमरः । तौर्यंत्रिकं तु संगीतं न्यायारम्भे प्रसिद्धके । तूर्यणां त्रितये च, इति शब्दार्णवः । तौर्यंत्रिकं तृत्यगीतं वाद्यनाट्यमिदं त्रिषु, इत्यमरः । अयोऽभिष्ठेये रैवस्तु प्रयोजननिरूपितिषु, इत्यमरः ।

टिप्पणी—पूर्यमाणाः—पिजन्त “पूरि” धातु से लट्ठकार के स्थान पर “शानच्” आदेशकर “पूर्यमाण” ऐसा शब्द बनता है। **मधुरम्—**यह क्रिया विशेषण है। शब्दायन्ते—“शब्द” शब्दसे “शब्दं कुर्वन्ति” इस अर्थ में “शब्द-वैरकलहाप्रकण्वमेवेभ्यः” इस सूत्र से “वन्यङ्” प्रत्यय करके लट्ट लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन (ज्ञि) का “शब्दायन्ते” ऐसा रूप होता है। **किन्नरः—**यह एक देवयोनि विशेष है। ये दो प्रकार के होते हैं। एक जाति के किन्नर वे होते हैं जिनके मुँह घोड़े का और अङ्ग मनुष्य की तरह और दूसरे वे होते हैं जिनका मुँह तो मनुष्य की तरह और शेष अङ्ग घोड़े के होते हैं। इनका कण्ठ बड़ा ही सुरीला होता है। ये लोग बहुत अच्छा गाते हैं। **त्रिपुरविजयः—**मय दानव ने लोहे, सोने और चांदी के तीन पुर (लोक) निर्माण कर और उसमें सुरक्षित रूप से रहकर देवताओं को सताया करता था तब देवताओं की प्रार्थना करने पर शिवजी ने उसको परास्त किया था। गीयते—“गौ” धातु से कर्म में यक् प्रत्यय करके धातु को आत्म करके उसे पुनः ईकारादेश करके लट्ट लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन में गीयते ऐसा रूप बनता है। **सङ्गीतम्—**सम्यग् गीतम्—**सङ्गीतम्—**यहाँ “कुरुति प्रादयः” से समाप्त हुआ है। ननु—यह निश्चयार्थक अव्यय है।

अलंकारः—यहाँ शिवजी के चरण-चिह्न के सभीप कीचक शब्द, किन्न-रियों का विजय गीत, और मेघध्वनि के क्रम से होने से पर्यायालङ्कार हुआ एवं “मुरज्ज इव” यहाँ श्रीती उपमा है। एवच दोनों के अंगागिभावतया रहने के कारण संकर अलंकार है ॥ ५६ ॥

प्रालेयाद्रेरूप-तटमति-कम्य तांस्तान्विशेषान्
हंसद्वारं भूगुपति - यशोवत्मं यत्कौञ्च- रन्ध्रम् ।
तेनोदोचीं दिशमनु - सरेस्तर्यगायाम-शोभी
श्यामः पादो वलिनियमनाम्युद्यतस्येव विष्णोः ॥५७॥

अन्वयः—प्रालेयाद्रे: उपतटम् तान् तान् विशेषान् अतिक्रम्य हंसद्वारम् भृगुपतियशोवत्मं यत् क्रौचरन्ध्रम् तेन वलि-नियमनाऽभ्युद्यतस्य विष्णोः श्यामः पाद इव तीर्थगायामशोभी उदीचीम् दिशम् अनुसरेः ।

व्याख्या:—(हे मेघ !) प्रालेयाद्रे: =हिमालयस्य, उपतटम् =तटस्य समीपे, तान् तान्, विशेषान् =प्रसिद्धान्, पदार्थान्, अतिक्रम्य =उल्लङ्घ्य, हंसद्वारम् =चक्राङ्गद्वारम्, भृगुपतियशोवत्मं =परशुराम—कीर्तिमार्गम्, यत् क्रौचरन्ध्रम् =यत्क्रौचाख्य—विलम्, तेन=विलेन, वलिनियमनाऽभ्युद्यतस्य=वलिनिबन्धोत्सुकस्य, विष्णोः=वामनस्य, श्यामः=कृष्णः, पादः इव =चरण इव, तीर्थगायाम-शोभी=तिरच्छीनदैर्घ्यशोभी (सन् त्वम्) उदीचीम्=उत्तराम्, दिशम् =आशाम्, अनुसरेः=अनुगच्छ ।

शब्दार्थः—(हे मेघ !) प्रालेयाद्रे: =हिमालय के, उपतटम् =तटों के समीप, तान्-तान् विशेषान्=उन-उन विशेष प्रसिद्ध पदार्थों को, अतिक्रम्य=लांघ-कर, हंसद्वारम्=हंसों का मार्ग, भृगुपतियशोवत्मं =परशुराम के यश का मार्ग, यत्=जो, क्रौचरन्ध्रम् =पर्वत के क्रौचनामक विवर, तेन=उस विवर से, वलिनियमनाऽभ्युद्यतस्य=वलि को वश करने में तत्पर, विष्णोः=वामनावतार भगवान् विष्णु के, श्यामः=कृष्ण वर्ण के, पादः=चरण की, इव =तरह तीर्थगायामशोभी=टेढ़ा लम्बा होने के कारण सुन्दर लगने वाले, (तुम) उदीचीम्=उत्तर, दिशम् =दिशा को, अनुसरेः=चले जाना ।

भावार्थः—हे मेघ ! हिमालयतट-निकटे दर्शनीयान् पदार्थान् दृष्टवा हंसद्वारेण, परशुराम-यशः—सूचकेन क्रौचाख्यपर्वतविलेन त्वम् वलिनिबन्धन-तत्परस्य वामनस्य वक्रदीर्घश्याम—पाद इव शोभायमानः सन् उत्तरां दिशम् गच्छ ।

हिन्दी—(हे मेघ !) हिमालय पर्वत के किनारे उन प्रसिद्ध पदार्थों को देखकर मानसरोवर जाने वाले हंसों के मार्गभूत, परशुराम की कीर्ति के सूचक “क्रौच” नामक पर्वत के छिद्र से, वलि को वश करने में तत्पर भगवान् वामन के श्याम रंग के पैर के समान टेढ़ा और विस्तृत से शोभायमान तुम उत्तर दिशा को चले जाना ।

समाप्तः—तटानां समीपम् = उपतटम् (अव्ययीभावः) । हंसानां द्वारम्= हंसद्वारम् (ष० तत०) । भृगुणां पतिः= भृगुपतिः (ष० तत०) भृगुपते: यशः= भृगुपति-यशः (ष० तत०) भृगुपतियशसः: वर्त्म भृगुपति-यशोवर्त्म (ष० तत०) क्रौच्चव्यस्य रन्ध्रम्=क्रौच्चरन्ध्रम् (ष० तत०) । वले: नियमनम् वलिनियम-नम् (ष० तत०) तस्मिन् अभ्युद्यतः= वलिनियमनाभ्युद्युतः (ष० तत०) तस्य । तिर्यक् चासो आयामः तिर्यगायामः (कर्म०) तेन शोभते तच्छील इति तिर्यगायामशोभी ।

कोशः—प्रालेयं मिहिका चाथ, इत्यमरः । विशेषोऽवयवे द्रव्ये द्रष्टव्योत्तम-वस्तुनि, इति शब्दार्थः । दैर्घ्यमायाम आनाहः, इत्यमरः ।

टिर्पणी—प्रालेयम्—प्रलीयन्ते पदार्था अस्तिमन्त्रित प्रलयः, प्रलयादागतम् प्रालेयम् । “प्र” उपसर्गपूर्वक “आश्लेष” अर्थ में विद्यमान “ली” (ड) धातु से “एरच्” इस सूत्र से अच् प्रत्यय करके प्रलय ऐसा रूप बनाया जाता है और प्रलयादागतः इस विग्रह में “प्रलव” शब्द से “तद आगतः” इस सूत्र से अण् प्रत्यय करके आदि दृढ़ि करके “केकय-मित्र युप्रलयानां यादेरियः” इस सूत्र से “य” को “इय” आदेश करके मुणादि करके “प्रालेयम्” ऐसा सिद्ध होता है । **हंसद्वारम्—**कवि प्रसिद्धि है कि हंस लोग मानसरोवर इसी क्रौच्च-पर्वत के छिद्र से जाते हैं अतः “हंस द्वारम्” यह विशेषण दिवा गया । भृगोरपत्यानि पुंमासः इस विग्रह में “भृगु” शब्द से अपत्य अर्थ ऋष्यन्धक-दृष्टि-कुरुभ्यश्च” इस सूत्र से अण् प्रत्यय होता है । परन्तु बहुत्व विवक्षा में भृगुपतियशः—“अत्रि भृगु-कुत्स वसिष्ठ-गौतमाङ्गिरोभ्यश्च” इससे प्रत्यय का लुक हो जाता है । **नियमनम्—**“नि” उपसर्गपूर्वक “यम्” धातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय करके “नियमन” ऐसा रूप निष्पत्त होता है । पुराणों में ऐसी कथा आती है कि परशुरामजी ने कार्तिकेयजी से स्पर्शी करते हुए क्रौच्च पर्वत में छिद्र कर डाला था । बस इसी कथा के आधार पर उक्त छिद्र परशुरामजी का यशोवर्त्म हो गया ।

अलङ्कारः—“यशोवर्त्म” यहाँ तो रूपक अलंकार है एवं “विष्णोः पाद-इव” यहाँ श्रीती उपमा है एवं च दोनों का अङ्गाङ्गभाव रहने से संकर अलंकार है ॥ ५७ ॥

गत्वा ऊर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासित-प्रस्थ-सन्धेः
कैलासस्य त्रिदश-वनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ।
शृङ्गाच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्यादृहासः ॥५८॥

अन्वयः—ऊर्ध्वं च गत्वा दशमुखभुजोच्छ्वासित-प्रस्थ-सन्धेः त्रिदशवनितादर्पणस्य कैलासस्य अतिथिः स्याः । यः कुमुदविशदैः शृङ्गोच्छ्रायैः खं वितत्य प्रतिदिनम् राशीभूतः त्र्यम्बकस्य इव स्थितः ।

व्याख्या—(हे मेघ !) ऊर्ध्वं च=उपरि च, गत्वा=प्राप्य, दशमुखभुजो-च्छ्वासितप्रस्थसन्धेः=रावणवाह्वालिङ्गितसानुसन्धेः, त्रिदशवनितादर्पणस्य=देवललनामुकुरस्य, कैलासस्य=शिवाद्रेः, अतिथिः=आगन्तुकः, स्याः=भवेः । यः=कैलासः, कुमुदविशदैः=श्वेतपद्मध्रबलैः, शृङ्गोच्छ्रायैः=शिखरोनन्तरैः, खम्=नभः, वितत्यः=व्याप्य, प्रतिदिनम्=दिने-दिने, राशीभूतः=पुञ्जीभूतः, त्र्यम्बकस्य=शङ्करस्य, अदृहास इव=अतिहास इव, स्थितः=विद्यमानो वर्तते इति भावः ।

शब्दार्थः—ऊर्ध्वं च=ओर ऊपर, गत्वा=जाकर, दशमुखभुजोच्छ्वासित-प्रस्थसन्धेः=रावण की भूजओं के आलिङ्गन से वियोजित शिखर सन्धि वाले, त्रिदशवनितादर्पणस्य=देवताओं की स्त्रियों के लिए दर्पण के समान; कैलासस्य=कैलास पर्वत का, अतिथिः=आगन्तुक, स्याः=होना । यः=जो कैलास पर्वत; कुमुदविशदैः=कमल के समान श्वेत, शृङ्गोच्छ्रायैः=चोटियों की ऊँचाई से, खम्=आकाश की, वितत्य=व्याप्त कर, प्रतिदिनम्=प्रतिदिन, राशीभूतः=एकत्रित, त्र्यम्बकस्य=जिवंजी के, अदृहास इव=ठहाका (जोर की हँसी)-सा, स्थितः=स्थित है ।

भावार्थः—(हे मेघ !) क्रौञ्चबिलान्निर्गत्य ऊर्ध्वं च गत्वा, रावणवाहूद्वार-प्रस्थितशृङ्ख सन्धे: देवललनामुकुरभूतस्य कैलासस्य आगन्तुको भवेः। यः कैलासः श्वेतपद्मवदुज्जवलैः शृङ्खोच्चराकाशभिव्याप्य पुञ्जीभूतः शिवस्य अट्टहास इव वर्तमानोऽस्ति ।

हिन्दी—(हे मेघ !) क्रौञ्चबिल से बाहर निकलने के बाद ऊपर जाकर, रावण ने अपनी भूजाओं के आलिंगन से जिसकी चौटियों की संधि को ढीला कर दिया और देवाङ्गनाओं के लिए दर्पण के समान है उस कैलास पर्वत का अतिथि बनना । जो कैलास पर्वत कमल के समान अपनी उजली ऊँची चौटियों से आकाश को व्याप कर शिवजी के पुञ्जीकृत अट्टहास के समान विद्यमान है ।

समासः—दशमुखानि यस्य सः दशमुखः (बहु०), दशमुखस्य भुजाः— दशमुखभुजाः (ष० तद०) तैः उच्छ्रवासिताः दशमुखभुजोच्छ्रवासिताः (तृ० तद०) प्रस्थसन्धयो यस्य सः दशमुखभुजोच्छ्रवासितप्रस्थसन्धिः (बहु०) तस्य । तिस्रो दशाः येषान्ते = त्रिदशाः (बहु०) तेषां वनिताः= त्रिदशवनिताः (ष० तद०) तासां दर्पणः= त्रिदशवनितादर्पणः (ष० तद०) तस्य । शृङ्खाणाम् उच्छ्रायैः= शृङ्खोच्छ्रायैः (ष० तद०) कुमुदानीव विशदाः= कुमुदविशदाः (उपमान कर्म०) तैः, दिने-दिने इति= प्रतिदिनम् (अव्ययीभावः) । श्रीण अम्बकानि यस्य सः= अम्बकः (बहु०) त्रयाणाम् (लोकानाम्) अम्बकः (पिता) अम्बकः (ष० तद०) श्रीन् (वेदान्) अम्बते (उच्चार्यते) इति अम्बः अम्ब एव अम्बकः स्वार्थं कन् (द्व० तद०) ।

कोशः—अमरा निर्जरादेवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः, इत्यमरः । विरूपा-क्षस्त्रिलोचनः, इत्यमरः । अट्टावतिशयक्षोभौ, इति यादवः । विशदश्वेतपाण्डुराः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—गत्वा—“गम्” धातु से “क्त्वा” प्रत्यय करके गत्वा बनाया जाता है । **दशमुखभुजोच्छ्रवासित०**—वाल्मीकि रामायण में एक कथा आती है कि रावण एक बार बल के मद से मदान्ध होकर कैलास पर्वत को लंका में उठा ले जाने की इच्छा से उसे भूजाओं से उखाड़ने लगा । रावण के इस तरह करने से कैलास पर रहने वाले सभी जीव-जन्तु विकल से होने लगे, अधिक क्या

पार्वतीजी ने भी भयातुर होकर शिवजी का आलिङ्गन किया । इधर सभी को भयभीत देख शिवजी ने रावण के अभिमान को चूण करते के लिए कैलास पर्वत को अपने अँगूठे से नीचे की ओर दबाया । परिणामस्वरूप कैलास तो बैठ ही गया साथ ही रावण भी उसी में कुचला जाने लगा । तब रावण के बहुत प्रार्थना करते पर शिवजी ने उसे बचा लिया । **कैलासः**—कैलीनां समूहः=कैलम् “तस्य समूहः” इस सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ और कैलेन आस्यते अस्मिन्निति “कैलासः” ‘कैल’ उपपदक “आस” धातु से “हलश्च” इस सूत्र से अधिकरण में “घञ्” प्रत्यय करके “कैलास” यह रूप तिष्पन्न होता है । **अतिथिः**—अविद्य-माना तिथिर्थ्य स अतिथिः—जहाँ “नशोऽस्त्यथानां वाच्यो वाचोत्तरपदलोपः” इस वार्तिक से नव् बहुत्रीहि समास हुआ है तब “अतिथिः” ऐसा रूप बनता है । **राशीभूतः**—अराशिः राशिः यथा सम्पद्यते इति राशीभूतः “अभूततदभाव” अर्थ में ‘च्छ’ प्रत्यय हुआ है । **श्रायाः**—श्रयणानि श्रायाः सेवा अर्थ में विद्यमान ‘श्रि’ धातु से ‘श्रिणीभूवोज्जुपसर्गे’ इस सूत्र से ‘घञ्’ प्रत्यय करके ‘श्राय’ ऐसा रूप बनता है । एवं उदगताः श्रायाः = उच्छ्रायाः ‘कुगतिप्रादयः’ इस सूत्र से समाप्त हुआ है ।

अलंकारः—प्रस्तुत पद्य में ‘कुमुदविशदैः’ यहाँ उपमा एवं ‘अट्टहास इव’ यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है । और दोनों अङ्गाङ्गभाव रूप से विद्यमान हैं । अतः ‘संकर’ अलंकार है ॥ ५८ ॥

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्तिं गधभिन्नाऽङ्गनाभे
सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेद—गौरस्य तस्य ।
शोभामद्रेः स्तिं मितनयन-प्रेक्षणीयां भवित्री-
मसंन्यस्ते सति हलभूतो मेचके वाससीव ॥५९॥

अन्वयः—स्तिं गधभिन्नाऽङ्गनाऽऽभे त्वयि तटगते सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेद-गौरस्य तस्य अद्रेः मेचके वाससि असंन्यस्ते सति हलभूत इव स्तिं मितनयन-प्रेक्षणीयाम् शोभाम् भवित्रीम् उत्पश्यामि ।

व्याख्या—स्तिं गधभिन्नाऽङ्गनाऽऽभे = चिक्कणमदित — कछलकान्ती, त्वयि = मेघे, तटगते = सानुगते, (सति) सद्यः = तत्क्षणम्, कृत्तद्विरददशनच्छेद-

गौरस्य = छिक्षहस्तिदन्त — वच्छुभ्रस्य, तस्य = पूर्वोक्तस्य, अद्रेः = पर्वतस्य, कैलासस्येति भावः । मेचके = श्यामे, वाससि = वस्त्रे, असंन्यस्ते = अपरित्यक्ते, स्कन्धस्थापित इत्यर्थः, हलभृत इव = बलरामस्येव, स्तिमित-नयनप्रेक्षणीयाम् = निश्चलनयनदर्शनीयाम्, भवित्रीम् = भाविनीम्, शोभाम् = श्रियम्, उत्पश्यामि = तर्कयामि ।

शब्दार्थः—स्तिग्नधभिन्नाङ्गजनाऽभे = पीसे गये चिकने सुरमे के समान कान्ति वाले, त्वयि = तुम्हारे, तटगते = समीप जाने पर, सद्यः कृत्तद्विरद-दशनच्छेदगौरस्य = तुरन्त काटे गये हाथी के दाँत के समान उजले, तस्य = उस, अद्रेः = पर्वत के (कैलास के), मेचके = काले, वाससि = कपड़े के, असंन्यस्ते = नहीं छोड़ने पर अर्थात् कन्धे पर रखने पर, हलभृतः इव = बलराम के समान; स्तिमितनयनप्रेक्षणीयाम् = निश्चल नयन से देखने योग्य, भवित्रीम् = होने वाली, शोभाम् = मुन्दरता की, उत्पश्यामि = संभावना (मैं) करता हूँ ।

भावार्थः—आर्य मेघ ! चिक्कणमदितकञ्जलशोभे त्वयि कैलाससमीपगते सति तत्क्षणकृत्तहस्तिदन्तवच्छुक्लस्य तस्य कैलासपर्वतस्य श्यामवसनन्यस्तस्कन्धस्य बलरामस्य निश्चलनयनदर्शनीयां शोभां तर्कयामि ।

हिन्दी—चिकने सुरमे की चमक के समान चमक वाले तुम्हारे समीप जाने पर तुरन्त काटे गये हाथी के दाँत के समान उजले उस कैलास पर्वत की मुन्दरता का कंधे पर रखे काले कपड़े से होने वाली बलराम की निश्चल आँखों से देखने योग्य शोभा के समान मैं संभावना करता हूँ ।

समासः—स्तिग्नं च तद्भिन्नम् = स्तिग्नधभिन्नम् (कर्म०) स्तिग्नधभिन्नच्च तदञ्जनम् = स्तिग्नधभिन्नाङ्गजनम् (कर्म०) तस्येव आभा यस्य स स्तिग्नधभिन्नाङ्गजनाऽभः (वह०) तस्मिन् । तटंगतः = तटगतः (द्वि तद०) तस्मिन् । द्वौ रदो यस्य स द्विरदः (वह०) द्विरदस्य दशनः = द्विरददशनः (ष० तद०) सद्यः कृतः = सद्यः कृतः (सुप्तुपेति समासः) सद्यः कृतश्चासौ द्विरददशनः = सद्यः कृत्तद्विरददशनः (कर्म०) तस्याच्छेदः (ष० तद०) तदिव गौरः = सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरः (उपमानकर्मधारयः) तस्यः स्तिमिते च ते नयने = स्तिमितनयने (कर्मधारयः) तास्यां प्रेक्षणीयाम् = स्तिमित-नयन-प्रेक्षणीयाम् (त० तद०) ।

कोशः—चिक्कणं मसृणं स्तिनग्धम्, इत्यमरः । सद्यः सपदि तत्क्षणे, इत्यमरः । रदना दशना दन्ताः, इत्यमरः । कृष्णे नौलासितश्यामकालस्यामल-
मेचकाः, इत्यमरः । स्कन्धोभुजशिरोमोऽस्त्री, इत्यमरः ।

टिष्पणी—स्तिनग्धः—“स्तिनह” धातु से “क्त” प्रत्यय करके स्तिनग्ध ऐसा रूप निष्पन्न किया जाता है । स्तिनग्धभिन्नाऽञ्जनामे यहाँ “सप्तमी विशेषणे बहुत्रीहो” इस सूत्र के “सप्तमी” पद से ज्ञापित व्यधिकरण बहुत्रीहि समाप्त हुआ है । **कृत्तः**—कृत धातु से “क्त” प्रत्यय करके “कृत्तः” ऐसा शब्द निष्पन्न होता है । **हलभृतः**—विभर्त्ति “भृत्” भरण अर्थ में विद्यमाने “भृ” (ज्) धातु से ‘क्विप्’ प्रत्यय करके “भृत्” ऐसा रूप निष्पन्न होता है । हलं विभर्ति इति हलभृत् यहाँ “उपपद समाप्त” हुआ है ।

बलङ्घारः—यहाँ कज्जल की तुलना मेघ से और काले वस्त्र से भी मेघ की तुलना की गयी है एवं हिमालय की तुलना बलराम से की गयी है अतः उपमा अलङ्घार है ॥ ५९ ॥

हित्वा तस्मिन् भुजग-बलयं शम्भुना दत्तदस्ता
क्रीडा-शैले यदि च विचरेत्पाद-चारेण गौरी ।
भङ्गी-भक्त्या विरचितवपुःस्तर्वा भतान्तर्जलौघः
सोपानत्वं कुरु मणिटटा—रोहणायाग्रयायी ॥६०॥

अन्वयः—तस्मिन् क्रीडाशैले शम्भुना भुजग-बलयम् हित्वा दत्तहस्ता गौरी पादचारेण विचरेत् यदि अग्रयायी स्तम्भित्ताऽन्तर्जलौघः भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः मणिटटाऽरोहणाय सोपानत्वम् कुरु ।

व्याख्या—तस्मि=पूर्वोक्ते, क्रीडाशैले=केलि-पर्वते कैलास इति यावत् । शम्भुना=शिवेन, भुजगबलयम्=अहिकङ्कणम्, हित्वा=परित्यज्य, दत्तहस्ता=कराऽबलम्बा, (सती) गौरी=पार्वती, पादचारेण=चरणःसंचारेण, विचरेत्=चलेत्, यदि=चेत् (तहि) अग्रयायी=अग्रेसरः, स्तम्भित्ताऽन्तर्जलौघः=अब्रु-दाभ्य न्तरतोयवेगः, भङ्गीभक्त्या=पर्वतचननथा, विरचितवपुः=निभितशरीरः;

(त्वम्) मणितटाऽरोहणाय = रत्न-तटाऽरोहणाय, सोपानत्वम् = शृङ्खला-भावम्, कुरु = विदेहि । सोपानरूपस्त्वं भव इति भावः ।

शब्दार्थः—तस्मिन् = उस, क्रीडाशैले = केलिपवंत (कैलास) पर, भुजग-वलयम् = सर्प के कंगन को, हित्वा = छोड़कर, शम्भुना = शिवजी के द्वारा, दत्तहस्ता = हाथ का सहारा दी गयी, गौरी = पार्वती, पादचारेण = पैरों से, विचरेत् = चलें, यदि, तहि = तो, अग्रयायी = आगे-आगे चलते हुए, स्तम्भितान्तर्जलौधः = भीतर जल के प्रवाह को रोके हुए, भंगीभक्त्वा = पौड़ियों के क्रम से, विरचित-वपुः = शरीर की रचना बाले (तुम) । मणितटाऽरोहणाय = मणि तट पर चढ़ने के लिए, सोपानत्वम् कुरु = सीढ़ी का काम करना ।

भावार्थः—हे मेघ ! तस्मिन् केलिपवंते कैलासे (भयापनोदनाय) कङ्कणं परित्यज्य शिवेन प्राप्तकरावस्था पार्वती यदि पद्भ्यां विहरेत् तहि अग्रेसरः अवरुद्धान्तर्जलसमूहस्त्वं स्वशरीरेण पर्वरचनां कृत्वा मणितटाऽरोहणाय सोपानरूपो भव ।

हिन्दी—हे मेघ ! उस क्रीड़ा पर्वंत (कैलास) पर साँप के कंगन को छोड़कर शिवजी के द्वारा हाथ का सहारा दी गयी पार्वती यदि पैदल चलें तो तुम आगे-आगे चलते हुए, भीतर जल के प्रवाह को रोके हुए, अपने शरीर के द्वारा पौड़ियों की रचना कर मणितट पर चढ़ने के लिए सीढ़ी का काम करना ।

समाप्तः—क्रीडायाः शैलः = क्रीडाशैलः (१० तद०) तस्मिन् । भुजग एव वलयम् = भुजगवलयम् (कर्मधारणः) दत्तः हस्तो यस्यै सा दत्तहस्ता (वहु०) जलानाम् ओधः = जलौधः (१० तद०) अन्तः स्थितः जलौधः = अन्तर्जलौधः (भद्यमपदलोपी) स्तम्भितः अन्तर्जलौधः येन सः स्तम्भितान्तर्जलौधः (वहु०) । विरचितं वपुयेन सः विरचितवपुः (वहु०) भञ्जीनां भक्तिः = भञ्जीभक्तिः (१० तद०) तथा । मणीनां तटम् = मणितटम् (१० तद०) मणितटे आरोहणं मणितटाऽरोहणम् (१० तद०) तस्मै ।

कोशः—आवापकः परिहार्यः कटकी वलयोऽस्त्रियाम्, इत्यमरः । निकर-त्रातवार-संघात-सञ्चयाः, इत्यमरः । आरोहणं स्थात् सोपानम्, इत्यमरः ।

टिप्पणी—क्रीडाशंखे—कैलास पवंत को क्रीडापर्वंत कहने में शम्भु-रहस्य का उक्त श्लोक प्रमाण है—

कैलाशः कनकाऽद्रिश्च मन्दरो गन्धमादनः ।

क्रीडाऽर्थं निमिताः शम्भोदेवैः क्रीडाद्रयोऽभवन् ॥

पादचारः—चरणं चारः=गत्यर्थक “चर्” धातु के भाव में “हलश्च” इस सूत्र से घब्र प्रत्यय करके “चार” ऐसा शब्द निष्पत्ति होता है । अग्रयायी—अग्रे यातीति तच्छीलः इस विग्रह में अग्र उपपदपूर्वक गत्यर्थक “या” धातु से “णिनि” प्रत्यय करके वृद्धचादि करके “अग्रयायी” ऐसा रूप बनता है । भक्तिः—“भज्” धातु से कितन् प्रत्यय करके “भक्ति” ऐसा शब्द बनता है । विरचितम्—“वि” उपसर्गपूर्वक “रच्” धातु से कर्म में “वन्” प्रत्यय करके “विरचितम्” ऐसा रूप निष्पत्ति होता है । आरोहणम्—“आङ्” उपसर्गपूर्वक “रुह” धातु से “ल्युट्” प्रत्यय करके “आरोहणम्” ऐसा रूप बनाया जाता है ।

अलङ्कारः—यहाँ भुजग में वलय का आरोप किया गया है अतः “रूपक” अलङ्कार है ॥ ६० ॥

त अवश्यं वलयकुलिशोदघट्नोदगीर्णतोयं

नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ।

ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे ! घर्मलब्धस्य न स्यात्

क्रीडालोलाः श्रवणपर्खैः गर्जितैर्भायियेस्ताः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—तत्र अवश्यम् सुरयुवतयः वलयकुलिशोदघट्नोदगीर्णतोयम् त्वाम् यन्त्रधारागृहत्वम् नेष्यन्ति । हे सखे ! घर्मलब्धस्य तव ताभ्यः मोक्षः न स्यात् क्रीडालोलाः ताः ताः श्रवणपर्खैः भाययेः ।

व्याख्या—(हे मेघ !) तत्र = कैलासे, अवश्यम् = नूनम्, सुरयुवतयः = देवललनाः, वलयकुलिशोदघट्नोदगीर्ण तोयम् = कङ्कणकोटिताङ्गनोत्सृष्टजलम्, त्वाम् = मेघम्, यन्त्रधारागृहत्वम् = कृत्रिमधारागृहत्वम्, नेष्यन्ति = प्रापयिष्यन्ति । हे सखे ! = हे भित्र ! घर्मलब्धस्व = आतपप्राप्तस्य, तव = मेघस्य, ताभ्यः = देवयुवतिभ्यः, मोक्षः = मुक्तिः, न स्यात् = न भवेत् (चेत्) “तहि” क्रीडालोलाः =

केलिचपलाः, ताः—सुरयुवतीः, श्रवणपरुषैः—कर्णकटुभिः, गर्जितैः—स्तनितैः, भाभये:—त्रासये: ।

शब्दार्थः—(हे मेघ !) तत्र = वहाँ कैलास पर, अवश्यम् = निश्चय ही । सुरयुवतयः = देवाङ्गनाएँ, वलयकुलिशोदधट्टनोदगीर्णतोयम् = कङ्कणों के अग्रभाग के प्रहार से जल उगलते हुए, त्वाम् = तुमको, यन्त्रधारा-गृहत्वम् = कृत्रिम जलप्रवाह का घर, नेष्यन्ति = बना देगी । हे सखे ! = हे मित्र ! घर्मलव्यस्य = गर्भी को प्राप्त, तव = तुम्हे, ताभ्यः = उन देवललनाओं से, मोक्षः = मुक्ति (छुटकारा), न स्यात् = न मिले (यदि) तो तुम, क्रीडालोलाः = खेल में लगी चच्चल, ताः = उन देवप्रियाओं को, श्रवणपरुषैः = कर्णकठोर, गर्जितैः गर्जनों से, भायये: = डराना ।

भावार्थः—हे मेघ ! कैलासे सुरयुवतयः कङ्कणप्रहारैरुत्सृष्टजलं त्वां कृत्रिमजलधारागृहत्वं तूनं विधास्यन्ति । हे सखे ! यदि ते ताभ्यो देवललनाभ्यो मुक्तिनं स्यात् तहि त्वं कर्णकठोरैर्गर्जनैस्ताः त्रासये: ।

हिन्दी—हे मेघ ! उस कैलास पर्वत यर देवाङ्गनाएँ निश्चित ही तुम्हें अपने कङ्कणों के अग्रभाग के प्रहार से जलवर्षण के लिए विवश करती हुई कृत्रिम जलधारा का साधन बना देगी । हे सखे, इस प्रकार आतप प्राप्त तुम्हें यदि उन देवललनाओं से मुक्ति न मिले तो तुम क्रीडासक्त चच्चल उन देवललनाओं को अपने श्रवणकठोर गर्जनों से भयभीत करना ।

समाप्तः—वलयानां कुलिशानि = वलयकुलिशानि (स० तद०) उदगीर्ण तोयं येन सः उदगीर्णतोयः (वह०) वलय-कुलिशैः उदधट्टनानि = वलयकुलि-शोदधट्टनानि (त० तद०) वलयकुलिशोदधट्टनैः उदगीर्णतोयः वलयकलिशोद-घट्टनोदगीर्णतोयः । सुराणां युवतयः = सुरयुवतयः (स० तद०) । यन्त्रेषु धाराः = यन्त्रधारा: (स० तद०) यन्त्रधाराणां गृहत्वम् = यन्त्रधारागृहत्वम् (स० तद०) । घर्मे लब्धः = घर्मलव्यः (स० तद०) तस्य । क्रीडायां लोलाः क्रीडालोलाः (स० तद०) श्रवणयोः परुषाणि = श्रवणपरुषाणि (स० तद०) तैः ।

कोशः—कटको वलयोऽस्त्रियाम्, इत्यमरः । चलनं कम्पनं कम्पं चलं लोलं चलाचलम्, इत्यमरः । अथ मित्रं सखा सुहृत्, इत्यमरः । निष्ठुरं परुषम्, इत्यमरः ।

टिष्पणी—तत्र-तस्मिन्नि “तत्र” यह अव्यय है। ‘तद्’ शब्द से “सप्तम्यास्त्रल्”, इस सूत्र से त्रिल् प्रत्यय किया जाता है। उद्घट्टनम्-उद्घट्ट एव उद्घट्टनम्, यहाँ ‘उद्’ उपसर्गपूर्वक ‘घट्ट’ धातु से भाव में ल्युट् करके अनादेश आदि करके ‘उद्घट्टनम्’ यह रूप बना है। **उद्गीणः—**“उद्” उपसर्गपूर्वक तिग्रणार्थं “गृ” धातु से ‘क्त’ प्रत्यय करके णत्वादि करके ‘उद्गीणः’ ऐसा रूप निष्पक्ष होता है। **नेष्यन्ति—**यह प्रापणार्थं (णि) नि धातु के लट् लकार के बहुवचन का रूप है। **भाययेः—**भयार्थिक णिजन्त ‘भायि’ धातु के लिङ् लकार के मध्यमपुरुष के एकवचन का यह रूप है। यहाँ “भीष्मयो-हौतुभये” इस सूत्र से आत्मनेपद हड़ा है या ‘नुपुक्’ आगम ही। यहाँ भय का कारण (हैतु) मेघ नहीं अपितु ‘गर्जित’ है ॥ ६१ ॥

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः

कुर्वन्कामं क्षणमुखपट्टप्रीतिमैरावतस्य ।

धुन्वन्कल्पद्रुम—किसलयान्यशुकानीव वातै-

ननाचेष्टैर्जलद ! ललितैर्निर्विशेषतं नगेन्द्रम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे जलद ! हेमाम्भोज-प्रसवि मानसस्य सलिलम् आददानः ऐरावतस्य क्षणमुखपट्टप्रीतिम् कुर्वन् अंशुकानि इव कल्पद्रुमकिसलयानि वातैः धुन्वन् नानाचेष्टैः ललितैः तम् नगेन्द्रम् कामम् निर्विशेः ।

व्याख्या—हे जलद !—हे मेघ ! हेमाम्भोजप्रसवि = स्वर्णपद्मोत्पादकम्, मानसस्य = मानससरोवरस्य, सलिलम् = तोयम्, आददानः = गृह्णन् पिबन् इति भावः, ऐरावतस्य = एतत्रामक इन्द्रगजस्य, क्षणमुखपट्टप्रीतिम् = मुहूर्तवदन-वस्त्रानन्दम्, कुर्वन् = विद्धत्, अंशुकानि इव = मसृणवस्त्राणीव, कल्पद्रुम-किसलयानि = कल्पद्रुक्षपल्लवानि, वातैः = पवनैः, धुन्वन् = कम्भयन्, नानाचेष्टैः = अनेकक्रीडितैः, ललितैः = विलासैः, तम् = पूर्वोक्तम्, नगेन्द्रम् = पर्वत-राजम् कैलासमित्यर्थः, कामम् = पर्यासिम्, निर्विशेः = उपभुक्त्व ।

शब्दार्थः—हे जलद ! हे मेघ ! हेमाम्भोजप्रसवि=स्वर्णकमलों का उत्पादक, मानसस्य = मानसरोवर के, सलिलम् = जल को, आददानः=प्रहृण करते

हुए, ऐरावतस्य=ऐरावत नामक इन्द्र के हाथी को, क्षणमुखपट्टीतिम्=कुछ समय के लिए मुँह ढकने वाले वस्त्र का आनन्द, कुवंत्=देते हुए, अंशुकानीव=महीन (चिकने) वस्त्र की तरह, कल्पद्रुमकिसलयानि=कल्पद्रुक्ष के पललवों को, वातैः=वायु से, धून्वन्=कौपाते हुए, नाना-चेष्टैः=अनेक प्रकार की चेष्टाओं से युक्त, ललितैः=विलासों से, तम्=उस, नगेन्द्रम्=पर्वतराज कैलास का, निर्विशेः=आनन्द लेना ।

भावार्थः—हे मेघ ! स्वर्णपद्मोत्पत्तिस्थानभूतं मानससरोवरजलं पिबन्, किञ्चिन्ममुहूर्तं यावत् इन्द्रहस्तिनः ऐरावतस्यानावगुण्ठनानन्दं प्रयच्छन् मसृण-वस्त्रानीव कल्पद्रुमपल्लवानि पवनैः कम्पयन् अनेक-प्रकारैः क्रीडितैः कैलासं यथेष्टमुपभुङ्क्ष ।

हिन्दी—हे मेघ ! स्वर्ण-कमलों को उत्पन्न करने वाले मानससरोवर के जल को पीते हुए, ऐरावत हाथी को मुँह के धूंधट का आनन्द देते हुए, पतले वस्त्रों के समान कल्पद्रुक्ष के पत्तों को हवा से हिलाते हुए तुम अनेक प्रकार की चेष्टाओं से युक्त क्रीड़ाओं से उस कैलास पर्वत का पर्याप्त उपभोग करना ॥ ६२ ॥

समाप्तः—हेमः अभ्योजानि (४० तत्०) हेमाभ्योजानां प्रसवि यत् तत्=हेमाभ्योजप्रसवि (४० तत्०) । कल्पद्रुमाणां किसलयानि=कल्पद्रुम-किसलयानि (४० तत्०) । नाना चेष्टा येषां येषु वा तैः, नानाचेष्टैः (बहु०) ।

कोशः—अंशुके वस्त्रमात्रे स्यात्परिधानोत्तरीययोः, इति शब्दार्णवः । ना भावभेदे स्त्रीनृत्ये ललितं त्रिषु सुन्दरे, अस्त्रियां प्रमदागारे क्रीडिते जातिपल्लवे, इति शब्दार्णवः । निर्वेशो भृतिभीगयोः, इत्यमरः । निर्वेश उपभोगः, इत्यमरः ।

टिष्पणी—जलदः—जलं ददाति इस विग्रह में “जल” उपपदपूर्वक दानार्थ “दा” धातु से “आतोऽनुपसर्गे कः” इस सूत्र से क प्रत्यय करके “जलद” ऐसा रूप निष्पन्न होता है । **हेमाभ्योजः**—अभ्यसि जातानीति अभ्योजानि, यहाँ “अभ्यस्” उपपदपूर्वक प्रादुर्भावार्थक ‘जन्’ धातु से “सप्तम्यां जनेऽङ्” इस सूत्र से ‘ङ’ प्रत्यय करके “डित्वसामर्थ्यादिमस्यापि टेलोपः” इस वचन के

आधार पर धातु के “अन्” का लोप होकर “अम्भोज” ऐसा रूप बनता है। हेमः अम्भोजानि—हेमाम्भोजानि। प्रसवि—“प्र” उपसर्गंपूर्वक प्रत्यवार्थक (पू०) “सू” धातु से “जिदृक्षि विश्रीण्वमाव्यथाम्यभपरिभूप्रसूभ्यश्च” इस सूत्र से “इनि” प्रत्यय करके गुणादि करके “प्रसवि” ऐसा रूप निष्पन्न होता है। आददान—“आङ्” उपसर्गंपूर्वक दा धातु से लट् लकार के स्थान पर “शानच्” प्रत्यय का विधान कर “आददान” ऐसा रूप बनता है। धुन्वन्—कम्पनार्थक “धु” धातु से लट् के स्थान पर “शतृ” आदेश करके “धुन्वन्” ऐसा रूप बनता है। निर्विशेः—“निर्” उपसर्गंपूर्वक “विश्” धातु के विधि-लिङ् के मध्यमपुरुष के एकवचन का यह रूप है।

अलङ्कारः—“अंशुकानीव” यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ६२ ॥

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्ततगंगादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
यावः काले वहति सलिलोदगारमुच्चैविमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—हे कामचारिन् प्रणयिन इव तस्य उत्सङ्गे स्तत-गंगादुकूलाम् अलकाम् दृष्ट्वा त्वं पुनः न ज्ञास्यसे न । उच्चैविमाना या वः काले सलिलोदगारम् अभ्रवृन्दम् कामिनी मुक्ताजालग्रथितम् अलकमिव वहति ।

व्याख्या—हे कामचारिन् = हे स्वेच्छाचारिन् ! प्रणयिनः—प्रियतमस्य, इव = यथा, तस्य = कैलासस्य, उत्सङ्गे = क्रोडे, स्ततगङ्गादुकूलाम् = चयुतजाह्नवीवस्त्राम्, अलकाम् = कुबेरनगरीम्, प्रियामिवेति शेषः । दृष्ट्वा = विलोक्य, त्वं = मेघः, पुनः = चूयः, न = नहि, ज्ञास्यसे = परिचेष्यसे (इति) तु न = नहि, अर्थात् अवश्यं ज्ञास्यसे इति ध्वनिः । उच्चैविमाना = उन्नतसप्तभूमि-भवनवती, या = अलका, वः = युध्माकम्, काले = समये वर्ती इत्यर्थः ।

सलिलोदगारम्=जलोत्सर्जनम्, अब्रवृन्दम्=मेघनिचयम्, कामिनी=वनिता, मुक्ताजालग्रथितम्=मौक्तिक-प्रचुर्गुम्फितम्, अलकमिव=केशपाशमिव, वहति=धारयति ।

शब्दार्थः—हे कामचारिन्=हे स्वच्छन्दचारी, प्रणयिन इव=प्रियतम की तरह, तस्य=उस (कैलास) की, उत्संगे=गोद में, स्तरगङ्गादुकूलाम्=खिसक गयी है गंगारूपी साड़ी जिसकी, ऐसी, अलकाम्=पुरी (रूपी कामिनी को) को, दृष्ट्वा=देखकर, त्वम्=तुम, पुनः=फिर, न=नहीं, जास्यसे=पहचानोगे (इति=ऐसा) नहीं, अर्थात् अवश्य पहचानोगे । उच्चैर्विमानाः=ऊँचे-ऊँचे सात-सात मंजिलों के भवन वाली, या=जो अलका, वः=तुम्हारे, काले=समय में, अर्थात् वर्षा के समय में, ललिलोदगारम्=जल (के प्रवाह को छोड़नेवाले), अब्रवृन्दम्=मेघ के समूह को, कामिनी=स्त्री, मुक्ताजाल-ग्रथितम्=मोतियों की लड़ियाँ जिसमें गुंथी हुई हैं ऐसे, अलकमिव=केश के समान, वहति-धारण करती है ।

भावार्थः—हे स्वेच्छाचारिन् ! प्रणयिनः इव कैलासस्योत्सङ्गे च्युतगंगा-वस्त्राम् अलकां प्रियतमस्याङ्के अवस्तरश्चैमा प्रेयसीमिव विलोक्य अवश्यं परि-चेष्यसे । या सपोन्तव्यभवना अलका वर्षासिमये जलवर्षके मेघसमूहं क्रोध-रहिता रमणी मुक्तासमूहानुस्यूतं केशपाशमिव धारयति ।

हिन्दी—हे स्वच्छन्द अमैणशील ! प्रियतम के समान कैलास की गोद में खिसक गया है गंगारूपी वस्त्र जिसका ऐसी अलका को प्रियतम की गोद में खिसक गयी है साड़ी जिसकी ऐसी कामिनी की तरह देखकर अवश्य पहचान जाओगे । जो अलका वर्षा के समय जल बरसाने वाले मेघ-समूह को बैसे ही धारण करती है जैसे क्रोध-रहित कोई कामिनी मोतियों की लड़ियों से गुंथे केश-पाश को धारण करती है ।

समाप्तः—अलकापक्षे—गङ्गा दुकूलमिव—इति गङ्गादुकूलम् (“उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे”) । कामिनी पक्षे—गङ्गा इव दुकूलम् (उपमानानि सामान्यवचनैः) स्तरं गङ्गादुकूलं यस्याः सा=स्तरगङ्गादुकूला (बहु०) ताम् । उच्चैः विमानानि यस्याः सा उच्चैर्विमाना (बहु०) इत्यलकापक्षे ।

कामिनीपक्षे तु विगतः मानो यस्याः सा विमाना (बहु०) अतिशयेन विमाना उच्चैर्विमाना (कुगतिप्रादयः) । अभ्राणां वृन्दम् = अभ्रवृन्दम् (ष० तद०) । मुक्तानां जालम्=मुक्ताजालम् (प० तद०) सलिलम् उदगिरतीति सलिलोदगारः (उपपद०) तम् ।

कोशः—उत्सङ्गो मुक्तसंयोगे सब्द्यन्यूद्वर्तलेऽपि च, इति मालतीमालायाम् । दुकूलं सूक्ष्मवस्त्रे स्यादुक्तरीये सितांशुके, इति शब्दार्थवः । विमानोऽस्त्री देवयाने सप्तभूमी च सदमनि, इति यादवः । पुंश्चत्यां भौक्तिके मुक्ता, इति यादवः । अलकाऽच्चर्णकुन्तला, इत्यमरः ।

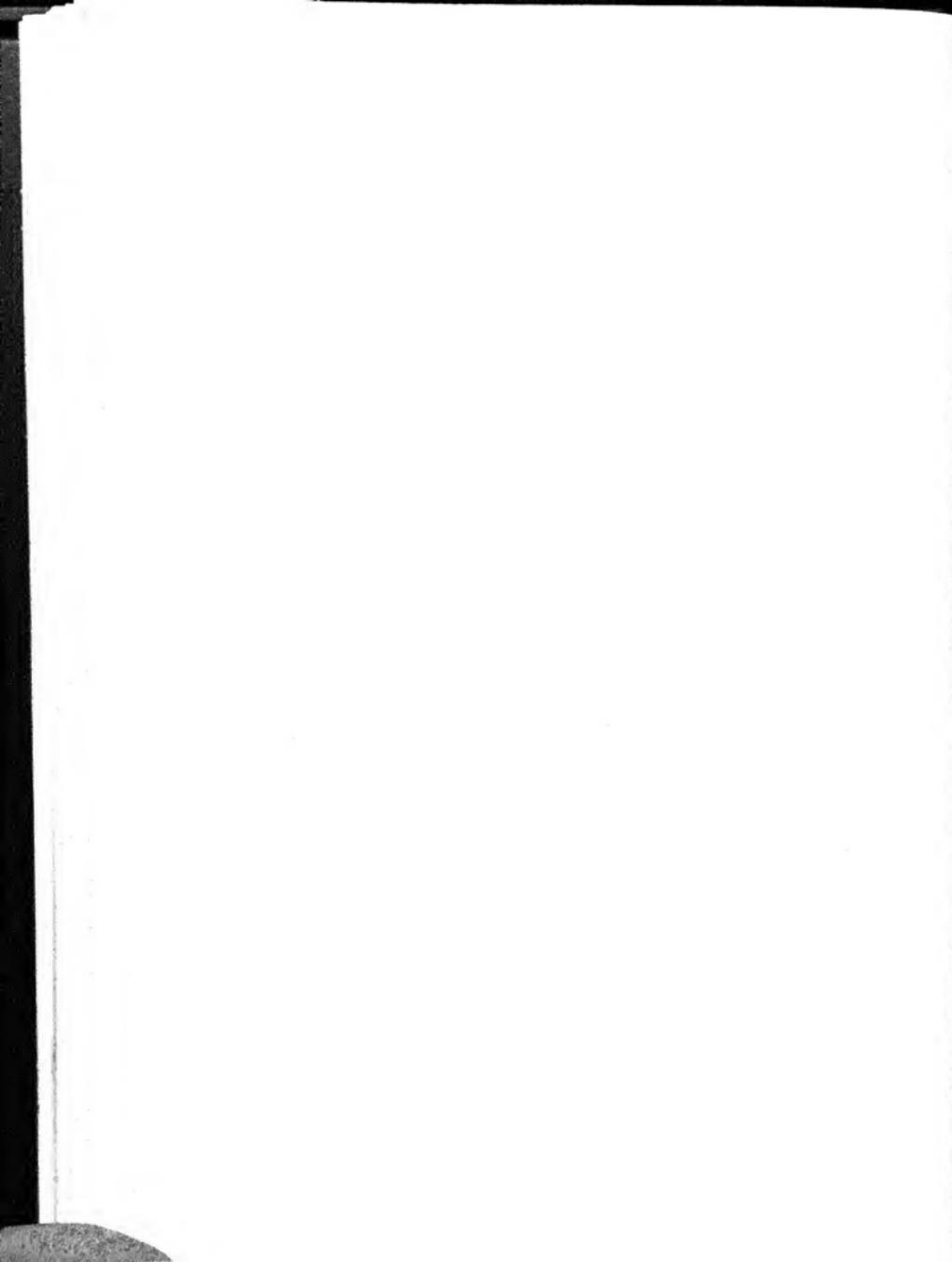
टिप्पणी—कामचारिन्—“काम” उपपदपूर्वक “चर्” धातु से ताच्छील्य अर्थ में “यिनि” प्रत्यय करके कामचारिन् ऐसा रूप निष्पन्न होता है । यह नम्बोद्धन का रूप है । **प्रणयिनः**—“प्रणय” शब्द से ‘अतहनिठनौ’ इस मूत्र से “इनि” प्रत्यय करके “प्रणयिन” शब्द बनता है । यह रूप पष्ठी विभक्ति का है । **उत्संगः**—“उद्” उपसर्गपूर्वक “सञ्ज्” धातु से “हलश्च” इस सूत्र से घञ् प्रत्यय करके “उत्सङ्गः” ऐसा रूप होता है । न ज्ञास्यसे न—यहाँ दो नन् का प्रयोग है जो दृढ़ता का वोधक होता है ‘द्वौ नन्त्रौ प्रकृत्यर्थं गमयतः’ इस वचन से । **ग्रथितः**—‘ग्रंथ’ धातु से ‘क्त’ प्रत्यय करके ग्रथित ऐसा रूप बनता है । **वहृति-प्रापणार्थक** ‘वह’ धातु के लद् लकार के प्रथमपुरुष के एकवचन का यह रूप है ।

अलंकारः—प्रस्तुत पद्य में कैलास में प्रणयी का साम्य तथा अलका में प्रणयिनी का साम्य गम्य है अतः एकदेश-विवरणी ‘उपमा’ अलंकार है । एवच्च दोनों निरपेक्ष भाव से हैं अतः ‘संसृष्टि’ अलंकार है ।

एक ही नायिका में आसक्त प्रणयी नायक को ‘अनुकूल’ एवं प्रियतम से उपलालित नायिका को स्वाधीनपतिका कहते हैं । प्रकृत में “कैलास” अनुकूल नायक है एवं ‘अलका’ स्वाधीन-पतिका नायिका धनित है ॥ ६३ ॥

॥ इति शिवो वः शिवं तनोतु ॥

इति पूर्वमेघः



उत्तरमेघः

उत्तरमेघः

विद्युत्वन्तं ललित-वनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्तिंश्वगम्भीर-घोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रं लिहाप्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैषिशेषैः ॥ १ ॥

अन्वयः—यत्र ललितवनिताः सचित्राः संगीताय प्रहतमुरजाः मणिमय-भुवः अञ्चलिहाप्राः प्रासादाः विद्युत्वन्तम् सेन्द्रचापम् स्तिंश्वगम्भीरघोषम् अन्त-स्तोयम् तुङ्गम् त्वाम् तैः तैः विशेषैः तुलयितुम् अलम् ।

व्याख्या—पूर्वमेघे यक्षः अलकापरिचयं दत्तेदारीं स्वभवनाऽभिज्ञानं ददाति—यत्र=अलकायाम्, ललित-वनिताः=रमणीयललताः, सचित्राः=आलेख्यसहिताः, संगीताय =वृत्त्यगीतवादित्राय, प्रहतमुरजाः=प्रताङ्गितमृदङ्गाः, मणिमयभुवः=रत्ननिर्मितमूप्रदेशाः, अञ्चलिहाप्राः=अञ्चलिहाप्राः, बत्युच्छ्रिता इति भावाः, प्रासादाः=देवालयाः, विद्युत्वन्तम्=सचपलम्, सेन्द्रचापम्=इन्द्रधनुःसहितम्, तुङ्गम्=उभ्रतम्, त्वाम्=मेघम्, तैः तैः=पूर्वोक्तप्रकारैः, विशेषैः=ललितवनितादिभिः, तुलयितुम्=समानताङ्गुहुंम्, अलम्=पर्याप्ताः ।

शब्दार्थः—पूर्वमेघ में यक्ष अलकापुरी का परिचय देकर अब यहाँ अपने भवन का परिचय देने की भूमिका प्रस्तुत करता है—यत्र=जिस अलकापुरी में ललितवनिताः=सुन्दरस्त्रियाँ, सचित्राः=चित्रशालाएँ, संगीताय प्रहतमुरजाः=संगीत के लिए बजाये गये मृदङ्ग, मणिमयभुवः=रत्न से निर्मित पृष्ठी (फर्श), अञ्चलिहाप्राः=गगनचुम्बी, प्रासादाः=देवालय, विद्युत्वन्तम्=बिजली से युक्त; सेन्द्रचापम्=इन्द्रधनुष से युक्त, स्तिंश्वगम्भीरघोषम्=मधुर एवं गम्भीर गजनां से युक्त, अन्तस्तोयम्=अन्दर जल से पूर्ण, तुङ्गम्=ऊँचे, त्वाम्=तुम्हारी, तैस्तैः=पूर्वोक्त प्रकारों से, विशेषैः=सुन्दरस्त्रियादि धर्मों से, तुलयितुम्=समानता करने में, अलम्=समर्थ हैं ।

भावार्थः—हे मेघ ! यस्यामलकायां रमणीयललनाः चित्रशालाः, तोयं-
विकाय प्रताडितमृदङ्गः मणिखचित्-भूमयः अभ्रङ्गुषाः देवालयाः एभिर्वर्मैः
तडितवन्तं इन्द्रधनुषायुक्तम्, मधुरगभीरस्तनितमुच्छ्रुतं त्वां यथाक्रमं समीकरुं
पर्याप्ताः (समर्थः) सन्ति ॥ १ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! जिस बलका में, रमणीय स्त्रियाँ, चित्रशालाएँ तृत्य-
गीतादि के लिए बजाए गये मृदङ्ग, मणिखचित् फर्श, गगनचुम्बी देवालय अपने
इन ललित वनितत्वादिद्वयमें से क्रमपूर्वक चित्रली से युक्त, इन्द्रधनुष से युक्त,
कर्णधिय गम्भीर गजंन वाले, ऊँचे, तुम्हारी तुलना करने में पूर्ण समर्थ हैं ।

समाप्तः—ललिता वनिता येषु ते ललितवनिताः (बह०) । चित्रैः सहिताः
सचित्राः (तुत्ययोगबह०) । प्रहता मुरजाः येषु ते प्रहतमुरजाः (बह०) । अभ्रं-
लिहानि अग्राणि येषान्ते अभ्रलिहाग्राः (बह०) । इन्द्रस्य चाप इन्द्रचापः । (४०
तत्०), इन्द्रचापेन सहितः सेन्द्रचापः (तृ० बह०) तम्, स्तिर्घो गम्भीरो घोषो
यस्य स स्तिर्घोगम्भीर-घोषः (बह०) तम् । अन्तर्गतं तोयं यस्य स अन्तर्गत-
तोयः (बह०) तम् ।

कोशः—वनिता महिला तथा, इत्यमरः । आलेख्याश्चर्ययोश्चत्रम्, इत्यमरः
भुरजा तु मृदङ्गे स्याद् ढक्कामुरजयोरपि, इति शब्दार्थेवः । प्रासादो देव-भूमुजाम्
इत्यमरः । अलंभूषण-पर्यामि-शक्ति-वारणवाचकम्, इत्यमरः । तृत्यं वाचं तथा
गीतं त्रय संगीतमुच्यते, इति संगीतरत्नाकरः ।

टिप्पणी—सचित्राः—यहाँ चित्रैः सहिताः इस विग्रह में “तेन सहेति
तुत्ययोगे” इस सूत्र से (तुत्ययोग) बहुदीहि समाप्त हुआ है एवं “वोपसज्जनस्य”
इस सूत्र से विकल्प के “सह” के स्थान पर “स” भाव हुआ है । समभ्याभाव
पक्ष में “सहचित्राः” ऐसा भी प्रयोग होता है । संगीताय—“सम्” उपसर्वं-
पूर्वक शब्दार्थक “चै” धातु से भाव में “क” प्रत्यय करके “संगीतम्” ऐसा शब्द
बनता है । यह रूप चतुर्थी विभक्ति का है, यहाँ तादर्थ्य में “तादर्थ्ये चतुर्थी
वाच्या” इस वार्तिक के नियमानुरोध से चतुर्थी हुई है । प्रहताः—“प्र” उपसर्वं-
पूर्वक “हन्” धातु से कर्म में “क” प्रत्यय करके “प्रहत” ऐसा रूप निष्पन्न

होता है। मणिमयभूवः—यहाँ “मणीनां विकारः” इस विग्रह से “मणि” क्षब्द से विकार अर्थ में “तस्य विकारः” इस सूत्र से “मयट्” प्रत्यय हुआ है। एवं स्त्रीत्वविवक्षा में डीप् करके बहुवचन में “मणिमय्यः” ऐसा रूप बनता है। मणिमयः भूवः येषु ते मणिमयभूवः (बह०)। यहाँ पूर्वं पद को पुंवदभाव हो गया है। अञ्चलिहः—“अञ्च” उपपदक “लिह्” धातु से “वहाञ्चेलिहः” इस सूत्र से “खश्” प्रत्यय हुआ है एवं “अर्हद्विषदजन्तस्य मुम्” इस सूत्र से “अञ्च” को “मुम्” हुआ है। तुलयितुम्—णिजन्त “तुलि” धातु से तुमुन् प्रत्यय करके “तुलयितुम्” ऐसा रूप निष्पत्र होता है।

अलंकारः—यहाँ विद्युत्वन्तम् आदि उपमानों के क्रम से ललितवनिता आदि उपमेय कहे गये हैं अतः यथासंस्थ एवं आर्थी उपमा अलङ्कार है और दोनों का अंगांगिभाव होने से “सङ्कर” अलंकार हो गया ॥ १ ॥

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दातुविद्धं
नीता लोधप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरोषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं बधूनाम् ॥ २ ॥

अन्त्यः—यत्र, बधूनाम्, हस्ते, लीलाकमलम्, अलके, बालकुन्दातुविद्धम्, आनने, लोधप्रसवरजसा, पाण्डुतां, नीता, श्रीः, चूडापाशे, नवकुरबकम्, कर्णे, चारु, शिरोषम्, सीमन्ते च, त्वदुपगमजम्, नीपम् ॥ २ ॥

व्याख्या—हे मेघ ! यत्र = अलकायाम्, बधूनाम् = वनितानाम्, हस्ते = करे, लीलाकमलम् = क्रीडापदमम्, शरदतुंभवमिति भावः। अलके=चूर्णं-कुंतले, बालकुन्दातुविद्धम्=नूतनमाध्य-पुष्प-गुरुकनम्, हेमन्तर्तुं भवं पुष्पविशेषम्, आनने=मुखे, लोधप्रसवरजसा=शिशिर्तुभवलोध-पुष्प-परागेण, पाण्डुताम्=श्वेतताम्, गौरवर्णतामिति भावः, नीता=प्रापिता, श्रीः=शोभा, चूडापाशे=केशजालके, नवकुरबकम्=नूतनकुरबकम् वसन्तर्तुभवं पुष्पविशेषम्, कर्णे=श्रोत्रे, चारु=मनोङ्गम्, शिरोषम्=श्रीमतूंत्पन्नपुष्पविशेषम्, सीमन्ते=केशवेशे च

स्वदुपगमजम् = मेघागमनजन्यम्, वर्षंतुभवमिति भावः, नीपम् = कदम्बम्
अस्तीति शेषः ॥ २ ॥

शब्दार्थः—हे मेघ ! यत्र=जिस अलका में, वधूनाम् = स्त्रियों के, करे=हाथ में, लीला-कमलम् = क्रीड़ाकमल (है), अलके=धूंधराले बालों में, बाल-कुन्दानुविद्धम् = नवीनकुन्द के फूलों का गुम्फन (है), आनने=मुँह में, लोध्र-प्रसवरजसा = लोध्रपुष्प के पराग से, पाण्डुतां = गौरवण्ठां को, नीताः=प्राप्त, श्रीः=शोभा (है), चूडापाशे = वेणियों में, नव-कुरबकम् = कुरबक के फूल हैं, कर्णः=कान में, चाहूः=सुन्दर, शिरीषम् = शिरीष (मौलश्री) फूल हैं, सीमन्ते=माँग में, त्वदुपगमजम् = तुम्हारे आने पर अर्थात् वर्षाकृष्टु आने पर उत्पन्न, नीपम् = कदम्ब पुष्प है ।

भावार्थः—हे मेघ ! यत्रालकायां स्त्रीणामङ्गोषु सर्वेषु ऋतुषु जायमानानि पुष्पाणि सर्वदेव विराजन्ते । यथा करे शरदर्तुभवं पद्मम्, चूर्णकुन्तले हेमन्त-सुभवं नवकुन्दानुविद्धम्, आनने शिशिर-सूचिका-लोध्रपुष्पपरामेण इवेततां नीता शोभा, चूडापाशे वसन्तर्दुभवं नवकुरबकपुष्पम्, कर्णे सुन्दरं ग्रीष्मं शिरीष-पुष्पं, सीमन्ते च वर्षंतुभवं कदम्बपुष्पं विराजते ॥ २ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! जिस अलका में छहों ऋतुओं में होने वाले फूल सर्वदा स्त्रियों के अङ्गों में लगे रहते हैं । जैसे स्त्रियों के हाथ में शरदऋतु में होने वाला कमल है, धूंधराले बालों में हेमन्त ऋतु में होने वाले नवीन कुन्दों का गुम्फन है, मुँह पर शिशिरऋतु में होने वाले 'लोध्र' पुष्प के पराग से गौरवण्ठां को प्राप्त शोभा है, केश की गूँथी चोटी में वसन्तऋतु में होने वाले नये कुरबक के फूल हैं, कान में ग्रीष्म ऋतु में होने वाले सुन्दर शिरीष के फूल हैं और माँग में वर्षा ऋतु में होने वाले कदम्ब के पुष्प हैं ॥ २ ॥

समाप्तः—लीलायै कमलम् = लीलाकमलम् (चतु० तद०), बालानि कृन्दानि बालकुन्दानि (कर्म०) बालकुन्दानाम् अनुविद्धम् = बालकुन्दानुविद्धम् (ष० तद०) लोध्रस्य प्रसवाः = लोध्र-प्रसवाः (ष० तद०) लोध्र-प्रसवानां रजः = लोध्रप्रसवरजः (ष० तद०) तेन । नवच तद् कुरबकम्

नवकुरबकम् (कर्म०) । चूडानां पाशः—चूडापाशः (ष० तद०) तस्मिन् । सीमन्तः अन्तः सीमन्तः, (ष० तद०) तस्मिन् । तव उपगमः = त्वदुपगमः (ष० तद०) ।

कोशः—वधुर्जायास्तुषास्त्री च, इत्यमरः । सीमान्तम्-स्त्रियां मस्तकेश-वीर्यामुदाहृतम्, इति शब्दार्थः । वक्त्रास्ये वक्त्रं तुष्टमाननं लपनं मुखम् इत्यमरः । परायः सुमनोरजः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—अलकम्=यहाँ सप्तमी विभक्ति के नहीं होने से भगवप्रक्रम दोष है । शीघ्रप्रसवरजसा पाण्डुता—जिस तरह आजकल की वधुएं मुँह पर शोभा लाने के लिए “पाउडर” आदि का उपयोग करती हैं उसी तरह यक्ष के समय में भी स्त्रियाँ लोध्र-पुष्प के पराग का उपयोग करती थीं । लोध्र-पुष्प रक्त वर्ण का होता है और उसका पराग गौर वर्ण का होता है, अतः उसका उपयोग किया जाता रहा होगा । यहाँ “श्री” के प्रधान कर्म होने से कर्मवाच्य में “प्रधाने नीहृत्कृष्वहाम्” इस नियम के अनुसार प्रथमा विभक्ति हुई है एवं पाण्डुता के अप्रधान कर्म होने के कारण उससे द्वितीया विभक्ति हुई है । कुरबकम्—कुरबकस्य विकारम् कुरबकम्, उक्त विग्रह में पुष्पवाची “कुरबक” शब्द से “तस्य विकारः” इस सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ तो परन्तु उसका “पुष्पमूलेषु नहृलम्” इस सूत्र से लुक् हो गया “कुरबक” अपने प्रकृतिरूप में ही रह गया । सीमन्तः—सीमन्तः (केशस्य) अन्तः=सीमन्तः । यहाँ मांग के अर्थ में सीमन्त+अन्तः ऐसी स्थिति “शकन्छवादिषु पररूपं वाच्यम्” इस सूत्र से पररूप हुआ है, अन्य अर्थ में तु “सीमान्त” ऐसा प्रयोग होता है । त्वदुपगमजः=यहाँ युष्मद् के आगे “उपगम” यह उत्तर पद है अतः “प्रत्ययोत्तरपदयोश्च” इस सूत्र से युष्मद् के स्थान पर “त्वत्” आदेश हो गया है ।

अलकापूरी भोगस्थल है अतः उसमें छहों छतुओं के उपभोग्य फूल सर्वदा उपलब्ध रहते हैं, इस बात को प्रदर्शित करते हुए कवि ने उसका वर्णन किया है जैसे—शरद में कमल, कुन्द पुष्प हेमन्त में, कुरबक वसन्त में, लोध्रपुष्प शिशिर में, शिरीष पुष्प श्रीष्ठि में एवं कदम्ब के फूल वर्षाकृतु में होते हैं, परन्तु ये सभी फूल अलका की स्त्रियों के बज्जों में सर्वदा अलंकृत रहते हैं ॥ २ ॥

(यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपाः नित्यपुष्पाः
 हंसश्रेणीरचितरशनाः नित्यपद्मा नलिन्यः ।
 केकोटकण्ठा भवन-शिखिनो नित्यभास्वत्कलापा
 नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोद्वृत्तिरम्याः प्रदोषाः ११)

अन्वयः—यत्र, पादपाः, नित्यपुष्पाः, उन्मत्त-भ्रमरमुखराः, नलिन्यः, नित्यपद्माः, हंसश्रेणीरचितरशनाः, भवनशिखिनः, नित्यभास्वत्कलापाः, केकोटकण्ठाः प्रदोषाः, नित्यज्योत्स्नाः, प्रतिहततमोद्वृत्तिरम्याः ॥ १ ॥

व्याख्या—यत्र = अलकायाम्, पादपः = दृक्षाः, नित्यपुष्पाः = सदाकुसुम-शालिनः, अत एव उन्मत्तभ्रमरमुखराः = उत्कटषट्पदशब्दायमानाः, नलिन्यः = कमलिन्यः, नित्यपद्माः = अनवरतकमलाः, अत एव हंसश्रेणी-रचितरशनाः = हंसपङ्क्ति-विरचितमेललाः, भवनशिखिनः = गृहमयूराः नित्यभास्वत्कलापाः निरन्तरप्रकाशमानबहृः, केकोटकण्ठाः = स्ववाणीभिरुद्ग्रीवाः, प्रदोषाः = रात्रयः नित्य-ज्योत्स्नाः = अनवरत-चन्द्रिकाः, प्रतिहततमोद्वृत्तिरम्याः = विनष्टान्धकारत्वान्मनोहराश्च सन्ति ॥ १ ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस अलका में, पादपाः = दृक्ष, नित्यपुष्पाः = सदा फूलों से सम्पन्न, उन्मत्तभ्रमरमुखराः = मस्त भैरवों से शब्दायमान, नलिन्यः = कमल लताएँ, नित्यपद्माः = नित्य कमलों से युक्त, हंसश्रेणी-रचितरशनाः = हंस-पंक्तियों की करघनी बनाए अर्थात् हंस से परिवेष्टित (है), भवन-शिखिनः घर के (पालतू) मोर, नित्यभास्वत्कलापाः = सदा चमकनेवाले पंखों से युक्त, केकोटकण्ठाः = शब्द करते समय ऊपर की ओर गर्दन किये हुए हैं, प्रदोषाः = रात्रि, नित्यज्योत्स्नाः = अनवरत चाँदनी वाली, प्रतिहततमोद्वृत्तिरम्याः = अन्धकार-समूह को नष्ट कर देने के कारण भनोहर रहती हैं ।

भावार्थः—हे मेघ ! यस्यामलकायां पादपाः सर्वदा कुसुमपूर्णाः अत एव उन्मत्तमधुकरं शब्दायमानाः, पदिमन्यः सरतं कमलयुक्ताः, हंसश्रेणिभिः परि-

वेष्ठिता गृहवर्हिणः सततोज्ज्वलबहीः स्ववाणीभिरुदगतकण्ठः, एवं रात्रयश्च
निरवच्छिन्न चन्द्रिकोज्ज्वलाऽप्यसारितान्धकारप्रसरा रमणीयाश्च सन्ति ॥ १ ॥

हिन्दी — हे मेघ ! जिस अलका में वृक्ष नित्य फूलों से सम्पन्न, न कि केवल अपनी ही कृतुओं में, अतएव मदमस्त भौंरों से गुञ्जायमान रहते हैं, सदा कमलों से युक्त कमल-लताएं हंसपंक्ति से घिरी रहती हैं, घर के पालतू मयूर सदा चमकते हुए पूँछवाले अपनी वाणी बोलते समय गर्दन ऊँची करके रहते हैं, और रातें अनवरत ज्योत्स्नावाली अन्धकार के नष्ट हो जाने से, रमणीय रहती हैं ॥ १ ॥

समाप्तः—उन्मत्ताश्च ते भ्रमराः=उन्मत्तभ्रमराः (क० धा०) उन्मत्त-
भ्रमरैः मुखराः=उन्मत्तभ्रमरमुखराः (तृ० तद०) नित्यानि पदमानि यासां ताः
नित्यपदमा (बहु०) हंसानां श्रेणी=हंस-श्रेणी (ष० तद०), रचिता रशना
यासां ताः रचितरशनाः (बहु०) हंसश्रेणिभिः रचितरशनाः=हंसश्रेणी-रचित-
रशना (तृ० तद०) भवनेषु शिखिनः भवनशिखिनः (स० तद०), भास्वन्तः
कलापाः येषां ते=भास्वत्कलापाः (बहु०) नित्यं भास्वत-कलापाः=नित्य-
भास्वत्कलापाः (मुस्मुपेति समाप्तः) उन्नतः कण्ठः येषां ते=उत्कण्ठाः (बहु०),
केकाभिः उत्कण्ठाः=केकोत्कण्ठाः (तृ० तद०) । प्रकृष्टाः दोषाः येषां ते प्रदोषाः
(बहु०) । नित्या ज्योत्स्ना येषां ते नित्यज्योत्स्ना (बहु०) । तमसः वृत्तिः=
तमोवृत्तिः (ष० तद०) प्रतिहताः तमोवृत्तयः येषां ते प्रतिहततमो-वृत्तयः
(बहु०) प्रतिहततमोवृत्तयश्च ते रम्याः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः (क० धा०) ।

कोशः—वृक्षो महीरहः शाखी विटपी पादपस्तरुः इत्यमरः । केकावाणी-
मयूरस्य, इत्यमरः । प्रदोषो रजनी-मुखम्; इत्यमरः:

टिप्पणी-पादपः—पादैः पिबन्ति इस विश्रह में “पाद” उपपदपूर्वक
“पा” पाने धातु से आतोऽनुपसर्गे कः” इस सूत्र से “क” प्रत्यय करके
“पादपः” ऐसा शब्द निष्पन्न होता है । उन्मत्तः—“उद्” उपसर्गपूर्वक “मद्”
धातु से “क” प्रत्यय करके “उन्मत्तः” शब्द निष्पन्न होता है । मुखराः—

“मुखमस्थेषामिति” इस विग्रह में “मुख” शब्द से “रपकरणे मुखकुञ्जेभ्यः उपसंख्यानम्” इस वार्तिक से रपत्यय करके “मुखर” ऐसा रूप निष्पन्न होता है। शिखिनः—शिखा अस्थेषाम् इस विग्रह में “शिखा” शब्द से इन प्रत्यय करके “शिखिन्” ऐसा शब्दरूप निष्पन्न होता है, उसी के प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का उक्त रूप है। भास्वन्तः—भास धातु से भतुप् प्रत्यय करके उक्त रूप निष्पन्न किया जाता है। प्रदोषाः—यद्यपि “प्रदोष” गोधूलिवेला का नाम है क्योंकि कोश कहता है “प्रदोषो रजनी-मुखम्” परन्तु प्रकृति में यह लक्षणा से रात्रि का वाचक है। प्रतिहताः—“प्रति” उपसर्गंपूर्वक हिसार्थक “हन्” धातु से “क्त्” प्रत्यय करके स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् करके “प्रतिहता” शब्द निष्पन्न होता है। वृत्तिः—यहाँ वर्तनार्थक “वृत्” धातु से क्तिन् प्रत्यय किया गया है।

अलङ्कारः—प्रस्तुत श्लोक में कमलिनी में नादिकाभाव गम्य है पर “हंसश्रेणीरचितरशना” यहाँ हंस-श्रेणी में रशनात्व का आरोप किया गया है अतः एकदेशविवर्ति रूपक अलंकार हुआ। एवत्व अन्य पादपों से प्रस्तुत पद्म में वर्णित “पादप” वैशिष्ठ्य का वर्णन है, अतः व्यतिरेक एवं आर्थि परिसंख्या अलङ्कार है एवं इन अलङ्कारों के परस्पर निरपेक्षभाव से रहने के कारण “संसृष्टि” अलङ्कार है।

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्येनिमित्ते-

नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्ट-संयोगसाध्यात् ।

नाप्यन्यस्मात् प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-

वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥ २ ॥

अन्वयः—यत्र, वित्तेशानाम्, आनन्दोत्थम्, नयनसलिलम्, अन्यः: निमित्तः न इष्टसंयोगसाध्यात्, कुसुमशरजात्, अन्यः: तापः न, प्रणयकलहात्, अन्यस्मात् विप्रयोगोपपत्तिः, अपि न यौवनात्, अन्यत, वयः, वस्ति, खलु ।

व्याख्या—हे मेघ ! यत्र=अलकायाम्, वित्तेशानाम्=वित्ताद्विषयाना
यक्षाणामित्यर्थः, बानन्दोत्थम्=हृषोदभवम्, नयनसलिलम्=नेत्राम्बु, “अस्ति”
इति तु सर्वंत्र योज्यम्, अन्यैः=अपरः, निमित्तैः=हेतुभिः, न=नहि वर्तते ।
इष्टसंयोगसाध्यात्=प्रियसमागम-निवर्तनीयात्, कुमुशरजात्=कामोदभवात्,
अन्यैः=अपरः, तापः=संतापः, न नहि वर्तते । प्रणयकलहात्=प्रेम-(केलि)
विप्रहात्, अन्यस्मात्=अपरस्मात्, विप्रयोगोपपत्तिः=विश्लेषप्राप्तिः, अपि,
न=वर्तते; योवनात्=तारुण्यात्, अन्यत्=अपरम्, वयः=अवस्था न अस्ति=
न वर्तते, खलु=निश्चयेन ।

शब्दार्थः—यत्र=जिस अलका में, वित्तेशानाम्=यक्षों के, नयनसलिलम्=
नेत्रजल, अशु, बानन्दोत्थम्=हृषि से उत्पन्न हैं, अन्यैः=दूसरे, निमित्तैः=
कारणों से, न=नहीं, इष्टसंयोगसाध्यात्=प्रियजनों के समागम से दूर हो
सकनेवाले, कुमुशरजात्=काम से उत्पन्न, अन्यैः=भिन्न, तापः=संताप,
न=नहीं, प्रणयकलहात्=प्रणयकालिक झगड़े से, अन्यस्मात्=भिन्न (किसी
कारण से), विप्रयोगोपपत्तिः=विरह की प्राप्ति, न=नहीं है, योवनात्=
जवानी से, अन्यत्=भिन्न दूसरी, वयः=उम्र, न अस्ति=नहीं है, अर्थात्
इदावस्था नहीं है ।

भावार्थः—हे मेघ ! यस्यामलकायां यक्षाणां हर्षजन्यमेव नेत्राम्बु नान्य-
निमित्तोदभवम्, कामोत्पन्न एव सन्तापः नान्योदभवः, प्रणयकलहादेव विरह-
प्राप्तिनंतु अन्यस्मात् कारणात्, एवच तारुण्यादपरं वयः न वर्तते न तु वृद्धत्वा-
दिकमपि इति भावः ।

हिन्दी—हे मेघ ! जिस अलका में यक्षों को हर्षजन्य ही नेत्रजल (अशु)
निकलते हैं न किसी और कारणों से, प्रियजन-समागम से दूर होनेवाला काम
से ही उत्पन्न संताप है न कि किसी और कारणों से, प्रणयकलह के कारण ही
वियोग की प्राप्ति होती है न कि किसी और कारण से, और जवानी ही एक
अवस्था है दूसरी कोई अवस्था (उम्र) नहीं ।

समाप्तः—वित्तेशानाम् ईशः=वित्तेशः (ष० तद०) तेषाम् । नयनयोः
सलिलम् नयनसलिलम् (ष० तद०) इष्टैः संयोगः=इष्टसंयोगः (तृ० तद०)

इष्टसंयोगेन साध्यः—इष्टसंयोगसाध्यः (तृ० तद०) तस्मात् । कुसुमान्येक
शराः—कुसुमशराः (रूपक क०) अथवा कुसुमान्येव शराः यस्य सः कुसुमशरः
(बह०) तस्माज्जातः कुसुमशरजः (ष० तद०) तस्मात् । विप्रयोगस्य
उपपत्तिः—विप्रयोगोपपत्तिः (ष० तद०) ।

कोशः—वित्ताधिपः कुबेरः स्थात् प्रभी ब्रह्मिकपक्षयोः, इति शब्दार्थं ।
निमित्तं हेतुलक्ष्मयोः, इत्यमरः । कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेत्प्रिसतम्,
इत्यमरः । पुष्पधन्वा रतिपतिः मकरध्वजः आत्मभूः, इत्यमरः ।

टिष्णी—इष्टः—इच्छा अर्थ में विद्यमान “इष्ट” धातु से “क्त” प्रत्यय
करके “इष्ट” शब्द निष्पक्ष होता है । कुसुमशरजात्—यहाँ “अन्य” के
योग होने से “अन्यारादितरते दिवशब्दाऽचूतरपदाजाहियुक्ते” इस सूत्र से
पञ्चमी विभक्ति हुई है । विप्रयोगः—“वि” एवं “प्र” उपसर्गंपूर्वक योगार्थक
“युज्” धातु से “घब्” प्रत्यय करके विप्रयोग शब्द बनता है । उपपत्तिः—
“उप” उपसर्गंपूर्वक गत्यार्थक “पद” धातु से भाव में “क्विन्” प्रत्यय करके
“उपपत्ति” शब्द निष्पक्ष होता है । यौवनम्—यूनो भावः इस विग्रह में
“युवन्” शब्द से “हायनाऽन्तयुवादिस्थोऽण्” इस सूत्र से “अण” प्रत्यय करके
आदिवृद्धि करके “यौवनम्” शब्द बनता है ॥

अलङ्कारः—“परिसंख्या निषिद्धैकमन्यस्मिन्वस्तुयन्त्रणम्” चन्द्रालोक के
इस नियम के अनुसार यहाँ ‘परिसंख्या’ अलङ्कार है, क्योंकि इस श्लोक में
बांसु आदि का शोकादि में निषेध कर हर्षादि में नियन्त्रण किया गया है ।

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हम्यस्थलानि

ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।

आसेवन्ते मधुरतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं

त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ ३ ॥

अन्वयः—यस्याम्, यक्षाः, उत्तमस्त्रीसहायाः, सितमणिमयानि, ज्योतिश्छाया

कुसुमरचितानि हम्यस्थलानि एत्य, त्वदगम्भीररघवनिषु, पुष्करेषु, शनकैः,
आहतेषु कल्पवृक्षप्रसूतम्, रतिफलम्, मधु, आसेवन्ते ॥ ३ ॥

व्याख्या—यस्याम् = यत्रालकायाम्, यक्षाः = देवयोनिविशेषधनाद्विपाः,
उत्तमस्त्रीसहायाः = मनोज्ञ-वनितासहचराः, (सन्तः), सितमणिमयानि =
स्फटिकमणिनिर्मितानि, ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि = नक्षत्रप्रतिबिम्ब-रूपपुष्प-
परिष्कृतानि, हम्यस्थलानि = सौघ-शिखराणि, एत्य = गत्वा, त्वदगम्भीररघवनिषु
= मेघगम्भीरस्तनितेषु, पुष्करेषु = वाद्यपात्रमुखेषु, शनकैः = मन्दम्, आहतेषु =
सुताडितेषु, (सत्सु), कल्पवृक्षप्रसूतम् = सुरतरुजातम्, रतिफलम् = एतन्नामकं
फलम्, मधु = मद्यम्, आसेवन्ते = पिवन्ति ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—यस्याम् = जिस अलका नगरी में, यक्षाः = यक्षगण, उत्तमस्त्री-
सहायाः = रमणीय स्त्रियों के साथ, सितमणिमयानि = स्फटिक मणि से खचित,
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि = नक्षत्रों के प्रतिबिम्ब रूप फूलों से सजाये गये,
हम्यस्थलानि = महलों की अटारियों पर, एत्य = जाकर, त्वदगम्भीररघवनिषु =
तुम्हारे समान गम्भीर शब्द वाले, पुष्करेषु = नगाढ़ों के, शनकैः = धीरे-धीरे,
आहतेषु = बजाये जाने पर, कल्पवृक्षप्रसूतम् = कल्पवृक्ष से उत्पन्न, रतिफलम् =
रतिफल नाम की, मधु = मदिरा का, सेवन्ते = सेवन करते हैं, अर्थात् पीते
हैं ॥ ३ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! यस्यामलकायां यक्षाः स्फटिकमणिनिर्मितानि नक्षत्र-
प्रतिबिम्ब-रूपैः पुष्पैः सज्जीकृतानि सौघशिखराण्येत्य त्वदगम्भीररघवनिषु वाद्य-
भाष्टेषु शनैः शनैः प्रताडितेषु कल्पवृक्षोत्पन्नं रतिफलनामकं मद्यमासेवन्ते ॥ ३ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! जिस अलका नगरी में यक्षगण रमणीय रमणियों के
साथ स्फटिकमणि से खचित, तारों के प्रतिबिम्बरूपी फूलों से सजाये गये
महलों की अटारियों पर जाकर तुम्हारी तरह गम्भीर शब्द वाले नगाढ़ों के
धीमे-धीमे बजाये जाने पर कल्पवृक्ष से निकले रतिफल नामक मदिरा का
सेवन करते हैं ॥ ३ ॥

समासः—उत्तमाश्र ताः स्त्रियः=उत्तमस्त्रियः (कन्याः) उत्तमस्त्रियः सहायाः येषान्ते उत्तमस्त्रीसहायाः (बहु०) सिताश्र ते मणयः=सितमणयः (कमं०) सितमणिभिः प्रकृतानि=सितमणिमयानि (तृ० तद०) । ज्योतिषां छायाः=ज्योतिश्छायाः (ष० तद०), ता एव कुसुमानि=ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि कुसुमानि (क० धा० रूपक०) तैः रचितानि=ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि (तृ० तद०) । हम्र्याणां स्थलानि=हम्र्यस्थलानि (ष० तद०) । कल्पबृक्षात्प्रसूतम् (ष० त०) ।

कोशः—कुबेरस्त्वयम्बकसखो यक्षराद्गुह्यकेश्वरः, इत्यमरः । ज्योतिस्तारान्निभाजवाला दृप्तुत्रार्यांष्वरात्मसु, इति वैजयन्ती । पुष्करं करिहस्ताप्रे वाद्यभाण्डमुखे जले, इत्यमरः ।

टिप्पणी—उत्तमस्त्रीसहायाः—समासस्थल में इसका विग्रह उत्तमाश्र ताः स्त्रियः ऐसा विग्रह होता है वहाँ कर्मधारय समास होकर “पुंवदकर्मधारय जातीयदेशीयेषु” इस सूत्र से उत्तमा को पुंवदभाव “उत्तम” ऐसा हो गया और पुनः बहुत्रीहि समास कर उत्तम-स्त्रीसहाया: बनाया जाता है । सितमणिमयानि—यहाँ सितमणि शब्द से नाभि प्रकृतानि इस विग्रह में “तत्प्रकृतवचने भयद्” इस सूत्र से भयद् प्रत्यय किया गया है । एत्य—गत्यथंक इण् धातु से कृत्वा प्रत्यय करके उसके स्थान पर ल्यप् करके “एत्य” ऐसा रूप बनता है । आहतेषु—“आङ्” उपसर्गपूर्वक “हन्” धातु से “अ॒” प्रत्यय करके आहत ऐसा बनता है, यह रूप इसी शब्द की स० वि० के बहुवचन का है । आसेवन्ते—“आङ्” उपसर्गपूर्वक “सेव” धातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन का यह रूप है, यह धातु आत्मनेपदी है ।

अलङ्कारः—यहाँ यक्षों का (महापुरुषों का) एवं अलौकिक ऐश्वर्यं का भी वर्णन है, अतएव “उदात्त” अलङ्कार है । “ज्योतिश्छायाकुसुमरचितानि” यहाँ “रूपक” है । “त्वदमम्बीरष्वनिषु” यहाँ “लूपमा” है । एवं तीनों अलङ्कारों की सत्ता निरपेक्षभाव से है अतः “संसृष्टि” अलङ्कार है ॥ ३ ॥

मन्दाकिन्याः सलिल-शिशिरैः सेव्यमानामरुद्धि-
मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारि-तोष्णाः ।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकता—मुष्ठि—निक्षेपगूडैः
संक्रीडन्ते मणिभिरभर-प्रायिता यत्र कन्याः ॥४॥

अन्वयः—यत्र, अभर-प्रायिताः, कन्याः, मन्दाकिन्याः, सलिलशिशिरैः, मरुदिभः, सेव्यमानाः, अनुतटरुहाम्, मन्दाराणाम् छायया, वारितोष्णाः, कनक-सिकतामुष्ठिनिक्षेपगूडैः, अन्वेष्टव्यैः, मणिभिः, संक्रीडन्ते ॥ ४ ॥

व्याख्या—यत्र = अलकायाम्, अभर-प्रायिताः = देवभिलषिताः, कन्याः = यक्षकुमार्याँ, मन्दाकिन्याः = स्वर्णज्ञायाः, सलिलशिशिरैः = तोयशीतलैः, मरुद्धि = पवनैः, सेव्यमानाः = सेविताः, अनुतटरुहाम् = उपकूलोदध्वानाम्, मन्दाराणाम् = मन्दारवृक्षाणाम्, छायया = अनातपेन, वारितोष्णाः = दूरीकृताऽतपाः [सत्यः], कनकसिकतामुष्ठिनिक्षेपगूडैः = स्वर्णवालुकामुष्ठिप्रक्षेपगुप्तैः, अत एव अन्वेष्टव्यैः = गवेषणीयैः, मणिभिः = रत्नैः, संक्रीडन्ते = सम्प्रक्रीडन्ति ॥५॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस अलका में, अभर-प्रायिताः = देवताओं की अभिलषित, कन्याः = यक्षकुमारियाँ, मन्दाकिन्याः = आकाशगङ्गा के, सलिल-शिशिरैः = जल से शीतल, मरुदिभः = पवनों से, सेव्यमानः = सेवित, अनुतटरुहाम् = किनारों पर उत्पन्न, मन्दाराणाम् = मन्दारवृक्षों की, छायया = छाया से, वारितोष्णाः = जिनकी धूप दूर कर दी है (ऐसी वे यक्षकुमारियाँ) कनक-सिकता-मुष्ठि-निक्षेप-गूडैः = स्वर्ण की बालू में मुट्ठी रखकर छुपाई गयी, अत एव, अन्वेष्टव्यैः = खोजने योग्य (जिन्हें खोजना पड़े) ऐसे, मणिभिः = मणियों से, संक्रीडन्ते = अच्छी तरह बेलती हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे मेष ! यत्रालकार्यां देवयाचिताः आकाशगङ्गायाः जलशीतलैः पवनैरासेव्यमानाः तीरोत्पन्नमन्दारवृक्षाणां छाययाऽप्सारिताऽतपाः यक्षकुमार्याँ स्वर्णवालुकामुष्ठि-प्रक्षेपगुप्तैः अन्वेष्टव्यैः रत्नैः संक्रीडन्ते ।

हिन्दी—हे मेष ! जिस अलका में, देवताओं से याचित, आकाशगङ्गा के

जल से शीतल पवनों से सेवित, तीर पर उत्पन्न मन्दार वृक्षों की छाया से जिनकी धूप दूर कर दी गयी है, ऐसी यक्षकुमारियाँ सोने के बालुओं में मुट्ठी बांधकर छिपायी गयी एवं जिसे खोजना पड़ता है ऐसी मणियों से अच्छी तरह खेलती हैं।

समाप्तः—अमरैः प्रायिताः=अमरग्रायिताः (तृ० तद्) । सलिलेन शिशिराः=सलिलशिशिराः (तृ० तद्) । तटे इति अनुतटम् (विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः) । अनुतटं रोहन्तीति अनुतटरहः (उपपद०) तेषाम् कनकस्य सिकताः=कनकसिकताः (४० तद०) मुष्टिभिन्निक्षेपः=मुष्टिनिक्षेपः (तृ० तद०), कनकसिकतासु मुष्टिनिक्षेपः=कनकसिकता-मुष्टिनिक्षेपः (स० तद०) कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपेण गूढाः=कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढाः (तृ० तद०) । वारितो उष्णो यासां ताः वारितोष्णाः (बहु०) ।

कोशः—कन्या कुमारिका नार्यः, इति विश्वः । रत्नादिभिर्बालुकादो गुरुत्वै-द्रृष्टव्यकर्मभिः । कुमारिभिः कृता क्रीडा नाम्ना गुसमणिः स्मृता । इति दशार्थेः । **मन्दाकिनी वियदगङ्गा स्वर्णंदी सुरदोषिका, इत्यमरः ।**

टिप्पणी—प्रायिताः—“प्र” उपसर्गपूर्वक णिजन्त “आयि” धातु से “क्त” प्रत्यय करके “प्रायित” शब्द बनता है, स्त्रीत्व विवक्षा में “टाप्” करके “प्रायिता” ऐसा बनता है । **अनुतटरहाम्—**यहाँ ‘अनुतट’ उपपदपूर्वक “रह” धातु से क्रिप् प्रत्यय किया गया है और उसका सर्वापहारीलोप हो गया है । इसका पाठान्तर “तटवनरहाम्” ऐसा भी मिलता है । इन्द्र के नन्दनबन के पाँच वृक्षों में मन्दार भी एक वृक्ष है । पञ्चते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः । सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥ इत्यमरः । **वारिताः—**णिजन्त “वारि” धातु से “क्त” प्रत्यय करके स्त्रीत्वविवक्षा में “टाप्” करके बहुवचन में ऐसा रूप निष्पन्न होता है । गूढाः—“गुह्” धातु से “क्त” प्रत्यय करके उत्त्वादिक करके “द्वूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः” इस सूत्र से धातु के उकार को दीर्घ करके “स्त्रीत्वविवक्षा में “टाप्” करके बहुवचन में “गूढाः” ऐसा रूप बनाया जाता है । **अन्वेष्टव्यै—**“अनु” उपसर्गक “इ॒ष्” धातु से “तव्यत्” प्रत्यय

करके “अन्वेष्टव्य” रूप बनता है, तृतीया विभक्ति का उक्त रूप है। संक्रीडन्ते-सम उपसर्गपूर्वक “क्रीड़” धातु के प्रथमपुण्य के बहुवचन का यह रूप है। यहाँ “क्रीडोऽनुसंपरिष्यत्वा” इस सूत्र से आत्मनेपद हुआ है।

अलङ्कारः—यहाँ अद्भुत ऐश्वर्य का वर्णन है अतः “उदात्त” अलङ्कार है ॥

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र विम्बाधराणां

क्षीमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।

अर्चिस्तुङ्गनभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्

हीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्ण-मुष्ठिः ॥ ५ ॥

अन्वयः—यत्र, अनिभृतकरेषु, प्रियेषु नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलम्, क्षीमम्, रागात् आक्षिपत्सु, हीमूढानाम्, विम्बाधराणाम्, चूर्णमुष्ठिः, अर्चिस्तुङ्गान्, रत्नप्रदीपान्, अभिमुखम्, प्राप्य, अपि, विफलप्रेरणा, भवति ।

व्याख्या—(हे मेघ !) यत्र = यस्मामलकायाम्, अनिभृतकरेषु = चपल-हस्तेषु, प्रियेषु = वल्लभेषु, नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलम् = वसनग्रन्थित्रुटित-शिथिलम्, क्षीमम् = दुकूलम्, रागात् = कामाऽविक्षयात्, आक्षिपत्सु (सत्सु) हीमूढानाम् = लज्जाविमुखाणाम्, विम्बाधराणाम् = वनिता-विशेषाणाम्, चूर्ण-मुष्ठिः = मुष्ठिगृहीतकुमादिवूलिः, अर्चिस्तुङ्गान् = मयूखोन्नतान्, रत्नप्रदीपान्, मणिदीपान्, अभिमुखम् = सम्मुखम्, प्राप्य अपि, गत्वा अपि, विफलप्रेरणा = निष्फलवेगा, भवति = वर्तते ।

शब्दार्थः—(हे मेघ !) यत्र = जिस अलका में, अनिभृतकरेषु = चच्चलहाथ चरणे, प्रियेषु = प्रियतमों के (द्वारा) नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलम् = नीवीबन्ध के टूट जाने के कारण शिथिल, क्षीमम् = साढ़ी को, रागात् = कामाऽवेश के कारण, आक्षिपत्सु = खींचने का, हीमूढानाम् = लज्जा से विमूढ, विम्बाधराणाम् = विम्ब फल के समान होंठवाली स्त्री-विशेषों के, चूर्णमुष्ठिः = कुंकुमादि-चूर्ण की मुट्ठी, अर्चिस्तुङ्गान् = ऊंची किरणोंवाले, रत्नप्रदीपान् = मणिदीपों के

पास, प्राप्य अपि = पहुँचकर भी, विफलप्रेरणा = निष्फल वेगवाली; भवति = हो जाती है। अर्थात् उनका फेंकना बेकार हो जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थः— हे मेघ ! यस्यामलकायां चच्चलहस्तेषु बल्लभेषु नीवीबन्धव्रुटिट
शिथिलं दुकूलं कामाऽवेशात् आहरम् लज्जाविमूढानां विम्बाधराणां कुंकुमादि-
चूर्णमुष्ठिः मयूखोन्नतान् रत्नदीपान् प्राप्य अपि निष्फलवेगा भवति ॥

हिन्दी— हे मेघ ! जिस अलका के चच्चल हाथों वाले प्रियतमों के द्वारा
नीवीबन्ध के दूट जाने के कारण शिथिल साड़ी को कामाऽवेश से खींचने पर
लज्जा से ठगी विम्बाधरियों की कुंकुमादि की मुट्ठी ऊँची किरणोंवाले मणिदीप
के पास पहुँचकर भी बेकार चली जाती है ॥ ५ ॥

समाप्तः= न निभृताः=अनिभृताः (नव०) अनिभृताः कराः येषान्ते
अनिभृतकराः (बह०) तेषु । हिया मूढाः=हीमूढाः (तृ० तद०) विम्बम् इव
अधरो यासां ताः विम्बाधरा : (बह०) तासाम् । चूर्णस्य मुष्ठिः=चूर्णमुष्ठिः
(ष० तद०) अर्चिभिः तुङ्गाः=अचिस्तुङ्गाः (तृ० तद०) तान् । रत्नान्येव
प्रदीपाः रत्नप्रदीपाः (रूपकः) तान्, विगतं फलं यस्याः सा = विफलाः (बह०)
विफला प्रेरणा यस्याः सा विफलप्रेरणा (बह०) ।

कोशः— नीवी परिपणे ग्रन्थो स्त्रीणां जघनवाससि, इति विश्वः । विम्बं
फले विम्बिकायाः प्रतिविम्बे च मण्डले, इति विश्वः । विशेषाः कामिनी कान्ता
भीर्विम्बाधराङ्गनाः, इति शब्दाण्डं । अर्चिमैयूर-वह्निशिखयोः, इति विश्वः ।
मन्दाकं स्त्रीस्त्रपा ब्रीडा लज्जा सा, इत्यमरः ॥

टिप्पणी—निभृतः— “नि” उपसर्गपूर्वक “भृ” आतु से “क्त” प्रत्यय
करके “निभृत” ऐसा रूप बनता है। उच्छ्वसित—“उद्” उपसर्गपूर्वक
“इवस्” आव में क्त प्रत्यय करके उच्छ्वसित बनता है। नीवीबन्धः—“नीवी”
शब्द का अर्थ ही स्त्रियों की साड़ी का “बन्ध” है, पुनः “बन्ध” शब्द का प्रयोग
ष० तद० समाप्त न करके रूपक समाप्त किया है। विम्बाधरा—यहाँ अधर
शब्द स्वाङ्गवाची है अतः “स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्” इस सूत्र से झीख होना चाहिए

या परन्तु अधर शब्द के बहुत अच्चाला होने के कारण “न क्रीडादिवह्वचः” इस सूत्र से निषेध हो गया—टाप् हो गया है। प्राप्य—“प्र” उपसर्गपूर्वक आप (ल) धातु से क्त्वा प्रत्यय करके उसके स्थान पर ल्यप् करके “प्राप्य” ऐसा रूप बनता है। प्रस्तुत श्लोक में वर्णित विम्बाद्वरिर्याँ “मुग्धा” जान पड़ती हैं क्योंकि पतिद्वारा साड़ी स्त्रीचे जाने पर नगनता के कारण उत्पन्न लज्जा से किंतुव्यविमूढ होकर रत्नप्रदीप पर जिसकी किरणें बुझ नहीं सकतीं उस पर चूर्णमुष्टि का प्रेक्षण करती है, जो निष्फल है, क्योंकि उस दीप पर पड़कर भी वह धूलि नीचे गिर जाती हैं, प्रकाश पूर्ववत् रह जाता है, अतः वे मुग्धा हैं।

अलङ्कारः—प्रस्तुत पद्म में चूर्णमुष्टि-प्रक्षेप रूप कारण के रहने पर रत्न-प्रदीप के दुःखने रूप (कल) कार्य के न होने से “विशेषोक्ति” अलङ्कार है। “विम्बाद्वराणाम्” यहाँ सामान्यवाचक पद के न रहने के कारण “लूपमा” है। इस तरह दोनों के परस्पर अङ्गाङ्गभावतया रहने के कारण “संकर” नामक अलंकार है ॥ ५ ॥

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमि-
रालेख्यानां स्वजलकणिका-दोषमुत्पाद्य सद्यः ।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वाहशा जालमार्गे-
धूमोदगारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥ ६ ॥

अन्वयः—(हे मेघ !) नेत्रा, सततगतिना, यद्विमानाग्रभूमीः, नीताः, त्वादूशाः, जलमुचः, आलेख्यानाम्, स्वजलकणिकादोषम्, उत्पाद्य, सद्यः, शङ्कास्पृष्टा, इव, धूमोदगारानुकृतिनिपुणाः, जर्जरा:, जालमार्गः, निष्पतन्ति ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) नेत्रा = नायकेन, सततगतिना = अनवरतगतिना पवनेनेत्यर्थः, यद्विमानाग्रभूमीः=यत्र सप्तभूमिकभवनप्रासादोपरिसूचिका, नीताः = प्रापिता, त्वादूशाः=त्वत् समानाः, जललवमुचः=मेघाः, आलेख्यानाम् = चित्राणाम्, स्वजलकणिकादोषम् = निजतोयलवसंस्पर्शदोषम्, उत्पाद्य = सम्पाद्य, सद्यः = तत्काणे, शङ्कास्पृष्टा इव = भीतभीता इव, धूमोदगारानुकृतिनिपुणाः=

वूमनिगमानुकरणदश्मा:, जर्जराः=शीर्णाः, (सन्तः) जालमार्गः=गवाक्षी:, निष्पतन्ति = निशंच्छन्ति ॥

शब्दार्थः—(हे मेघ !) नेत्रा = प्रेरक, सततगतिना = निरन्तरगतिवाले (वायु) के द्वारा, यद्विमानाग्रभूमीः=सात मंजिलवाले भवनों की अटारियों पर, नीताः=ले जाये गये, त्वादृशाः=तुम्हारे समान, जललवमुचः=मेघगण, जालेख्यानाम्=चित्रों को, स्वजलकणिकादोषम्=अपने जलकणों के संसर्ग से दूषित, प्राप्य = करके, शंकास्पृष्टाः इव = भयभीत से (होकर), धूमोदगाराऽनुकृतिनिपुणाः=धुआँ उगलने का अनुकरण करने में चतुर, जर्जराः=छिन्न-भिन्न (होकर), जालमार्गः=खिड़कियों के मार्ग से, निष्पतन्ति = निकलते हैं ।

भावार्थः—यत्र त्वादृशाः मेघाः प्रेरकेण वायुना सप्तभूमिकभवनप्रासादोपरि नीताः चित्रान् निजजललवसंस्पर्शः दूषयित्वा सद्यः भयर्भीता इव धूमोदगीर्णानुकरणचतुराः जीर्णाः सन्तः गवाक्षमार्गः निष्पतन्ति ।

हिन्दी—हे मेघ ! जिस अलका में अपने प्रेरक वायु के द्वारा सतमंजिले भवनों के ऊपरी भाग पर ले जाये गये तुम्हारे समान मेघ, अपने जलकणों से चित्रों को दूषित कर भयभीत से होकर धूए निकलने का अनुकरण करने में चतुर छिन्न-भिन्न होकर खिड़की के मार्ग से निकलते हैं ।

समासः—सततं गतिर्यस्य सः सततगतिः (बहू०) तेन । यस्याः विमानानि = यद्विमानाति (ष० तद०) अग्राश्च ताः भूमयः=अग्रभूमयः (कर्मधा०) यद्विमानानां अग्रभूमयः=यद्विमानाग्रभूमीः (ष० तद०) । जलं मुच्चन्तीति=जलमुक् (उपपद०) तस्य । स्वस्य जलम्=स्वजलम् (ष० तद०) । स्वजलस्य कणिका=स्वजलकणिका (ष० तद०) ताभिः दोषः=स्वजलकणिकादोषः (तृ० तद०) तम् । शङ्क्षया स्पृष्टाः=शङ्क्षास्पृष्टाः (तृ० तद०) । धूमस्य उदगारः=धूमोदगारः (ष० तद०), तस्य अनुकृतिः=धूमोदगाराऽनुकृतिः (ष० तद०) तस्यां निपुणाः=धूमोदगाराऽनुकृति-निपुणाः (स० तद०) । जालानां भाग्यः=जालमार्गः (ष० तद०) तैः ।

कोशः—मातरिश्वा सदागतिः, इत्यमरः । चित्रं लिखितरूपाद्यं स्यादा-
लेष्यं तु यत्नतः, इति शब्दार्थवः । शङ्कावितकंभययोः, इति शब्दार्थवः । सत्त्वः
सपदि तत्क्षणे, इत्यमरः ।

टिप्पञ्ची—नेत्रा—नयतीति नेता प्रापणार्थक् ‘नी’ धातु से तृच् प्रत्यय
करके “अप्तृनतृच्” आदि सूत्र से अनङ् आदि करके उपधारीष्ठं करके “नेत्रा”
शब्द व्युत्पन्न होता है । उक्तरूप तृतीया विभक्ति के एकवचन का है ।

नीताः—“नी” धातु से “क्त” प्रत्यय का विद्वान् होने पर निष्पन्न
होता है ।

त्वादृशाः—त्वमिव पश्यन्ति इस विग्रहमें “युष्मद्” शब्द से “त्यदादिषु”
“दूशोऽनालोचने कव च” इस सूत्र से “कव्” प्रत्यय हुआ “अ” बचा एवं
“आसर्वनामनः” इस सूत्र से युष्मद् को आकारान्तादेश हुआ तब “त्वादृश” शब्द
बना है, बहुवचन में त्वादृशाः ऐसा प्रयोग होता है । उत्पाद्य—“उद्” उपसर्व-
पूर्वक पिजन्त “पादि” धातु से कवता प्रत्यय करके उसके स्थान पर ल्यप् करके
“उत्पाद्य” ऐसा बनता है । उद्गारः—“उद्” उपसर्वपूर्वक निगरणार्थक “ग्”
धातु से भाव में “घव्” प्रत्यय तथा वृद्धादि करके “उद्गार” शब्द निष्पन्न
होता है । धूमोद्गाराज्ञुक्तिनिपुणः—अनुकृतौ निपुणः यहाँ “साम्नु-
निपुणाभ्यामचायां सप्तम्यप्रतेः” इस सूत्र से सप्तमी विभक्ति का विद्वान् हुआ ।
पञ्चात् “सप्तमी शौण्डः” इस सूत्र से सप्तमी तत् पु० समाप्त हुआ है ।

जालमार्गः—यहाँ “यन्त्रजालै” ऐसा पाठ भी कहीं-कहीं मिलता है वहाँ
यन्त्रनिर्मितानि जालानि ऐसा मध्यमपदलोपी समाप्त समझना चाहिए ।
निष्पत्तिः—“निस्” उपसर्वपूर्वक “पत” धातु के लट्टकार के प्रथमपुरुष के
बहुवचन का उक्त रूप है ।

अलङ्कारः—इस श्लोक में “शङ्कास्पृष्टा इव” इस स्थल में उत्प्रेक्षा
अलङ्कार है । महामहोपाध्याय श्री मल्लिनाथजी ने इस श्लोक के द्वारा “जिस
तरह कोई जार पुरुष अन्तःपुर के दूत द्वारा चुराकर अन्तःपुर पहुँचा दिया जाता
है और वह जार वहाँ स्त्रियों को दूषित कर पीछे पकड़े जाने के भय से किसी

चोर दरवाजे से निकल भागता है वैसे यहाँ भी भेद छूआँ-सा रूप बनाकर खिड़की के रास्ते निकल भागते हैं' इस प्रकार की छवि का प्रतिपादन किया है ॥ ६ ॥

अत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छवासिताना-
मङ्गलानि सुरतजनितां तनुजालावलम्बाः ।
त्वत्संरोधापगम — विशदैश्चन्द्रपादैनिशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥ ७ ॥

अन्वयः—यत्र, निशीथे, त्वत्संरोधापगमविशदैः, चन्द्रपादैः, स्फुटजल-
लवस्यन्दिनः, तनुजालावलम्बाः, चन्द्रकान्ताः, प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छवासिता-
नाम्, स्त्रीणाम्, सुरतजनिताम्, अङ्गलानिम्, व्यालुम्पन्ति ।

व्याख्या—यत्र = यस्यामलकायाम्, निशीथे = रात्रि, त्वत्संरोधापगम-
विशदैः = मेधावरणापगमतिमलैः, चन्द्रपादैः = हिमांशु-किरणैः, स्फुटजललव-
स्यन्दिनः = व्यक्ततोयकण स्त्राविणः, तनुजालावलम्बाः = सूत्रसमूहाधाराः;
वितानाधों भागः इति शेषः । चन्द्रकान्ताः = चन्द्रकान्तमण्यः, प्रियतमभुजालि-
लिङ्गनोच्छवासितानाम् = वल्लभाह्नाश्लेषशिथिलीकृतानाम्, स्त्रीणाम् =
वनितानाम्, सुरतजनिताम् = सम्भोगोत्पन्नाम्, अङ्गलानिम् = शरीरपीडाम्,
व्यालुम्पन्ति = दूरीकुर्वन्ति ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस अकाल में, निशीथे=रात्रि में, त्वत्संरोधापगम-
विशदैः=तुम्हारी रुकावट हट जाने के कारण स्वच्छ, चन्द्रपादैः=चन्द्रमा की
किरणों के द्वारा, स्फुट-जललवस्यन्दिनः=स्फुटजल-कणों को टपकाने वाली,
तनुजालावलम्बाः = सूत्रसमूह की झालरों से लटकती हुई, चन्द्रकान्ताः =
चन्द्रकान्तमणि, प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छवासितानाम्=प्रियतमों की भुजाओं के
आलिगन से शिथिल, स्त्रीणाम्=स्त्रियों को, सुरत-जनिताम्=संभोग से उत्पन्न,
अङ्गलानिम्=अंगों की पीड़ा को, व्यालुम्पन्ति = दूर करती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः—हे भेद ! यस्यामलकायां रात्रि त्वदावरण-विहरेण निर्मकैः

चन्द्रमयूखैः स्पष्टजललव-साविणः सूत्रमूहनिमितजाला-धारिताश्चन्द्रकान्त-
मणयः दयितबाह्वालिङ्गनशिथिलानां वनितानां संभोगोत्पन्नां शरीरपीडामपा-
कुवंन्ति ॥ ७ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! जिस अलका में रात्रि में तुम्हारी रुकावट के न रहने
के कारण निमंल चन्द्रमा की किरणों से (किरणों के सम्पर्क से) स्पष्टजल-कण
को टपकानेवाली झालरियों में लटकी हुई चन्द्रकान्तमणियाँ, प्रियतम की
भूजाओं के आलिगन से शिथिल स्थिर्यों की, सम्मोग से उत्पन्न अंगों की, पीड़ा
को दूर करती है ॥ ७ ॥

समासः—तद संरोधः=त्वत्संरोधः (ष० तद०) तस्य अपगमः=त्वत्संरो-
धापगमः (ष० तद०) तेन विशदः=त्वत्संरोधापगमविशदः (त३० त०) तैः ६
चन्द्रस्य पादाः=चन्द्रपादाः (ष० तद०) तैः । जलस्य लवाः=जललवाः
(ष० तद०) स्फुटाश्च ते जललवाः स्फुटजललवाः (कर्म०) तान् स्यन्दन्ते
तच्छीलाः इति स्फुटजलवस्यन्दिनः (उपप०), प्रियतमानां भूजा प्रियतमभूजाः
(ष० तद०) तैः आलिङ्गितानि=प्रियतमभूजाऽलिङ्गितानि (त३० तद०)
उदगताः श्वासाः यासां ताः=उच्छ्वासाः (बह०) प्रियतमभूजाऽलिङ्गनेन
उच्छ्वसिताः=प्रियतम-भूजाऽलिङ्गनोच्छ्वसिता (त३० तद०) तासाम् ।
सुरतेन जनिताम्=सुरतजनिताम् (त३० तद०) ।

कोशः—अर्धरात्रं निशीथो द्वौ, इत्यमरः, पादारश्म्यङ्गतुर्यशाः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—संरोधः—“सम्” उपसर्गंपूर्वक आवरणाथंक “रुध्” धातु
से ‘धव्’ प्रत्यय करके “संरोध” ऐसा निष्पन्न किया जाता है । अपगमः—
“अप्” उपसर्गंपूर्वक गत्यथंक “गम्” धातुसे ‘अप्’ प्रत्यय करके “अपगमः” ऐसा
बनाया जाता है । स्यन्दिनः—“स्यन्द” धातु से ताच्छील्य अर्थं में जिनि प्रत्यय
करके “स्यन्दिन्” ऐसा रूप निष्पन्न होता है । उक्त रूप बहुत विभक्ति के
एकवचन का है । प्रिया—प्रीणन्ति इति, इस विग्रह में “प्री” धातु से “क”
प्रत्यय करके “प्रिय” शब्द निष्पन्न होता है । प्रियतमा—अतिशयेन प्रियाः
प्रियतमाः यहाँ “प्रिय” शब्द से “अतिशयेन तमविष्टनी” इस सूत्र से “तमप्”

प्रत्यय होता है। उच्छ्वासिताः—“उद्” उपसर्गपूर्वक जिजन्त “इवासि” धातु से “तत्करोति तदाचष्टे” इस मूत्र से “क्त” प्रत्यय हुआ है एवं स्त्रीत्व-विवक्षा में टाप करके “उच्छ्वासिता” ऐसा रूप निष्पन्न किया जाता है। रलानिः—हर्षजयार्थक “रले” धातु से भाव में “क्तिन्” प्रत्यय करके आत्मादि करके “रलानि” शब्द निष्पन्न किया जाता है।

अलङ्कारः—यहाँ ऐश्वर्यपूर्ण वस्तु चन्द्रकान्त आदि का वर्णन है अतः उदात्त अलङ्कार है ॥ ७ ॥

अक्षय्यान्तभंवन-निधयः प्रत्यहं रक्त-कण्ठे-

रुदगायद्विर्धनपतियशः किञ्चरैर्यत्र साध्म् ।

वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया

बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ॥ ८ ॥

अन्वयः—यत्र, अक्षय्यान्तभंवननिधयः विबुधवनितावारमुख्यासहायाः, बद्धालापाः, कामिनः, प्रत्यहम्, रक्तकण्ठः, धनपतियशः, उदगायद्विः, किञ्चरैः, साध्म्, वैभ्राजाख्यम्, बहिरुपवनम्, निर्विशन्ति ॥ ८ ॥

व्याख्या—यत्र=यस्यामलकायाम्, अक्षय्यान्तभंवननिधयः=अपरिमित-गृहाभ्यन्तरमस्मूतसम्पत्तयः, विबुधवनिताः=देववनिताः, वारमुख्यासहायाः=अप्सर-महचराः, बद्धालापाः=कृतसंभाषणाः, कामिनः=कामुकाः, प्रत्यहम्=प्रतिदिनम्, रक्तकण्ठः=मधुरकण्ठस्वरैः, धनपतियशः=कुबेरकीर्तिम्, उदगायद्विः=तारस्वरेण गायद्विः, किञ्चरैः=किञ्चुरुषैः देवयोनिविशेषैः, साध्म्=साकम्, वैभ्राजाख्यम्=वैभ्राजाऽभिषेष्यम्, कुबेराऽराममित्यर्थः । बहिरुपवनम्=बाह्योद्यानम्, निर्विशन्ति=उपभोगं कुर्वन्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—यत्र=जिस अलका में, अक्षय्यान्तभंवननिधयः=जिनके घर के भीतर अपार सम्पत्ति पड़ी हैं, विबुध-वनिताः=देवाङ्गना (रूपी), वारमुख्या-सहायाः=वेद्याओं वर्धात अप्सराओं के साथ, बद्धालापाः=वार्लाप करते

हुए, कामिनः—कामुक लोग, प्रत्यहम्—प्रतिदिन, रक्तकण्ठः—मधुर स्वर से, धनपतियशः—कुबेर की कीर्ति का, उद्गायद्विः—ऊँचे स्वर में गान करते हुए, किन्नरैः—किन्नरों के, सार्धम्—साथ, वैभ्राजाख्यम्—वैभ्राजनामक, बहिरुप-वनम्—बाहरी उद्यान का (कुबेर के उद्यान का), निर्विशन्ति—उपभोग करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः—यस्यामलकायां गृहाभ्यन्तरेऽपरिभित-संगृहीतसंपत्तयः कामिनः अप्सरोभिः सह वातालापं कुर्वन्तः, कुबेर-कीर्तिम् मधुर-तार-स्वरैरुद्गायद्विः किम्पुरुषः सह प्रत्यहं वैभ्राजनामकस्य बाह्योद्यानस्योपभोगं कुर्वन्ति ॥ ८ ॥

हिन्दी—जिस अलका में जिनके घरों में अपार सम्पत्ति भरी पड़ी है, ऐसे कामुक लोग देवाङ्गनारूपी वेश्याओं अर्थात् अप्सराओं के साथ वातालाप करते हुए, कुबेर के यश का मधुर एवं ऊँचे स्वर में गान करते हुए किन्नरों के साथ वैभ्राज नामक बाह्य उद्यान का आनन्द लेते हैं ।

समाप्तः—न क्षय्याः अक्षयाः (नव०) । भवनेषु इति—अन्तर्भवनम् (अव्ययीभाव विभक्तचर्यं) अन्तर्भवने निधयः अन्तर्भवननिधयः (स० त०) अक्षयाः अन्तर्भवननिधयः येषां ते = अक्षयाऽन्तर्भवननिधयः (बह०) विवृधानां वनिताः विवृधवनिता (ष० तद०), वारे मुख्याः वारमुख्याः (स० तद०) विवृध-वनिता एव वारमुख्याः विवृध-वनिता-वारमुख्या (रूपक०) ता एव सहाया येषां ते = विवृधवनिता-वारमुख्यासहायाः (बह०) । बद्धः आलापो यैस्तैः=बद्धालापाः (बह०) । अहनि अहनि इति प्रत्यहम् (वीप्सारूपयथाऽर्थे अव्ययीभाव) रक्तः कण्ठः येषान्ते रक्तकण्ठाः (बह०) तैः । धनानां पतिः=धनपतिः (ष० तद०) तस्य यशः धनपतियशः (ष० तद०) तद् । वैभ्राजयम् बाख्या यस्य तद् वैभ्राजाख्यम् (बह०) ।

कोशः—वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवाय सा जनैः । सददृत्ता वारमुख्या स्पात, इत्यमरः । स्यात्किन्नरः किम्पुरुषः तुरङ्गवदनो मयुः, इत्यमरः । पुमाना क्रोड उद्यानं राज्ञः साधारणं वनम्, इत्यमरः ।

टिप्पणी—क्षेत्रुं योग्यम् इस विग्रह में ‘क्षि’ धातु से “क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे”

इस सूत्र से “यत्” प्रत्यय करके धातु को गुण, अयादेश आदि करके “अव्य” रूप निष्पन्न किया जाता है। अन्तर्भवनम्—यहाँ “अव्ययं विभक्ति समीप” इत्यादि सूत्र से विभक्त्यर्थ में नित्य अव्ययीभाव समाप्त हुआ है। आलापाः—“आङ्” उपसर्गपूर्वक “ल्” धातु से भाव में “बद्” प्रत्यय करके बुद्ध्यादि करके “आलाप” शब्द निष्पन्न होता है, उक्त रूप प्रथमा के बहुवचन का है। बद्धालापाः—इसके स्थान पर “बद्धापानम्” ऐसा भी पाठान्तर मिलता है। वहाँ बद्धम् आपानं यस्मिस्तद् बद्धापानम् ऐसा विग्रह करके और वह बहिरूपवनम् का विशेषण होगा। उदागायद्धिः—उद् उपसर्गपूर्वक “गै” धातु से लट् लकार के स्थान पर शत् प्रत्यय करके तृतीया विभक्ति के बहुवचन का यह रूप होगा। वैभ्राजम्-विभ्राजस्येदम् इस विग्रह में “विभ्राज” शब्द से “तस्येदम्” इस सूत्र से “अण्” प्रत्यय करके “वैभ्राजम्” ऐसा रूप निष्पन्न होता है ॥ ८ ॥

अलङ्कार—यहाँ पर भी “उदात्” अलङ्कार है ॥ ८ ॥

गत्युत्कम्पादलक-पतितैर्यत्रमन्दार-पुष्पैः,
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरचित्तन्नसूत्रैश्च हारै-
नेशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥९॥

अन्वयः—यत्र, कामिनीनाम्, नैशः, मार्गः, सवितुः, उदये, गत्युत्कम्पात्, अलक-पतितैः, मन्दारपुष्पैः, पत्रच्छेदैः, कर्णविभ्रंशिभिः, कनक-कमलैः, मुक्ताजालैः, स्तनपरिसरचित्तन्नसूत्रैः, हारैश्च, सूच्यते ॥ ९ ॥

व्याख्या—यत्र=अलकायाम्, कामिनीनाम्=अभिसारिकाणाम्, नैशः=निशासम्बन्धि, मार्गः=अध्वा, सवितुः=दिनकरस्य, उदये=उदिते, सति, गत्युत्कम्पात्=गमनसञ्चलनात्, अलक-पतितैः=चूर्णकुन्तलघवस्तैः, मन्दार-पुष्पैः=मन्दारकुमुमैः, पत्रच्छेदैः=किसलयस्त्वर्षैः, कर्णविभ्रंशिभिः=श्रोत्रच्युतैः, कनक-कमलैः=स्वर्णपदमैः, मुक्ताजालैः=मौक्तिक-सरैः, स्तनपरिसरचित्तन्नसूत्रैः=कुच-प्रदेश-त्रृटित-तन्तुभिः, हारैश्च=सभिश्च, सूच्यते=ज्ञाप्यते ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस अलका में, कामिनीनाम् = अभिसारिकाओं का, नैशो मार्गः = रात्रि का मार्ग, सवितुः = सूर्य के, उदये = उदित होने पर, गत्युत्कम्पात् = चलने के समय हिलने के कारण, अलक-पतितः = धुंधराले बालों से गिरे, मन्दार-पृष्ठैः = मन्दार के फूलों के द्वारा, पत्रच्छेदैः = पत्तों के टुकड़ों से, कर्ण-विश्रंशिभिः = कान से गिरे, कनक-कमलैः = स्वर्ण कमलों के द्वारा, मुक्ताजालैः = मोतियों की लरियों से, स्तनपरिसरच्छन्न-सूत्रैः = और स्तन-प्रदेश से टूटे हुए सूत्र वाली, हारैश्च = मोती की मालाओं के द्वारा, सूच्यते = सूचित होता है ॥ ९ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! यस्यामलकायामभिसारिकाणां रात्रिपन्थाः सूर्योदये सति गमन-काले सञ्चलनेन पूर्ण-कून्तलछवस्तैः मन्दारकुमुमैः, मन्दार-किसलय-सकलैः, श्रोत्रच्छुतैः स्वर्ण-पद्मैः मौक्तिकसरैः कुचप्रदेशेषु विच्छिन्नतन्तुभिः मौक्तिकसरिभिश्च सूच्यते ॥ ९ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! जिस अलका में अभिसारिकाओं का रात्रि का मार्ग चलने के समय धुंधराले बालों से गिरे हुए मन्दार के फूलों से, मन्दार के पत्तों के टुकड़ों से, कान से गिरे स्वर्ण-कमलों से, (बालों में गुंथे) मोतियों के लड़ों से एवं स्तनप्रदेश पर टूटे हुए सूत्र वाली मोती की मालाओं से दिन में सूचित (अनुमानित) होता है ॥ ९ ॥

समाप्तः—गत्या उत्कम्पः = गत्युत्कम्पः (वृ० तद०) तस्मात् । अलकेभ्यः पतितानि = अलकपतितानि (प० तद०) तैः । मन्दारस्य पुष्पाणि = मन्दार-पुष्पाणि (ष० तद०) तैः । पत्राणां छेदाः = पत्रच्छेदाः (ष० तद०) तैः । स्तनयोः परिसरः स्तनपरिसरः (ष० तद०) । छिन्नानि सूत्राणि येषां ते = छिन्नसूत्राः (बह०), स्तन-परिसरे छिन्नसूत्राः = स्तनपरिसरच्छन्नसूत्राः (स० तद०) तैः ।

कोशः—मन्दारः पारिकातकः, इत्यमरः । अलकाशूर्ण-कून्तलाः, इत्यमरः । पर्यन्तमूः परिसरः, इत्यमरः । स्वर्ण सुकर्ण कनकश्च, इत्यमरः ।

टिप्पणी—कामिनीनाम्—प्रशस्तः कामोऽस्यासामिति कामिन्यः तासाम् ॥
 चाणक्य ने “आहारो द्विगुणः स्त्रीणां द्वुद्दिस्तासां चतुर्गणाः । षड्गुणो व्यवहारश्च
 कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ।” ऐसा स्थिरों के सम्बन्ध में लिखा है । अतः स्त्री को
 कामिनी कहा जाता है, क्योंकि उनमें पुरुषों की अपेक्षा आठगुणा अधिक
 कामाऽवेश रहता है । यहाँ कामिनी का अर्थ सर्वसाधारण स्त्री नहीं अपितु
 “अभिसारिका” का ग्रहण होता है । नैशः—निशायां भवः नैशः यहाँ “निशा”
 शब्द से “तत्र भवः” इस सूत्र से अण् प्रत्यय और द्वुद्दि की गयी है । उत्कम्पः—
 “उत्” उपसर्वपूर्वक “कम्प” धातु से भाव में “घब्” प्रत्यय करके “उत्कम्पः”
 ऐसा रूप निष्पन्न होता है । पतितः—“पत्” धातु से ‘क्त’ प्रत्यय करके
 “पतित” शब्द निष्पन्न होता है । कर्णविभ्रंशिभिः—कर्णेभ्यः विभ्रंश्यन्तीति
 तच्छीलानि इस विग्रह में कर्ण उपपदक एवं “विं” उपसर्वपूर्वक “भ्रंश्” धातु
 से “णिनि” प्रत्यय करके उपपद समाप्त करके “कर्णविभ्रंशिन्” ऐसा शब्द
 निष्पन्न होता है । उक्त रूप तृतीया के बहुवचन का है । सूच्यते—‘सूच्’ धातु
 से “हेतुमति च” इस सूत्र से णिच् प्रत्यय लाकर पुनः धातु संज्ञा करके लट्
 लकार “णिचश्च” इस सूत्र से आत्मनेपद हो जायेगा, प्रथमपुरुष के एकवचन
 में सूच्यते ऐसा रूप बन जायेगा ।

**बलङ्कारः—यहाँ रात्रिमाणं सूचन रूपी एक कायं के लिए अलक से गिरे
 हुए मन्दार-पृष्ठ आदि अनेक कारणों का कथन होने के कारण ‘‘समुच्चय’’
 अलङ्कार एवं गिरे हुए मन्दार पुष्पों के द्वारा रात्रि माणं रूप साध्य का ज्ञान
 होने से “अनुमान” अलङ्कार है ॥ ९ ॥**

मत्वा द्वं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं

प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मयः षट्पदञ्चयम् ।

समूभज्जन्प्रहित-नयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघे-

स्तस्यारम्भश्चतुर-वनिता-विभ्रमैरेव सिद्धः ॥१०॥

अन्वयः—यत्र, मन्मयः, धनपतिसखम्, देवम्, साक्षात्, वसन्तम्, मत्वा,

भयात्, षट्पदज्यम्, चापम्, प्रायो, न, वहति । तस्य, आरम्भः, सभूभज्ज-
भ्राह्मतनयनैः, कामिलक्ष्येषु, अमोघैः, चतुर-वनिता-विभ्रमैः, एव सिद्धः ॥ १० ॥

व्याख्या—हे मेघ ! यत्र = यस्यामलकायाम्, मन्मथः = मदनः, धनपति-
सखम् = कुबेर-मित्रम्, देवम् = शिवम्, साक्षात् = सद्यः, वसन्तम् = वर्तमानम्,
मत्वा = ज्ञात्वा, भयात् = ज्ञासात्, षट्पदज्यम् = भ्रमरमीविकम्, चापम् = धनुः,
प्रायः = अधिकांशतः, न वहति = न धारयति । यदि मन्मथः धनुर्न धारयति तस्य
कार्यं सिद्धिस्तहि कथं भवतीत्याकांक्षायामाह — तस्य = कामस्य, आरम्भः =
व्यापारः, सभूभज्ज-प्रहितनयनैः = भ्रूभज्ज-सहितप्रक्षिपा-वलोकनैः, कामि-
लक्ष्येषु = कामुकशरव्येषु, अमोघैः = सफलैः, अनिष्टकलैरिति यावत् । चतुर-
वनिता-विभ्रमैः = पटुविलासिनी-विलासैः, एव, सिद्धः = साधितः ॥ १० ॥

शब्दार्थः—यत्र = जिस बलका में, मन्मथः = कामदेव, धनपतिसखम् =
कुबेर के मित्र, देवम् = शङ्कर को, साक्षात् = शरीर रूप से, वसन्तम् = निवास
करते हुए, मत्वा = ज्ञानकर (न कि देखकर) भयात् = डर से, षट्पदज्यम् =
भ्रमरों की ज्या (डोरी) वाले, चापम् = धनुष को, प्रायः न वहति = प्रायः
नहीं धारण करता है, तस्य = कामदेव का, आरम्भः = कार्य (तो) सभू-
भज्जम् = भ्रूभज्ज के साथ, प्रहितनयनैः = फेंकी गयी दृष्टि वाले (कटाक),
कामिलक्ष्येषु = कामुकपुरुष रूपी लक्ष्यों पर, अमोघैः = निष्टकल नहीं होने
वाले, चतुर-वनिता-विभ्रमैः = चतुर स्त्रियों के विलासों से ही, सिद्धः = पूरा
हो जाता है ॥ १० ॥

भावार्थः—हे मेघ ! यस्यामलकायां कामदेवः स्वसुहृतप्रेम्णा शङ्कर-शरीरेण
वसन्तं ज्ञात्वा भीत्या प्रायः भ्रमरमीविकं चापं न धारयति । तस्य व्यापारस्तु
भ्रूभज्ज-सहित-प्रक्षिपददृष्टिभिः कामिजनेष्वनिमोघैः पटुविलासिनी-विलासैः
निष्पन्नो भवति ॥ १० ॥

हिन्दी—हे मेघ ! जिस बलका में कामदेव कुबेर के मित्र शङ्कर को
शरीर धारण कर निवास करते हुए ज्ञानकर डर के कारण भ्रमरों की डोरी
वाले धनुष को नहीं धारण करता है । उसका काम तो भ्रूभज्ज के साथ फेंकी

वयो दृष्टि वाले कामी लोगों पर अमोघ चतुर स्त्रियों के विलास से ही पूरा हो जाता है ॥ १० ॥

समासः—मरो मथः=मन्मथः (ष० तद०) । धनस्य पतिः=धनपतिः (ष० तद०) धनपते: सखा =धनपतिसखः (ष० तद०) तम् । षट् पदानि येषान्ते षट्पदाः (बह०) षट्पदा एव ज्या यस्य स षट्पदज्यः (बह०) तम् । भ्रुवोर्भञ्जः (ष० तद०) सभ्रूभञ्जेन सहितम्=सभ्रूभञ्जम् (तुल्ययोग बह०) सभ्रूभञ्जं प्रहितानि=सभ्रूभञ्जप्रहितानि (सुष्मुपेति समासः) सभ्रूभञ्जानि नयनानि येषु तैः, सभ्रूभञ्जप्रहितनयनैः (बह०) कामिन एव लक्ष्यानि तेषु=कामिलक्ष्येषु (रूपक०) न मोधाः=अमोधाः (नव०) तैः । चतुराश्च ताः वनिताः=चतुर-वनिताः (कर्म०) तासां विभ्रमाः चतुर-वनिता विभ्रमाः (ष० तद०) तैः ।

कोशः—कुवेरस्त्यम्बकसखः, इत्यमरः । मदनो मन्मथो मारः, इत्यमरः । अनुइचापौ धन्वशरासनकोदण्डकामुकम्, इत्यमरः । स्त्रीणां विलास-विव्वोक-विभ्रमाः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—देवः—दीव्यतीति देवः “दिव्” धातु से “पचाद्वच्” करके गुण करके देवः बनता है । वसन्तम्—निवासार्थक ‘वस’ धातु से लट् लकार के स्थान पर “शत्रृ” आदेश करके नुमादि करके द्विं विभक्ति में “वसन्तम्” ऐसा बनता है । षट्पदज्यम्—कवि-प्रसिद्धि है कि भ्रमरों की पंक्ति ही कामदेव के धनुष की प्रत्यक्षा है । यह उचित भी है । यदि उसका धनुष “पुष्प” का है तो प्रत्यक्षा भ्रमर की होगी ही । कामी—कामोऽत्यस्येति “कामी” यहाँ “अत इनिठनो” इस सूत्र से इनि प्रत्यय हुआ है । सिद्धः—“सिष्” धातु से क्त प्रत्यय लाकर “सिद्धः” निष्पन्न होता है ।

अलङ्कारः—इस श्लोक में कामियों में लक्ष्यत्व का आरोप होने से रूपक सुवं भ्रमररूपी प्रत्यक्षावाली धनुष यद्यपि धारणयोग्य है फिर भी उसका निषेष अर्थात् सम्बन्ध में असम्बन्ध की उक्ति होने के कारण अतिक्षयोक्ति अलङ्कार

है। एवं दोनों के अज्ञाज्ञिभावतया रहने के कारण “संकर” अलङ्कार है ॥ १० ॥

वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोदभेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान् ।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ ११ ॥

अन्वयः—यस्याम्, चित्रं, वासः, नयनयोः, विभ्रमादेशदक्षम्, मधु, किसलयैः, सह, पुष्पोदभेदम्, भूषणानाम्, विकल्पान्, चरणकमलन्यासयोग्यम्, लाक्षारागम्, च सकलम्, अबलामण्डनम्, एकः, कल्पवृक्षः, सूते ॥ ११ ॥

व्याख्या—यस्याम्=अलकायाम्, चित्रम्=विविध-वर्णम्, वासः=वस्त्रम्, नयनयोः=अक्षणोः, विभ्रमादेशदक्षम्=विलास-शिक्षण-चतुरम्, मधु=मद्यम्, किसलयैः=नूतनपल्लवैः, सह=साकम्, पुष्पोदभेदम्=कुमुमोदगमम्, भूषणानाम्=अलङ्काराणाम्, विकल्पान्=प्रकारान्, चरणकमलन्यासयोग्यम्=पादपद्मालङ्कृतियोग्यम्, लाक्षारागम्=अलक्त-रागम्, च=तथा, सकलम्=सम्पूर्णम्, चतुर्विधमपीत्यर्थः । अबलामण्डनम्=वनिता-प्रसाधननिचयम्, एकः=केवलः, एकाकीत्यर्थः । कल्पवृक्षः=कल्पतरुः, सूते=उत्पादयति ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—यस्याम्=जिस अलका में, चित्रं=रंग विरंगे, वासः=वस्त्र, नयनयोः—आँखों को, विभ्रमादेशदक्षम्=विलासों की शिक्षा देने में निपुणः, मधु=मद्य, किसलयैः=नवीन पल्लवों के, सह=साथ, पुष्पोदभेदम्=फूलों का आविर्भाव, भूषणानाम्=गहनों का, विकल्पान्=भेद (प्रकार) । चरणकमलन्यासयोग्यम्=और चरण-कमल में लगाने योग्य, लाक्षारागं च=महावर (बालता) रंग, सकलम्=सभी, अबलामण्डनम्=स्त्रियों की प्रसाधन सामग्री, एकः=एक, कल्पवृक्षः=कल्पवृक्ष (ही), सूते=उत्पन्न करता है ॥ ११ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! यस्यामलकायामेकः कल्पद्रुक्ष एव विविष्ट-वर्ण वस्त्रम्, नेत्रयोः विलास-शिक्षण-निपुणं मद्यम्, किसलयैः साकं कुसुमाविभावम् भूषणानामनेकभेदान्, पादपदमालङ्कृतियोग्यमालक्तकरसमित्यर्थः सर्वमेव बनिताप्रसाधन-समूहमुत्पादयति ॥ ११ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! जिस अलका में एक कल्पद्रुक्ष ही, अनेक रंग के वस्त्र, आँखों को विलास की शिक्षा देने में कुशल-मद्य, नवीन पत्तों के साथ फूलों का आविभाव, अनेक प्रकार के आभूषण और चरण-कमल में लगाये जाने योग्य महावर या मेहदी, इस तरह स्त्रियों की समूणं प्रसाधन-सामग्री को उत्पन्न करता है ॥ ११ ॥

समासः—विभ्रमाणान् आदेशः = विभ्रमादेशः (ष० तद०) तस्मिन् दक्षः = विभ्रमादेशदक्षः (स० तद०) । पुष्पाणाम् उद्भेदः = पुष्पोद्भेदः (ष० तद०) तम् । चरणो कमले इव चरणकलम्, (उपमितकर्म) तयोन्यसिः चरणकमल-न्यासः (ष० तद०) तस्मिन् योग्यम् चरणकमलन्यासयोग्यम् (स० तद०) तम् । अविद्यमानं बलं यस्या सा अबला (न० बहु०), तासां अबलानां मण्डनं अबलामण्डनम् (ष० तद०) ।

कोशः—वस्त्रमाळ्छादनं वासश्चैलं वसनमंशुकम्, इत्यमरः । मधुमद्ये पुष्प-रसे क्षीद्रेष्टपि, इत्यमरः । परिष्कारो विभूषणम् मण्डनच्च, इत्यमरः । एकाकीत्वेव एककः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—आदेशः—“आङ्” उपसर्गपूर्वक “दिश्” धातु से धब् प्रत्यय करके “आदेशः” ऐसा निष्पन्न होता है । उद्भेदः—“उद्” उपसर्गपूर्वक “भिद्” धातु से “धब्” प्रत्यय करके “उद्भेदः” ऐसा रूप निष्पन्न होता है । भूषणम्—“भूष्” धातु से करण में “करणाधिकरणयोश्च” इस सूत्र से “ल्युट्” प्रत्यय करके “भूषण” शब्द निष्पन्न होता है । रागः—रज्यतेऽनेन इस विभ्रह में रागार्थक “रञ्ज्” धातु से करण अर्थ में “धब्” प्रत्यय से “रागः” रूप निष्पन्न

हुआ है। सूते—अभिषव “घूड़” धातु के लट्टकार के प्रथम पुरुष के एक वचन का यह रूप है।

अलङ्कारः—यहाँ बंग, वास, अलङ्कार, मद्द आदि बहुत-से कार्य एक कल्प-द्रुक्ष के हैं, अतः “तुल्ययोगिता” अलङ्कार है। तथा “चरणकमल” यहाँ लुप्तोपमा है, एवं अलङ्कारों का अङ्गाङ्गभाव होने से “संकर” अलंकार है ॥ ११ ॥

तत्रागारं घनपतिशृग्हानुत्तरेणास्मदीयं

दूराललक्ष्यं सुरपतिश्वनुश्चारुणा तोरणेन ।

यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्दितो मे

हस्तप्राप्यस्तबकनभितो बालमन्दारवृक्षः ॥ १२ ॥

अन्वयः—तत्र, घनपतिशृग्हान्, उत्तरेण, अस्मदीयम्, आगारम्, सुरपति-
श्वनुश्चारुणा, तोरणेन, दूरात्, लक्ष्यम् । यस्य, उपान्ते, मे, कान्तया, वर्दितः,
कृतकतनयः, हस्तप्राप्यस्तबक नभितः, बालमन्दारवृक्षः, (वर्तंते) ॥ १२ ॥

व्याख्या—इतः पूर्वं बलकावर्णनङ्कृतमतः स्वभवन-वर्णनङ्करोति यक्षः
तत्र = बलकायाम्, घनपतिशृग्हान् = कुबेरहम्यन्ति, उत्तरेण = उदीच्या,
अस्मदीयम् = मामकीनम्, आगारम् = गृहम्, सुरपतिश्वनुश्चारुणा = इन्द्रचाप-
मनोहरेण, तोरणेन = बहिद्विरिण, दूराललक्ष्यम् = विप्रकृष्टादपि दृश्यम्, (अस्ति) ।
यस्य = भवनस्य, उपान्ते = समीपे, मे = मम, कान्तया = प्रियया, वर्दितः =
प्रवितः, पोषित इत्यर्थः, कृतकतनयः = कृत्रिम-पुत्रः, हस्तप्राप्यस्तबक-नभितः =
क्षराबलम्बनयोग्यकदम्बकनभ्रीमूतः, बालमन्दारवृक्षः = बालसुरतः (विद्यते) ।

शब्दार्थः—तत्र = उस बलका में, घनपतिशृग्हान् = कुबेर के घर से,
उत्तरेण = उत्तर दिशा की ओर, अस्मदीयम् = मेरा, आगारम् = घर, सुरपति-
श्वनुश्चारुणा = इन्द्रधनुष की तरह सुन्दर, तोरणेन = बाहर के दरवाजे के द्वारा,
दूरात् = दूर से भी, लक्ष्यम् = देखने योग्य (जिसे देख सकते) हैं। यस्य = जिस,
मेरे घर के, उपान्ते = समीप में, मे = मेरी, कान्तया = प्रिया के द्वारा

वद्धितः—पाला गया (बढ़ाया गया), कृत्रिमपुत्रः—दत्तकपुत्र, हस्तप्राप्य-
स्तबकनमितः—हाथ से पाने योग्य गुच्छों से झुका हुआ, बालमन्दारवृक्षः=नया
मन्दार का वृक्ष है ।

भावार्थः—हे मेघ ! धनगृहादुत्तरस्यां दिशि इन्द्रचाप-सुन्दरेण बहिर्दी-
रेण दृश्यं मे गेहमस्ति । यस्य समीपे मत्प्रिया-दत्तकपुत्र इव वद्धितो बालमन्दार-
वृक्षोऽस्ति ॥ १२ ॥

हिन्दी—हे मेघ, कूबेर के घर से उत्तर दिशा की ओर, इन्द्रघनुष के
समान बाहरी दरवाजे के द्वारा दूर से भी देखने (पहचानने) योग्य मेरा घर
है । जिनके समीप मेरी प्रिया के द्वारा दत्तक पुत्र को तरह बढ़ाया गया, हाथ से
पाने योग्य गुच्छों वाला नया मन्दार का वृक्ष है ॥ १२ ॥

समासः—धनानां पतिः धनपतिः (ष० तद०) तस्य गृहाः धनपति-
गृहाः (ष० तद०) तान् । सुराणां पतिः सुरपतिः (ष० तद०) तस्य धनुः=—
सुरपतिधनुः (ष० तद०) तदिव चारु=सुरपतिधनुश्चारु (उपमितकर्म०)
तैः । कृतकश्चासौ तनयः कृतकतनयः (कर्म) हस्तेन प्राप्याः=हस्तप्राप्याः
(तृ० तद०) हस्तप्राप्यश्च ते स्तबकाः = हस्त-प्राप्यस्तबकाः (कर्म) तैः
नमितः हस्तप्राप्यस्तबकनमितः (तृ० तद०) । बालश्चासौ मन्दारवृक्षश्च
बालमन्दारवृक्षः (कर्म०) ।

कोशः—गृहाः पुंसि च भूम्न्येव, इत्यमरः । निशान्त-वस्त्यसदनं भवना-
गारमन्दिरम्, इत्यमरः । स्यादगुच्छकस्तु स्तबकः, इत्यमरः । विद्यादगारमागा-
रम्, इति द्विरूप कोशः ।

टिप्पणी—धनपतिगृहान्—यहाँ “एनपा द्वितीया” से द्वितीया विभक्ति
हुई है, क्योंकि “उत्तरेण” इस एनप् प्रत्ययान्त का योग है । अस्मदीयम्=—
अस्माकमित्रम् इस विश्व में “अस्मद्” शब्द की “त्यादीनि च” इस सूत्र से
दृढ़ि संज्ञा करके “बृद्धाच्छः” इस सूत्र से “छ” प्रत्यय हुआ और उसके स्थान

पर “आयनेवीनीवियः फडखलबा प्रत्ययादीनाम्” इस सूत्र से “ईय बादेश करके “बस्मदीय” ऐसा रूप निष्पन्न होता है (अस्मद् + ईय) । लक्ष्यम्-णिजन्त लक्षि धातु से “प्यत्” प्रत्यय करके “लक्ष्य” ऐसा रूप साधु होता है । वर्धितः—वर्षनार्थक “बृष्ट” धातु से “क्त” प्रत्यय करके गुणादि करके “वर्धित” ऐसा रूप बना है । कृतकः—कृत एव कृतकः “कृत” शब्द से स्वार्थ में कृत प्रत्यय हुआ है । नमितः—णिजन्त “नमि” धातु से “क्त” प्रत्यय करके “नमितः” ऐसा रूप बनता है ।

अलङ्कारः—“मुरपति-घनुआरुणा” यहाँ “लुमोपमा” अलङ्कार है ॥१२॥

वापी चास्मिन् मरकत-शिलाबद्ध-सोपान-मार्गा
हेमैश्छल्ना विकचकमलैः स्तिरध्वैदूर्यं-नालैः ।
यस्यास्तोये कृत-वसतयो मानसं सन्निकृष्टं
नाध्यासन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि ग्रेष्य हंसाः ॥१३॥

अन्वयः—अस्मिन्, मरकत-शिला-बद्ध-सोपानमार्गा, स्तिरध्वैदूर्यनालैः, हेमैः, विकच-कमलैः, छन्ना, वापी च । यस्याः, तोये, कृतवसतयः, हंसाः, त्वाम्, ग्रेष्य, अपि व्यपगतशुचः; सन्निकृष्टम्, मानसम्, न अध्यासन्ति ।

ढार्या—अस्मिन् = मदभवने, मरकत-शिला-बद्ध-सोपानमार्गा = गारु-त्वामणिशिलानिर्मिताऽवतरणमार्दा, स्तिरध्वैदूर्यनालैः = मसृष्टिविदूरमणिनालैः, हेमैः = सौवर्णैः, विकचकमलैः = प्रफुल्लपद्मैः, छन्ना = ब्रह्मिभ्यासा, वापी च = दीर्घिका च (वस्ति) । यस्याः = दीर्घिकायाः, तोये = चले, कृतवसतयः = रचित-विवासाः, हंसाः = चक्राङ्काः, त्वाम् = येषम्, ग्रेष्य अपि = दुष्ट्वा वस्ति व्यपगतशुचः = नर्णुत्तराः (सन्तः), उंनिकृष्टम् = सन्निहितम्, मानसम् = मानस-सुरोवरम्, न अध्यासन्ति = न द्वयरिष्टविति ॥ १३ ॥

शब्दार्थः— अस्मिन् = इस मेरे घर में, मरकतशिला-बद्धसोपानमार्गः = मरकतमणि से निर्मित सीढ़ियों वाली, स्तिंघवैदूर्यनालैः = चिकने वैदूर्य रत्न के नाले बाले, हैमैः = स्वर्णनिर्मित (सुनहले), विकचकमलैः = प्रफुल्लितकमलों से, छाप्ना = ढौकी हुई, वापी = बावली (है) यस्याः = जिस वापी के, तोये = जल में, कृतवस्तयः = रहने वाले, हंसाः = हंसगण, त्वाम् = तुमको, प्रेक्ष्य अषि = देखकर भी, व्यपगतशुचः = शोकरहित होकर, संनिकृष्टम् = समीप में विद्यमान, मानसम् = मानसरोवर को, न अध्यामन्ति = स्मरण नहीं करेंगे ॥ १३ ॥

भावार्थः— मदएहे मरकतमणि-मयसोपानपन्था मसृणवैदूर्यमणिनालैः सीढ़ीः विकसितपद्मैः व्यापा वापी अस्ति । यस्याः जले निवसिता हंसा त्वाम-वैश्याऽपि समीपस्थमपि मानसं सरः व्यपगतदुःखाः सन्तः न स्मरिष्यन्ति ॥ १३ ॥

हिन्दी— (हे मेघ !) मेरे घर में मरकतमणि से बनी सीढ़ीवाली, चिकने वैदूर्यमणि के नाल बाले विकसित स्वर्ण कमलों से व्यापा वापी है । जिस वापी के जल में निवास करते बाले हंस शोकरहित होकर, तुमको देखकर भी समीप में स्थित मानसरोवर का स्मरण नहीं करेंगे ॥ १३ ॥

समाप्तः— मरकतान्येव शिलाः = मरकतशिला: (रूपक) तांशः बद्धः = मरकतशिलाबद्धः (तृ० तत०), सोपानानां मार्गः = सोपानमार्गः (ष० तत०), मरकतशिलाबद्धः सोपानमार्गो यस्याः सा मरकतशिला-बद्ध-सोपान-मार्गः (वह०) । स्तिंघानि वैदूर्याणि नालानि येषां तानि = स्तिंघवैदूर्यनालानि (बह०) तैः । विकचानि च तानि कमलानि विकचकमलानि (कम०) तैः । कृता वसतिर्यः ते कृतवस्तयः (बह०) । व्यपगता शुक् येषां ते व्यपगतशुचः (कम०) ।

कोशः— बारोहणं स्थात्सोपानम्, इत्यमरः । गाहृत्मतं मरकतमणिरस्मगभौ हरिन्मणिः, इत्यमरः । वापी तु दीर्घिका, इत्यमरः । मनुषोकी तु शुक् दिवमण्, इत्यमरः । सज्जीवे त्रिलटाऽऽस्म्य त्रिलिङ्गाणं तर्मीठददृ, इत्यमरः ।

टिप्पणी—बैदूर्य—“विदूरात्प्रभवन्ति” इस विग्रह में “विदूराञ्ज्यः”
इस सूत्र से “विदूर” शब्द से “अण्” प्रत्यय करके बादिवृद्धि करके “बैदूर्यः”
शब्द निष्पन्न होता है। “विदूर” एक पर्वत है। वहाँ पर होने वाले मणियों
को बैदूर्यमणि कहते हैं। हैमः—हैम्नो विकारः इस विग्रह में “तस्य विकारः”
इस सूत्र से “अण्” प्रत्यय करके “हैमः” शब्द निष्पन्न होता है। छन्ना—
णिजन्त “छदि” धातु से “क्त” प्रत्यय करके “छन्न” रूप बनाया जाता है।
प्रेक्ष्यः—“प्र” उपसर्गपूर्वक “क्षि” धातु से क्त्वा प्रत्यय करके उसके स्थान पर
“ल्यप्” करके प्रेक्ष्य रूप निष्पन्न होता है। व्यपगतः—“वि” एवं “अप्”
उपसर्गपूर्वक “गम्” धातु से “क्त” प्रत्यय करके “व्यपगत” शब्द निष्पन्न होता
है। संनिकृष्टम्—“कृष्” धातु से “क्त” प्रत्यय करके “संनिकृष्ट” रूप निष्पन्न
होता है। ऐसी कवि प्रतिद्विदि है कि वर्षाक्रियतु में जल के गन्दा हो जाने का कारण
हंस लोग “मानसरोवर” चले जाते हैं, परन्तु यहाँ के घर की वापी का जल
ही इतना स्वच्छ है कि हंस लोग मेघ को देखकर अर्थात् वर्षाक्रियतु जानकर भी
मानसरोवर जाने की कोन बात, उसका स्मरण भी नहीं करते हैं।

अलङ्कारः—यहाँ वर्षाक्रियतु रूप कारण के होने पर भी मानसरोवर
स्मरण रूप कार्य के न होने से “विशेषोक्ति” अलङ्कार है। एवं लोकोत्तर
सम्पत्ति का वर्णन होने से “उदात्त” अलङ्कार भी है। इस तरह दोनों के अंगांगि-
आवतया स्थित होने से “संकर” अलङ्कार हुआ ॥ १३ ॥

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः

क्रोडाशैलः कनककदलीवेष्टन-प्रेक्षणीयः ।

मद्गोहिन्याः प्रय इति सखे ! चेतसा कातरेण

प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥ १४ ॥

अन्वयः—तस्याः, सीरे, अेष्वच्छैः, इन्द्रनीलैः, रचित-शिखरः, कनककदलीवेष्टन-

प्रेक्षणीयः, क्रीडाशैलः, (अस्ति) हे सखे ! उपान्तस्फुरिततडितम्, त्वाम्, प्रेक्ष्य,
मदगेहिन्याः, प्रिय इति, कातरेण, चेतसा, तमेव, स्मरामि ॥ १४ ॥

व्याख्या — तस्याः=दीर्घिकायाः, तीरे=तटे, पेशलैः=सुन्दरैः, इन्द्रनीलैः
=इन्द्रनीलनामकरत्वैः, रचित-शिखरः=निर्मितशृङ्खः, कनककदलीवेष्टन-
प्रेक्षणीयः=हैमरम्भापरिवेषावलोकनीयः, क्रीडाशैलः=केलिगिरिः अस्तीति
भावः। हे सखे ! =हे मित्र ! उपान्तस्फुरिततडितम्=समीपस्फुरितविद्युतम्,
त्वाम्=मेघम्, प्रेक्ष्य=दृष्ट्वा, मदगेहिन्याः=मत्रियायाः, प्रियः=अभिष्ठः,
इति=अतः कातरेण=कादर्थंयुक्तेन, चेतसा=मनसा, तमेव=क्रीडापर्वतमेव,
स्मरामि=स्मरणकूरोमि ॥ १४ ॥

शब्दार्थः — तस्याः=उस बापी के, तीरे=तीर पर, पेशलैः=सुन्दर,
इन्द्रनीलैः=इन्द्रनीलमणियों से, रचितशिखरः=बने हुए शिखरों वाला, कनक-
कदली-वेष्टन-प्रेक्षणीयः=स्वर्ण (सुनहले) केले के दृक्षों से परिवेष्टित होने से
देखनेयोग्य, क्रीडाशैलः=केलिपर्वत (खलक पर्वत) है। हे सखे ! =हे मित्र !
उपान्तस्फुरिततडितम्=जिसके समीप चमकती हुई बिजली है (ऐसे), त्वाम्=
तुमको, प्रेक्ष्य=देखकर, मदगेहिन्याः=मेरी-प्रिया का, प्रियः=वह पर्वत प्रिय है,
इति=इस कारण, कातरेण=कातर, चेतसा=मनसे, तमेव=उसी क्रीडापर्वत
का, स्मरामि=स्मरण कर रहा हूँ ॥ १४ ॥

भावार्थः — हे मेघ ! मदगेहवर्तिवायाः तटे इन्द्रनीलमणि-विरचितशृङ्खः
स्वर्णरम्भापरिवेष्टन-दर्शनीयः क्रीडापर्वतो विद्यते । हे मित्र ! पाश्वस्फुरित
विद्युतम् (कान्तासहितमितिभावः) त्वां विलोक्य सः क्रीडापर्वतः मत्रियायाः
प्रिय इति हेतुना तं क्रीडापर्वतमेव कातरेण मनसा स्मरामि ॥ १४ ॥

हिन्दी— (हे मेघ !) मेरे घर की बापी के तट पर इन्द्रनीलमणि से बने
शिखरों वाला, स्वर्ण (सुनहले) केले के दृक्षों से घिरे होने के कारण दर्शनीय

क्रीडापर्वत है। हे मित्र ! जिसके पास में बिजली चमक रही है ऐसे तुम्हें देखकर यह क्रीडापर्वत भेरी प्रिया का प्रिय है, इसलिए उसी का स्मरण कर रहा हूँ ॥ १४ ॥

समाप्तः— रचितानि शिखराणि यस्य सः रचितशिखरः (बहु०) कनकस्य कदल्यः—कनककदल्यः (ष० तद०) तासां वेष्टनम्=कनककदलीवेष्टनम् (ष० तद०) तेन प्रेक्षणीयः—कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः (त० तद०) । क्रीडायं शैलः—क्रीडाशैलः (मध्यमध्यदलोपी०) । स्फुरिताः तडितः यस्य स स्फुरित-तडित (बहु०) उपातेषु स्फुरिततडित = उपान्तस्फुरिततडित (स० तद०) तम् । मम भेहनी=मदगेहनी (ष० तद०) तस्याः ।

कोशः— चारी दक्षे च पेशलः, इत्यमरः । चित्तन्तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः, इत्यमरः । कदलीवारणबुसा रमभामोचांशुमत्कलाः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—प्रेक्षणीयम्—“प्र” उपसर्गपूर्वक “ईक्ष्” धातु से “तत्व-तत्त्वानीयर्” इस सूत्र से “अनीयर्” प्रत्यय होकर प्रेक्षणीयम् ऐसा रूप निष्पन्न होता है । **प्रेक्षय—** यह शब्द भी “प्र” उपसर्गपूर्वक “ईक्ष्” धातु से कत्वा प्रत्यय लाकर उसके स्थान में ल्यप् करके “प्रेक्षय” ऐसा रूप बनता है । **गेहनी—** गेहमस्त्यस्याः इस विश्रह में “गेह” शब्द से इनि प्रत्यय करके स्त्रीत्व की विवक्षा में छोप् करके “गेहनी” शब्द निष्पन्न होता है । **एव—“एव”** शब्द का (१) अयोगव्यवच्छेद (२) अन्ययोगव्यवच्छेद (३) अत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेद—इस प्रकार तीन व्यवच्छेद अर्थं समझे जाते हैं । प्रकृत में “तमेव स्मरामि” यहाँ अन्ययोगव्यवच्छेद है, अर्थात् उस क्रीडापर्वत से अन्य दूसरे पर्वतों का व्यवच्छेद हो रहा है, अभिप्राय यह है कि “उस क्रीडापर्वत का स्मरण कर रहा हूँ, किसी दूसरे पर्वत का नहीं ।”

अलङ्कारः— इस श्लोक में “तमेव स्मरामि” इस जगह “स्मरण” अलङ्कार है एवं “इन्द्रनीलैः रचितशेखरः” इत्यादि स्थलों पर “उदात्” अलङ्कार है । एवं दोनों का अङ्गाङ्गभाव होने से “संकर” अलङ्कार है ॥ १४ ॥

रक्ताशोकदचलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः

प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेमाघवीमण्डपस्य ।

एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी

काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छदमनाऽस्याः ॥१५॥

अन्वयः—अत्र, कुरबकवृतेः, माघवीमण्डपस्य, प्रत्यासन्नौ, चलकिसलयः, रक्ताशोकः, कान्तः, केसरश्च, एकः, मया, सह, तव, सख्याः, वामपादाभिलाषी, अन्यः, दोहदच्छदयना, अस्याः, वदनमदिराम्, काङ्क्षति ॥ १५ ॥

व्याख्या—अत्र=क्रीडाशैले, कुरबकवृतेः=कुरबकपरिवेष्टनस्य, माघवी-मण्डपस्य=अतिमुक्तनिकुञ्जस्य, प्रत्यासन्नौ=समीपस्यौ, चलकिसलयः=चच्चल-नूतनपल्लवः, रक्ताशोकः=अशोकदृक्षविशेषः, कान्तः=सुन्दरः, केसरश्च=बकुलवृक्षश्च (स्तः) । एकः=तयोरन्यतरः, मया=यज्ञेण, सह=साकम्, तव=मेषस्य, सख्याः=सखिप्रियायाः, मत्प्रियायाः इति भावः । वामपादा-भिलाषी=सध्येतरवरण-प्रहारच्छुकः, अन्यः=बकुलवृक्षः, दोहदच्छदप्तना=वृक्षादिसंस्कारव्याजेन, अस्याः=त्वत्सख्याः, वदनमदिराम्=मुखमद्यम्, काङ्क्षति=अभिलषति ॥

शब्दार्थः—अत्र=उस क्रीडा-पर्वत पर, कुरबकवृतेः=कुरबक के घेरा बाले, माघवीमण्डपस्य=माघवी (अतिमुक्ता) के निकुञ्ज के, प्रत्यासन्नौ=समीप में, चलकिसलयः=चच्चल किसलय बाला, रक्ताशोकः=लाल अशोक का दृक्ष, कान्तः=सुन्दर, केसरश्च=बकुलवृक्ष है । एकः=उन दोनों में पहला अशोकदृक्ष, मया सह=मेरे साथ, तव=तुम्हारी, सख्या=सखी के (मेरी प्रिया का), वामपादाभिलाषी=बायें वरण के प्रहार का इच्छुक (है), अन्यः=और दूसरा बकुलवृक्ष, दोहदच्छदप्तना=दोहद-संस्कार के बहासे अस्याः=उस तुम्हारी सखो के, वदनमदिराम्=मुँह की मदिरा की, काङ्क्षति=चाहता है ॥

भावार्थः—हे मेघ ! तस्मिन् क्रीडापवंते कुरबकवृक्षावेष्टिस्य मालती-निकुञ्जस्य चच्चलकिसलयः रक्ताशोकः मनोहरः बकुलश्च समीपस्थौ वतंते । तयोरेकः रक्ताशोकः मया साकं त्वत्सख्याः (मतिप्रयायाः) वामचरण-प्रहारम्, अपरो बकुलश्च मुखमद्वाकाङ्गति ॥ १५ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! उस क्रीडापवंत पर कुरबक के बाडे (घेरे) से घिरे मालती-निकुञ्ज के समीप चच्चल किसलय वाला रक्त अशोक और सुन्दर बकुल वृक्ष हैं । उनमें अशोक मेरे साथ तेरी नखों अर्थात् मेरी प्रिया के बायें पैर के प्रहार को, एवं बकुल उसकी मुँह की मंदिरा को चाहता है ।

समाप्तः—कुरबका एव वृत्तिः यस्य सः—कुरबकवृत्तिः (बहु०) तस्य । माघवीनां मण्डपः—माघवीमण्डपः (ष० तद०) तस्य । चलानि किसलयानि यस्य सः चलकिसलयः (बहु०) रक्तश्चासी अशोकः रक्ताशोकः (कर्म०) वामश्चासी पादः—वामपादः (कर्म०) वामपादमभिलषति तच्छीलः इति वामपादाभिलाषी (उपपद०) । दोहदस्य छथ=दोहदछदम् (ष० तद०) तेन ।

कोशः—अतिमुक्तः पुण्ड्रकस्याद्वासन्ती माघवी लताः, इत्यमरः । अथ केसरे बकुलो वञ्जुलः, इत्यमरः । कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपघयश्छदमकैतवे, इत्यमरः ।

टिप्पणी—कुरबक—यह वसन्तच्छतु में खिलनेवाला पुष्प-विशेष है । **प्रत्यासन्नी—**‘प्रति’ एवं ‘अ’ उपसर्गपूर्वक ‘सद’ धातु से ‘क’ प्रत्यय लाकर द्विवचन में प्रत्यासन्नी ऐसा रूप बनता है । **माघवी—**मध्यो भवा इस विग्रह में ‘मध्य’ शब्दसे ‘तत्र भवः’ इस सूत्र से अण् प्रत्यय करके स्त्रीत्व विवक्षा में ढोप करके बुद्धादि करके माघवी रूप निष्पन्न होता है । **चलानि—**चलन्तीति चलानि संचलन अर्थ में विद्यमान ‘चल’ धातु से ‘नन्दिग्रहिपचादिभ्यः’ इस सूत्र से पचादित्वात् अच् प्रत्यय करके नपुंसकत्व की विवक्षा में बहुवचन में ‘चलानि’ रूप निष्पन्न होता है । **रक्ताशोकः—**अशोक दो प्रकार के होते हैं (१) श्वेत पुष्पवाला (२) रक्त पुष्पवाला । श्वेत पुष्पवाला अनुष्ठान

(सिद्धि) का उपयोगी है और रक्ताशोक कामवद्धंक है। कान्तः—कान्त अर्थ में विद्यमान “कम्” धातु से “णिच्” प्रत्यय करके “कामि” धातु बनाकर तब “क्” प्रत्यय करके “कान्त” रूप निष्पत्ति होता है। दोहद—यह एक कवि-प्रसिद्ध क्रियाविशेष है। अर्थात् असमय में पेड़ों में फूल को विकसित करने के लिए जो क्रियाएँ स्त्रियों द्वारा की जाती हैं वह “दोहद” कही जाती हैं। वह भिन्न-भिन्न फूलों के लिए भिन्न-भिन्न तरीके से किया जाता है। अतः अशोक के लिए बाएँ चरण का प्रहार और बकुल के लिए मुख मदिरा का कथन किया गया है। किसी ने लिखा है—

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुण्डूषसेकात् ।

पादाधातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणाऽलङ्घनाभ्याम् ।

मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमटुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाता-

च्चूतो गीतान्मेहर्विकसति च पुरो नर्तनात् कणिकारः ॥

इसका अर्थ है—स्त्रियों के स्पर्श से प्रियङ्गु वृक्ष, गण्डूष-मदा-सेचन ले बकुल वृक्ष, पैर के प्रहार से अशोक वृक्ष, तिलक वृक्ष दृष्टि से; कुरबक आलिङ्गन से, मन्दार वृक्ष नर्मवाक्य से, सुन्दर मधुर हँसी से चम्पक वृक्ष, मुँह से गाये गीत के द्वारा नमेरु वृक्ष और समक्षनृत्य से कणिकार विकसित होता है।

यहाँ ‘मया सह’ इसलिए दिया गया है कि यक्ष भी रतिसमय में प्रिया-पादाधात से रोमाञ्चित हुआ करता था, इस बात को छवनित करना था महाकवि को।

अलङ्कारः—यहाँ “मया सह” इस कथन के अनुसार “विशेषोक्ति” अलङ्कार है ॥ १५ ॥

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासर्याष्ट-

मूँले बद्धा मणिभिरनति-प्रौढ-वंश-प्रकाशैः ।

नालैः शिङ्गावलयसुभग्नंतिंतः कान्तया मे

यामाध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्दः ॥ १६ ॥

अन्वयः—च, तन्मध्ये, अनतिप्रौढवंश-प्रकाशीः, मणिभिः, मूले, बद्धा, स्फटिकफलका, काञ्चनी, वासयष्टिः । शिङ्जावलयसुभग्नैः, तालैः, मे, कान्तया, नर्तितः, वः, सुहृत, नीलकण्ठः, दिवसविगमे, याम्, अघ्यास्ते ।

व्याख्या—च=किंच, तन्मध्ये=रक्ताशोकबकुलमध्ये, अनतिप्रौढवंशप्रकाशीः=नातिविलट्टवेणुकान्तिभिः, मणिभिः=रत्नैः, मूले=पादे, बद्धा=संबद्धा, स्फटिक-फलका=स्फटिकमणिमय-पीठिका, काञ्चनी=हैमी, वासयष्टिः=निवासदण्डः, वर्तत इति शेषः । शिङ्जावलयसुभग्नैः=इवनिमत्कङ्कणश्रान्त्यैः, तालैः=करतल-व्यवनिभिः, मे=मम, कान्तया=प्रियया, नर्तितः=नृत्यकङ्कारितः, वः=युध्मा-कम्, मेघानामित्यर्थः । सुहृत=मित्रम्, नीलकण्ठः=मयूरः, दिवसविगमे=दिन-समाप्ती, प्रदोष इति भावः । याम्=वासयष्टिम्, अघ्यास्ते=अनुतिष्ठुति ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—च=और भी, तन्मध्ये=उस अशोक और बकुल वृक्ष के बीच में, अनतिप्रौढवंशप्रकाशीः=कोमल बीसों की कान्ति वाले, मणिभिः=मणियों से, मूले=जड़ में, बद्धा=बैंधी, स्फटिक-फलका=स्फटिक मणि की वेदिका वाली, काञ्चनी=सोने का, वासयष्टिः=निवासदण्ड (है) । शिङ्जावलय-सुभग्नैः=कङ्कणों की इवनियों से, सुन्दरतालैः=हाथ की तालियों से, मे=मेरी, कान्तया=प्रिया द्वारा, नर्तितः=नचाया गया, वः=तुम लोगों का, सुहृत=मित्र, नीलकण्ठः=मोर, दिवसविगमे=संध्याकाल में, याम्=जिस निवासदण्ड पर, अघ्यास्ते=बैठता है ॥ १६ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! तयोः रक्ताशोकबकुल-वृक्षयोमंध्ये मरकतमणिभिः बद्धामूलस्फटिकमणिमयपीठा ह्राटकमयी वासयष्टिविद्यते । सायंकाले मत्प्रियया शिखितकङ्कणसुन्दरैः करतलवादनैः नर्तितो मयूरो यामधिष्ठुति ॥ १६ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! उन रक्त अशोक और बकुल वृक्ष के बीच में कोमल बीस की प्रका से युक्त बिजियों की वेदिकावाल्डे और स्फटिकमणिमय पीठ से युक्त सोने की वासयष्टि है । शब्दायमान कङ्कणों से कर्णप्रिय करताल बजाकर मेरी प्रिया के द्वारा नचाया गया तुम लोगों का मित्र मयूर सायङ्काल जिस पर आकर बैठता है ॥ १६ ॥

समासः—तयोर्मध्ये = तन्मध्ये (ष० तद०) न अतिप्रीढाः=अनतिप्रीढः—
(नव०) अनतिप्रीढाश्च ते वंशाः=अनतिप्रीढवंशाः (कर्म०) अनतिप्रीढ-
वंशानामिव प्रकाशो येषान्ते=अनतिप्रीढवंश-प्रकाशाः (व्यष्टिकरण बहु०)
तैः । स्फटिकं फलकं यस्या सा स्फटिकफलका (बहु०) । वासस्य यष्टिः=वास-
यष्टिः (ष० तद०) । शिङ्गा प्रधानानि वलयानि शिङ्गावलयानि (मध्यम-
पदलोपी०), शिङ्गावलयैः सुभगाः=शिङ्गावलयसुभगाः (तृ० तद०) तैः ।
दिवसस्य विगमः दिवसविगमः (ष० तद०) तस्मिन् ।

कोशः—भूषणानान्तु शिङ्गजतम्, इत्यमरः । भयूरो बहिष्ठो बर्ही नीलकण्ठो
भुजङ्ग-भुक्, इत्यमरः । अथ मित्रं सखा सुहृत्, इत्यमरः ।

टिप्पणी—प्रीढाः—“प्र” उपसर्वपूर्वक “वह” धातु से “क्त” प्रत्यय
करके “हो ढः” इस सूत्र से धातु के आकार को ढत्व करके “व” को सम्प्रसारण
करके “सम्प्रसारणाच्च” इस सूत्र से पूर्वरूप करके प्र + ठ ऐसी स्थिति में
“प्रादूहोदोद्येष्येषु” इस सूत्र से दृढ़ि करके बहुवचन में “प्रीढाः” ऐसा रूप
निष्पन्न होता है । अनतिप्रीढवंशप्रकाशैः—“वन्ना” नामक रत्नविशेष की
कान्ति हरी होती है, उसकी हरियाली कच्चे बाँस के समान होती है, क्योंकि
पके बाँस की हरियाली मलिन हो जाती है, बतः कवि ने “अनतिप्रीढः” ऐसा
विशेषण लगाया वंश में । बद्धा—“बन्ध्” धातु से क्त प्रत्यय करके स्त्रीत्वविवक्षा
में टाप् करके “बद्धा” ऐसा रूप निष्पन्न होता है । वासः—वत्तं वासः=—
“वस” धातु से भाव में कन् प्रत्यय करके दृढ़ि करके “वास” ऐसा रूप निष्पन्न
होता है । शिङ्गा—अव्यक्त अर्थ में विद्वामान “शज्जिः” धातु से इ की इसंश्वा
होने के कारण “इदितो नुम्बातोः” इस सूत्र से नुम् करके परसवर्णं बादि करके
“विदिभदादिभ्योऽङ्गः” इस सूत्र से अङ् प्रत्यय करके स्त्रीत्वविवक्षा में “टाप्”
करके शिङ्गा ऐसा रूप निष्पन्न होता है । कहीं-कहीं “शिङ्गत्वलयसुभगैः”
ऐसा पाठान्तर मिलता है, परन्तु वह पाठ अशुद्ध है । क्योंकि “लटः शत्-
शानचावप्रथमाऽसमानाधिकरणे” इस सूत्र से जो शत् और शानच् प्रत्यय होता
है वह क्रम से परस्परपदी धातु से लृत् और आत्मनेत्री से “शानच्” प्रत्यय

होता है। प्रकृत धातु अनुदात्ते त होने के कारण “अनुदात्तङ्गित आत्मनेपदम्” इस सूत्र से आत्मनेपदसंज्ञक ही है। अतः शान्त् ही होगा शत् नहीं। यामव्यास्ते—यहाँ “अधि” उपसर्वपूर्वक “आस्” धातु के योग में “अधिशीङ्गस्याऽसां कर्म” इस सूत्र से आधार रूप “यत्” शब्द को कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है।

अलङ्कारः—यहाँ लोकातिशय समृद्धि का वर्णन होने के कारण “उदात्” एवं “अनतिप्रौढवंशप्रकाशः” यहाँ “लुप्तोपमा अलङ्कार” है ॥ १६ ॥

एभिः साधो ! हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषो शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा ।
क्षामच्छायां भवनमधुना मद्वियोगेन तूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिरुद्याम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे साधो ! हृदयनिहितैः, एभिः, लक्षणैः, द्वारोपान्ते, लिखित-वपुषो, शङ्खपद्मौ, च, दृष्ट्वा, तूनम्, अधुना, मद्वियोगेन, क्षामच्छायम्, भवनम्, लक्षयेथाः, सूर्यापाये, कमलम्, स्वाम्, अभिरुद्याम्, न, पुष्यति, खलु ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे साधो ! = हे भद्र !, हृदयनिहितैः = चित्तसच्चितैः, एभिः = पूर्वोक्तैः, लक्षणैः = चित्रैः, द्वारोपान्ते = कपाटपाशवंयोः, लिखित-वपुषो = चित्रितशरीरो, शङ्खपद्मो = एतनामकनिष्ठिविशेषो, च दृष्ट्वा = अवलोक्य च, तूनम् = अवश्यम्, अधुना = इदानीम्, मद्वियोगेन = मम विरहेण, क्षामच्छायम् = कृशकान्ति, भवनम् = गृहम्, लक्षयेथाः = जानीहि । सूर्यापाये = दिनकरास्ते, कमलम् = पदम्, स्वकीयाम्, अभिरुद्याम् = कान्तिम्, न पुष्यति = न धारयति ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—हे साधो=हे सज्जन !, हृदयनिहितैः=हृदय में रखे, एभिः = इन पहले कहे गये, लक्षणैः=चित्रों से, द्वारोपान्ते=दरवाजे के दोनों ओर,

लिखितवपुष्टौ = चित्रित आकृति वाले, शङ्खपद्मौ = शङ्ख और पद्म, इन दो विष्विविशेषों को, चदृष्टवा = देखकर, नूनम् = अवश्य ही, अभुता = इस समय, मद्विद्योगेन = मेरे प्रवास रूप वियोग से, क्षामच्छायम् = मलिन कान्तिवाले, भवनम् = (मेरे) घर को, लक्षयेथाः = जानोगे। सूर्यापाये = सूर्य के न रहने पर अर्थात् सूर्यस्त हो जाने पर, कमलम् = कमल, स्वाम् = अपनी स्वाभाविक, अभिरूप्याम् = शोभा को, न पुष्यति = धारण नहीं करता ।

भावार्थः—हे भद्र ! हृदयस्थैः पूर्वोक्तैस्तोरणादिभित्तिः द्वार-पाशवंयोरा-
लिखितौ शङ्खपद्माभिषेषौ निष्ठी चावलोक्याभुता मत्प्रवासरूप-विरहेण मलिन-
शोभं मे गृहं निश्चन्तु । सूर्यास्ते कमलं स्वकीयां स्वाभाविकों शोभां न
धारयति ॥ १७ ॥

हिन्दी—हे भद्र ! हृदय में रखे पहले कहे गये तोरण आदि चिह्नों से
तथा दरवाजे के दोनों ओर चित्रित शङ्ख और पद्म नामक विष्विविशेष को
देखकर इस समय मेरे प्रवास रूप विरह के कारण क्षीण कान्ति वाले मेरे
घर को जानोगे । सूर्य के न रहने पर कमल भी अपनी शोभा को नहीं धारण
करता ॥ १७ ॥

समाप्तः—हृदये निहितानि = हृदय-निहितानि (स० तद०) तैः द्वारयोः
उपात्तः = द्वारोपान्तः (ष० तद०) तस्मिन् । लिखिते वपुष्टौ ययोस्ती लिखित-
वपुषो (बह०) । शङ्खश्च पद्मश्च = शङ्ख-पद्मो (इतरेतरद्वन्द्वः) तौ । मम
वियोगः मद्विद्योगः (ष० तद०) तेन । क्षामा छाया यस्य तद् क्षामच्छायम्
(बह०) । सूर्यस्य अपायः सूर्यापायः (ष० तद०) तस्मिन् ।

कोशः—साधुः समर्थो निपूणो वा, इति काशिकायाम् । निषिर्ना शेवधि-
र्भेदाः पद्मक्षङ्खादयो निषेः, इत्यमरः । अभिरूप्या नाम शोभयोः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—निहितम्—नि उपसर्वपूर्वकं धारण एवं पोषण वर्ये में विच्च-
मान “धा” धातु से “क” प्रत्यय करके “दधातेरेहि” इस सूत्र से धातु के स्थान
में “हि” आदेश करके “निहितम्” ऐसा रूप विष्वम् होता है । शङ्खपद्मो—ये

कुबेर के नव निधियों में से दो निधियाँ हैं। कुबेर के नव निधियों के नाम इस प्रकार हैं—

“महापदमश्च पदमश्च शङ्खो मकरकच्छपी ।

मुकुन्द-कुन्द-नीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥

दृष्ट्वा—दर्शनार्थक “दृश्” धातु से क्त्वा प्रत्यय करके “दृष्ट्वा” ऐसा निष्पन्न होता है। वियोगः—“वि” उपसर्गपूर्वक “योगार्थक “युज्” धातु से “भाव में घब्” प्रत्यय करके वियोगशब्द निष्पन्न होता है। क्षामः—“क्षी” धातु से “क्त्” प्रत्यय करके धातु को आत्म करके “क्षायो मः” इस सूत्र से प्रत्यय के तकार को “म” आदेश करके “क्षामः” ऐसा रूप निष्पन्न होता है। लक्षयेथा:—णिजन्त ‘लक्षि’ धातु के मध्यमपुरुष के एकवचन का यह रूप है।

अलङ्कार—यहाँ “विम्ब-प्रतिविम्ब भावमूलक वैघर्म्य “दृष्टान्त” अलङ्कार है। यहाँ सूर्य के न रहने से कमल की शोभा का ह्रास रूप व्यतिरेक दृष्टान्त को देकर यक्ष ने अपने विरह में अपने भवन की कान्ति की क्षीणता का प्रतिपादन किया है ॥ १७ ॥

मत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसम्पातहेतोः

क्रीडाक्षेत्रे प्रथमकथिते रम्यसानौ निषेष्यः ।

अहंस्थन्तर्भवनपतितां कर्तुभल्पाल्वभासं

खदोतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥१८॥

अन्वयः—शीघ्र-सम्पातहेतोः, सद्यः, कलभतनुताम्, मत्वा, प्रथमकथिते, रम्यसानौ, क्रीडाक्षेत्रे, निषेष्यः अल्पाल्वभासम्, खदो-ताली-विलसितनिभासम्, विद्युदुन्मेषदृष्टिम्, अन्तर्भवनपतिताम्, कर्तुम्, अहंसि ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे चेष ! शीघ्रसम्पात-हेतोः=त्वरितप्रवेशादैम्, सद्यः=तत्कालम्, कलभतनुताम्=करिष्यावक-तरीरताम्, मत्वा=आसाद, प्रथमकथिते=पूर्वोक्ते,

रम्यसानी॒ = मनोहर-शिखरे, क्रीडाशीले॑ = क्रेलिपवंते, निषणः॑=उपविष्टः॑ (सन्)
बल्पाल्पभासम्॑=मन्द-मन्द-प्रकाशम्, खद्गोताली॑-विलसितनिभाम्॑=खद्गोतपङ्कित-
स्फुरित-समाम्, विद्युदुन्मेषदृष्टिम्॑ = तदिज्योति-दूषम्, अन्तभंवनपतिताम्॑=॒
गृहमध्य-प्रविष्टाम्, करुंम्॑ = सम्पादयितुम्, अहंसि॑ = समर्थोऽसि ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—शीघ्रप्रवेश के लिए, सद्बः॑=तत्काळ,
कलभतनुताम्॑=हाथी के बच्चे के शरीर के तरह शरीर को, गत्वा॑=बनाकर,
प्रथमकथिते॑=पहले कहे गये, रम्यसानी॑=सुन्दर शिखर वाले, क्रीडाशीले॑=॒
क्रीडापवंत पर, उपविष्टः॑ (सन्)=बैठे हुए (स्थित होकर), बल्पाल्पभासम्॑=॒
मन्द-मन्द प्रकाश वाली, खद्गोतालीविलसितनिभाम्॑=जुगुनुओं की पङ्किकी॑
चमक के समान, विद्युदुन्मेषदृष्टिम्॑=विजली की चमक रूपी दृष्टि को, अन्त-
भंवनपतिताम्॑=बीच घर में ढालने के लिए, (तुम) अहंसि॑=योग्य हो
(समर्थ हो) ॥ १८ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! शीघ्रप्रवेशार्थं करिशिशु-शरीर सदृशं स्वशरीरं
कृत्वा पूर्वविजिते रम्य-शिखरे क्रीडा-पवंते स्थितः सन् ज्योतिरङ्गजस्फुरितसमां
तदितप्रकाश-रूपां दृष्टिं गृहमध्ये पातयितुं त्वं समर्थोऽसि ॥ १८ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! शीघ्रप्रवेश के लिये, तुरंत हाथी के बच्चे के समान
अपने शरीर को बनाकर पहले कहे गये सुन्दर शिखर वाले क्रीडापवंत पर
स्थित होकर मन्द-मन्द प्रकाश वाली, जुगुनुओं की बङ्किकी टिमटिमाहट के
समान विजली की चमक रूपी दृष्टि को घर के भीतर ढालने में तुम समर्थ हो ॥ १८ ॥

समस्तः—शीघ्रं सम्पातः॑=शीघ्रसम्पातः॑ (सुप्तुपा०) शीघ्रसम्पात एव
हेतुः॑=शीघ्रसम्पातहेतुः॑ (रूपक) तस्य । कलभत्येव कलुर्यस्व च कलभत्कुः॑
(व्य० बहु०) तस्य भावः॑ कलभतनुता ताम् । प्रथमं कथितः॑ प्रथमकथितः॑
(सुप्तुपा०) । रम्यः॑ सानुर्बस्य सः॑ रम्यसानुः॑ (बहु०) तस्मिन् । क्रीडाझ॑ शैलः॑
क्रीडाशीलः॑ (भव्यमपदलोपी०) तस्मिन् । बल्पाल्प्या भाः॑ यस्या सा बल्पाल्प-
भासा॑ (बहु०) ताम् । ते खीरन्ते इति खद्गोतः॑ (स० च०) सद्गोतानाम् जाली

खद्योताली (ष० तद०) तस्याः विलसितम् = खद्योतालीविः सितम् (ष०तद०)
तेन सदूशी खद्योताली-विलसितनिभा (त्र० तद०) ताम् । विद्युत उन्मेषः
विद्युद्गुन्मेषः (ष० यद०) विद्युद्गुन्मेष एव दृष्टिः = विद्युद्गुन्मेषदृष्टिः (रूपक)
ताम् । भवनस्य अन्तः अन्तर्भवनम् (ष० तद०) अन्तर्भवनं पतिता = अन्त-
भवनपतिता (द्वि० तद०) ताम् ।

कोशः—सम्पातः पतने वेगे प्रवेशे वेद संविदे, इति शब्दार्णवः । कलभः
करिशावकः, इत्यमरः । आश्चर्विद्युतिदीपयः, इत्यमरः । तडित्सादामिनी विद्यु-
च्चच्छ्वला चपला अपि, इत्यमरः । निभ-संकाशनीकाशप्रतीकाशोपभादयः,
इत्यमरः ।

टिप्पणी—संपातः—संपतनं संपातः = “सम्” उपसर्गपूर्वक पतनार्थक
“पत्” धातु से भाव में “धव्” प्रत्यय करके “संपात्” ऐसा रूप निष्पन्न
होता है । “सम्पातहेतोः” यहाँ “धष्ठी हेतुप्रयोगे” इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति
हुई है । गत्वा—“म्” धातु से कत्वा प्रत्यय करके गत्वा रूप बनता है ।
कलभ—बत्तीस साल की उम्र के हाथी के बच्चे को “कलभ” कहते हैं ।
निषणः—नि उपसर्गपूर्वक “सद्” धातु से “क्त्” प्रत्यय करके नत्व षत्व षत्व
आदि करके “निषणः” ऐसा रूप निष्पन्न होता है । अल्पाऽल्पभासः—यहाँ
“अतिशयेन अल्पा” इस विग्रह में “प्रकारे गुणवचनस्य” इस सूत्र से “अल्प”
की द्विकृति हुई है । **अन्तर्भवनम्**—यहाँ “राजदन्तादिषु परम्” इस सूत्र से
“अन्तर” इसका पूर्व निपात हुआ है ।

अलङ्कारः—प्रस्तुत पद्म में “कलभतनुताम्” एवं “खद्योतालीविलसित-
निभाम्” इन दोनों जगह उपमा एवं “विद्युद्गुन्मेषदृष्टिम्” यहाँ रूपक अलङ्कार
है । तथा दोनों अलङ्कारों का अङ्गाङ्गभाव होने के कारण “संकर”
अलङ्कार है ॥ १८ ॥

तन्मी इयामा शिखरिदशना पवचविम्बाघरोष्टी
मझेक्षामा चकितहरिणी-प्रेक्षणा निम्ननाभिः ।

श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्ना स्तनाम्यां

या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥१९॥

अन्वयः— तन्वी, श्यामा, शिखरिदशना, पक्वबिम्बाधरोष्टी, मध्येक्षामा, चकित-हरिणी-प्रेक्षणा, निम्ननाभिः, श्रोणी-भारात्, अलसगमना, स्तनाम्याम्, स्तोकनम्ना, युवतिविषये, धातुः, आद्या, सृष्टिः, इव, या, तत्र, स्यात् ॥ १९ ॥

ध्यास्या— स्वभवन-वर्णनाऽनन्तरं प्रिया स्वरूपपरिचयं ददाति श्लोक-द्वये—(हे मेघ !) तन्वी=कृशाङ्गी, तु स्थूला, श्यामा=तसकाञ्चनवर्णनाभि, युवतिर्वा, शिखरिदशना = सुदती, पक्वबिम्बाधरोष्टी = परिणतविम्ब-फलोष्टी, मध्येक्षामा = कृशोदरी, चकितहरिणीप्रेक्षणा = भयभीतकुरङ्गी-नयना अनेनाऽस्या: पद्मिनीत्वं व्यज्यते । निम्ननाभिः = गम्भीरनाभिः, श्रोणी-भारात्= नितम्बस्थोत्यात्, अलसगमना = मन्दगमिनी, स्तनाम्याम् = कुचाभ्याम्, स्तोक-नम्ना=ईषदवनता । युवतिविषये=ललितासम्बन्धे, धातुः=स्तष्टुः, ब्रह्मणः इति भावः, आद्या = प्रयमा, सृष्टिरिव=रचनेव “वर्तमानेति शेषः” तादृशी या = पूर्वोक्तगुणसम्पन्ना स्त्री, तत्र=मदगृहे, भवेत् = स्यात्—॥ १९ ॥

शब्दार्थः— तन्वी=दुबली, श्यामा = तपाये हुए सोने के रंग की, अथवा युवती, शिखरिदशना = तीखे दाँतों वाली, पक्वबिम्बाधरोष्टी = पके हुए बिम्ब के समान अधरोष्टवाली, मध्येक्षामा=पतली कमरवाली, चकितहरिणी-प्रेक्षणा=डरी हुई मृगी के समान (चच्चल) आँखोंवाली, निम्ननाभिः = गहरी नाभिवाली; श्रोणीभारात्=नितम्ब के भार से, अलसगमना = मन्द-मन्द चलने वाली, स्तनाम्याम् = स्तनों से, स्तोकनम्ना = कुछ-कुछ ज्ञाकी हुई, युवतिविषये=स्त्रियों के विषय में, धातुः=स्तष्टा (ब्रह्मा) की, आद्या = पहली, सृष्टिरिव=रचना की तरह, या = जो स्त्री, तत्र = वहाँ मेरे घर में, स्यात् = हो ।

भावार्थः— हे मेघ ! कृशाङ्गी, युवति, दाडिमबीजेवदन्तशालिनी, कृशोदरी, पक्वबिम्बाधरोष्टी, भयभीतमृगीव चपलतयना, गम्भीरनाभिः, नितम्बभारान्मन्द-गामिनी, कुचभारेणेषदवनता, युवतिविषये ब्रह्मणः प्राथमिकी रचनेव या स्त्री मदगृहे भवेत् (तां मतपत्नीं जानीया:) इत्यग्रतनेन श्लोकेन सम्बन्धो विद्यते । १९।

हिन्दी—हे मेघ ! दुकली युवती, तीखे दाँतों वाली, पके हुए बिम्ब (कुंदरु) के समान निचले होंठ वाली, पतली कमरवाली, भयभीत मृगी के समान चच्चल बाँखों वाली, गहरी नाभि वाली, नितम्बभार से धीरे-धीरे चलने वाली, स्तनभार से (आगे की ओर) कुछ झुकी हुई-सी, स्त्रियों के विषय में ब्रह्मा की पहली रचना की तरह जो स्त्री वहाँ मेरे घर में हो (उसे मेरी पत्नी समझना, यह आगे से सम्बद्ध है) ।

समासः—शिखरिणो दन्ताः यस्याः सा शिखरिदशना (बहु०) पक्वं च तद् विम्बं पक्वविम्बम् (क० धा०) । अधरञ्चासौ ओष्ठश्च अधरोष्ठः (कर्म०) पक्वविम्बमिव अधरोष्ठो यस्याः सा पक्वविम्बाधरोष्ठी (बहु०) । मध्येकामः यस्याः सा मध्येकामा (व्य० बहु०) । चकिता चासौ हरिणी चकितहरिणी (क० धा०) चकितहरिणा इव प्रेक्षणं यस्याः सा चकितहरिणीप्रेक्षणा (व्यधि० बहु०) । निम्ना नाभिर्यस्याः सा निम्ननाभिः (बहु०) । श्रोण्याः भारः = श्रोणीभारः (ष० तद०) । अलसं गमनं यस्याः सा अलसगमना (बहु०) । स्तोकं नग्रा=स्तोकनग्रा (सुप्सुप्ता०) । युवतयः विषयः युवतिविषयः (रूपक०) तस्मिन् ।

कोशः—इलक्षणं वर्णं कृशं तनु, इत्यमरः । श्यामा यौवनमध्यस्या, इत्युत्पलमाला । “शीते सुखोष्णा सर्वाङ्गी ग्रीष्मे या सुखशीतला । तसकाच्चन्वणीभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ॥” इत्याहुः भट्टिकाव्यस्य टीकाकृतः । शिखरं शैलवृक्षाग्रकक्षापुलककोटिषु, इति विश्वः ।

टिप्पणी—तन्वी “तनु” यह दोर्बल्यरूप गुण का वाचक शब्द है—अतः “बोतो गुणवचनात्” इस सूत्र से ढीप हुआ है । श्यामा—इस स्त्री की विशेषता होती है कि गर्भी के महीनों में इनके शरीर शीतल और ठंडे समय में उष्ण हो जाते हैं । जैसा कि कहा भी गया है—

कूपोदकं वटच्छाया श्यामा नारीष्टिकागृहम् ।
शीतकाले भवेदुष्णं उष्णकाले च शीतलम् ॥

अर्थात् कुएँ का जल, वट (बरगद) की छाया, श्यामा स्त्री और इंटे का घर; ये सब ठंडे समय में गर्म और गर्म समय में ठंडे हो जाते हैं। शिखरिदशना:- अभिधान-चिन्तामणिकार 'शिखर' शब्द का अर्थ पके हुए दाढ़िम का बीज करते हैं। वे कहते हैं—'पक्वदाढ़िमवीजाभं माणिक्यं शिखरं विदुः' पक्व-विम्बाधरोष्ठी—यहाँ अधरोष्ठ में अधरश्चास्ती ओष्ठश्च इस तरह कर्मधारय समाप्त हो जाने पर प्राप्त दृढ़ि को रोककर 'ओत्वोष्ठयोः समाप्ते वा' इस सूत्र से (अधर+ओष्ठ) यहाँ विकल्प से पररूप हुआ है। एवं पक्व विम्ब के साथ पुनः समाप्त होने के पश्चात् 'नासिकोदरीष्ठज्ञादन्तकर्णश्युज्ञाच्च' इस सूत्र से विकल्प से 'झोप्' हुआ है तब 'पक्वविम्बाधरोष्ठी' रूप बना है, 'विम्ब' कुंदरु फल को कहते हैं। यह लाल रंग का होता है, अतः यहाँ उसे उपमानरूप में ग्रहण किया गया है। मध्येक्षामा—यहाँ 'मध्य' शब्द से आयी सप्तमी-विभक्ति का समाप्त होने पर भी 'अमूर्धमस्तकात् स्वाज्ञादाकामे' इस सूत्र से अलुक हो गया है। आद्या = आदी भवा आद्या = 'आदि' शब्द से 'दिगादिम्यो यत्' इस सूत्र से यत् प्रत्यय करके स्त्रीत्व की विकास में टाप् हो गया है।

अलङ्कारः—यहाँ 'अधर' एवं 'ओष्ठ' इन दो पर्यायवाची शब्दों की आवृत्ति होने से 'पुनरुक्तवदाभास' 'पक्वविम्बाधरोष्ठी' यहाँ लुप्तोपमा, 'चकित-हरिणी-प्रेक्षणा' यहाँ पर भी लुप्तोपमा और 'सृष्टिरात्रेव' इस जगह 'उत्तरेका' अलङ्कार है। परच्च इन सब अलङ्कारों की परस्पर निरपेक्षता होने से संसृष्टि अलङ्कार है ॥ १९ ॥

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
 दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकोमिवैकाम् ।
 गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
 जातां मन्ये शिशिरमयितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥२०॥

अन्वयः—सहचरे, मयि, दूरीभूते, चक्रवाकीम्, इव, परिमितकथाम्, एकाम्, ताम्, मे, द्वितीयम्, जीवितम्, जानीथाः । गाढोत्कण्ठाम्, बालाम्, गुरुषु, एषु, दिवसेषु, गच्छत्सु, शिशिरमयिताम्, पद्मिनीम्; वा, अन्यरूपाम्, जाताम्, मन्ये ।

व्याख्या—(हे मेघ !) सहचरे=सहगामिनि, मयि=पत्यो, यक्षे, दूरी-भूते=दूरज्ञते सति, चक्रवाकीमिव=चक्रवाक प्रियामिव, परिमितकथाम्=अत्यल्पभाषणीम्, एकाम्=एकाकिनीम्, ताम्=पूर्ववर्णितां मत्प्रियाम्, मे=यक्षस्य, द्वितीयम्=अन्यम्, अपरमित्यर्थः, जीवितम्=जीवनम्, जानीयाः=अवगच्छेः । एतेन तस्यां मृतौ मद्जीवननाशोऽवश्यम्भावीति अज्ञयते । गाढोत्कण्ठाम्=अत्युत्सुक्याम्, बालाम्=नवोढाम् अष्टदशहायतामित्यर्थः । गुरुषु=दीर्घेषु, एषु=वर्तमानेषु, दिवसेषु=शापदिनेषु, गच्छत्सु=यातेषु सत्सु, शिशिर-मयिताम्=तुषारपीडिताम्, पंचिनीम्=कमलिनीम्, वा=यथा, अन्यरूपाम्=अपराकृतिम्, जाताम्=भूताम्, मन्ये=संभावयामि, हिमविकृतरूपा सा विरहिणी अन्यरूपा भविष्यति इति तर्कयामि इति भावः ॥ २० ॥

शब्दार्थः—(हे मेघ !) सहचरे=साथी, मयि=मेरे, दूरीभूते=दूर होने पर, चक्रवाकीमिव=चक्रई के समान, परिमितकथाम्=बहुत कम बोलनेवाली, एकाम्=अकेली, ताम्=उस तन्वी आदि इलोक से वर्णिता मेरी प्रिया को, मे=मेरा, द्वितीयम्=दूसरा, जीवितम्=जीवन (प्राण), जानीयाः=समझना । गाढोत्कण्ठाम्=(मेरे विषय में) अत्यधिक उत्सुक, बालाम्=(अट्टारह वर्ष की) नवोढा को, गुरुषु=लम्बे दुर्वंह, एषु=इन, दिवसेषु=शाप के दिनों में, गच्छत्सु=बीतने पर, शिशिरमयिताम्=हिम से पीडित, पंचिनीम्=कमलिनी के, वा=समान, अन्यरूपाम्=किसी दूसरे ही रूप को, जाताम्=प्राप्त, अर्थात् कुछ की कुछ बन गयी होगी ऐसा, मन्ये=सोचता हूँ ॥ २० ॥

भावार्थः—हे मेघ ! सहगामिनि मयि दूरस्थिते सति सहवियुक्तां चक्रवाकीमिव अल्पवाचामेकाकिनीं तां पूर्वप्रकारेण वर्णितां मत्प्रियां मेऽपरं जीवनं जानीयाः । मद्विषये अत्युत्सुकां नवोढामष्टादशवर्षीयां (अहम्) एषु दुर्वंहेषु शाप-दिवसेषु गच्छत्सु तुषारपीडितां कमलिनीमिवान्यरूपां तर्कयामि ॥ २० ॥

हिन्दी—(हे मेघ !) मुझ साथी के दूर हो जाने पर चक्रई के समान कम बोलने वाली अकेली उस पूर्ववर्णिता स्त्री को मेरा दूसरा जीवन (प्राण) समझना वर्थात् मेरी प्रिया समझना । शाप के इन दुर्वंह दिनों के बीतने पर

(मैं तो) उस नवोढा को पाले की मारी कमलिनी की तरह कुछ की कुछ हो गयी होगी, ऐसा अनुमान (सोच रहा) कर रहा हूँ ।

समासः—परिमिता कथा यस्याः सा परिमितकथा ताम् (बहु०) गाढा उत्कण्ठा यस्याः सा गाढोत्कण्ठा (बहु०) ताम् । शिशिरेण मधिता शिशिरमधिता (त्र० तद०) ताम् । अन्यं रूपं यस्याः सा अन्यरूपा (बहु०) ताम् ।

कोशः—इव वद वा यथा शब्दाः, इति दण्डी । उपमायां विकल्पे वा, इत्य-
मरः । गाढ-वाढ-दृढानि च, इत्यमरः । हेमन्तः शिशिरोऽस्त्रियाम्, इत्यमरः ।
उत्कण्ठोत्कलिकेलिके समे, इत्यमरः ।

टिप्पणी—सहचरे—सहचरतीति इस विग्रह में ‘सह’ उपपदपूर्वक चर्द-
धातु से अच् प्रत्यय करके ‘सहचर’ ऐसा शब्द निष्पन्न होता है । उक्त रूप
सप्तमी विभक्ति का है । दूरीभूते—अदूरं दूरं यथा सम्पाद्येत इस विग्रह में ‘दूर’
उपपदक ‘भू’ धातु से क्त प्रत्यय करके एवं ‘दूर’ शब्द से ‘चिव’ प्रत्यय करके
‘चौं च’ इस सूत्र से दीर्घ होकर ‘दूरीभूत’ शब्द निष्पन्न होता है । उक्त रूप
सप्तमी विभक्ति का है । चक्रवाकी—चक्रवाकत्वजातिविशिष्टा स्त्री इस विग्रह
में ‘चक्रवाक’ शब्द से ‘जातेरस्त्रीविषयादयोपघात’ इस सूत्र से ‘डीष्’ प्रत्यय
होकर चक्रवाकी बनता है । कविप्रसिद्धि है कि चक्रवाक और चक्रवाकी रात में
वियुक्त हो जाते हैं, यहाँ तक कि यदि इन्हें एक पिजरे में भी बन्द कर दिया
जाय तो ये आपस में दोनों दो तरफ मुँह करके रात व्यतीत करते हैं । इस
उक्ति में सत्यता कहाँ तक है यह भगवान् ही जाने ।

इस वियोग के सम्बन्ध में एक लोककथा भी सुनी जाती है कि ‘सीताहरण’
के पश्चात् रामचन्द्रजी ने सीताजी की खोज और उनका पता बन-लताओं से
पूछते हुए एक चक्रवाक दम्पति से भी पूछा पर उन दोनों ने इनका उपहास
कहते हुए नकारात्मक उत्तर दिया, इस पर दुःखित होकर रामचन्द्रजी ने शाप
दे दिया कि ‘तुम चक्रवाक-दम्पतियों का प्रति-रात वियोग हुआ करे’ और
तभी से ये दोनों रात में नहीं मिलते हैं ।

कथा—कथनं कथा वाक्य-प्रबन्ध अर्थ में विद्यमान ‘कथ’ धातु से भाव में ‘चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चंश्च’ इस सूत्र से अङ् प्रत्यय करके स्त्रीत्वविवक्षा में ‘टाप्’ करके ‘कथा’ शब्द निष्पन्न होता है। द्वितीयम्—‘द्विः’ शब्द से पूरण अर्थ में ‘द्वेस्तीयः’ इस सूत्र से ‘तीय’ प्रत्यय करके ‘द्वितीयः’ ऐसा बनाया जाता है। यह नपुंसकलिङ्ग का रूप है। जीवितम्—प्राणधारण अर्थ में ‘जीव’ धातु से भाव में ‘नपुंसके भावे क्तः’ ‘जीवितम्’ रूप निष्पन्न होता है। उत्कण्ठा—यद्यपि ‘उत्कण्ठा’ का प्रसिद्ध अर्थ ‘अौत्सुक्य’ है, परन्तु महामहो० मल्लिनाथजी ने “रागे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या । संशोषणी तु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बृद्धाः ॥” इस कोश का उद्धरण देकर उसका अर्थ ‘विरहवेदना’ किया है। बालाम्—यहाँ ‘बाला’ शब्द का अर्थ अविवाहित कुमारी नहीं समझना चाहिए प्रत्युय १८ वर्ष की ‘किशोरी’ ऐसा समझना चाहिए ।

महाकवि का इस श्लोक का मूल आधार वाल्मीकिरामायण के अशोक-वाटिकास्थित सीता के वर्णन प्रसंग में कहा गया श्लोक ही जान पड़ता है—

हिम-हृतनल्नीव नष्टशोभा, व्यसनपरम्परया निपीड्यमाना ।

सहचर-रहितेव चक्रवाकी, जनकसुता-कृपणां दशां ददर्श ॥

(सुन्दर०, १६।४०)

अलङ्कारः—प्रस्तुतः पद में यक्षपत्नी का एवं यक्ष (जीवित) का अभेद कथन भेद रहने पर भी किया गया है, अतः भेद में अभेद अद्यवसायमूलक ‘अतिशयोक्ति’, ‘दूरीभूते……चक्रवाकीमिवैकाम्’ यहाँ पूर्णोपमा एवं ‘पदिमती-वाऽन्यरूपाम्’ यहाँ भी उपमा है और तीनों निरपेक्ष भाव से हैं अतः ‘संसुल्टि’ अलङ्कार है ॥ २० ॥

तूनं तस्याः प्रबलदितोच्छूननेत्रं प्रियाया

निःश्वासानामश्चिशिरतया भिन्नवर्णाधिरोष्ठम् ।

हस्तन्यस्तं मुखमसकल-व्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोदेवन्यं त्वदनुसरणकिलष्टकान्तेविभर्ति ॥ २१ ॥

अन्वयः—प्रबलरुदितोच्छूननेत्रम्, निःश्वासानाम्, अशिशिरतया, भिन्न-
वर्णधिरोष्टम्, हस्तन्यस्तम्, लम्बालकत्वात्, असकलव्यक्ति, तस्याः, मुखम्,
त्वदनुसरणकिलष्टकान्तेः, इन्दोः, दैन्यम्, विभर्ति, नूनम् ॥ २१ ॥

व्याख्या—प्रबलरुदितोच्छूननेत्रम्=अत्यधिकरुदितोच्छूवसितनयनम्, निः-
श्वासानाम्=वदनश्वासप्रश्वासानाम्, अशिशिरतया=उष्णतया, भिन्नवर्ण-
धिरोष्टम्=विच्छायमधरोष्टम्, हस्तन्यस्तम्=हस्तस्थापितम्, लम्बालकत्वात्=—
दीर्घस्तचूर्णकुन्तलत्वात्, असकलव्यक्ति=असम्पूर्णभिव्यक्ति, तस्याः=—
मत्प्रियायाः, मुखम्=वदनम्, त्वदनुसरणकिलष्टकान्तेः=मेघानुगमनक्षीणद्युतेः,
इन्दोः=चन्द्रमसः, दैन्यम्=दीनताम्, विभर्ति=धारयति; नूनम्=निश्चयेनेति
भावः ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—प्रबलरुदितोच्छूननेत्रम्=बहुत रोते से सूजे हुए नेत्रों वाला,
निःश्वासानाम्=निश्वासों के, अशिशिरतया=गरम होने के कारण, भिन्नवर्ण-
धरोष्टम्=जिसके निचले होंठ का रंग फीका पड़ गया है (ऐसा), हस्तन्यस्तम्=—
हथेली पर रखा हुआ, लम्बालकत्वात्=लटकते हुए बालों के कारण, असकल-
व्यक्ति=असम्पूर्ण रूप से दिखाई देने वाला, तस्याः=उस मेरी प्रिया का,
मुखम्=मुख, त्वदनुसरणकिलष्टकान्तेः=तेरा अनुगमन करने के कारण फीकी
पढ़ी कान्तिवाले, इन्दोः=चन्द्रमा के, दैन्यम्=दैन्यभाव को, विभर्ति=धारण
करता है, नूनम्=निश्चय ही, ॥ २१ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! अषुना मद्वियोगेन अत्यधिक-रोदनादुच्छूवसितनेत्रम्-
ष्णनिःश्वासैविवर्णधिरोष्ठं करतलस्थापितं लम्बायमानैरलकैरसम्पूर्णभिव्यक्तं
मत्प्रियामुखं त्वदनुसरणात्कान्तिहीनस्य हिमांशोः दीनभावं धारयति
नूनम् ॥ २१ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! अत्यधिक रोते के कारण सूजी हुई आँखों वाला, नि:-
श्वासों के गरम-गरम होने के कारण विवर्ण ओष्ठ वाला, हथेली पर रखे हुए
लटकते हुए लटों के कारण सम्पूर्ण रूप से दिखाई नहीं देने वाला उस मेरी
प्रिया का मुख तुम्हारे आवरण के कारण मलिनकान्ति वाले चन्द्रमा के दीन-
भाव को निश्चय ही धारण करता होगा ॥ २१ ॥

समासः—प्रकृष्टं बलं यस्मिस्तत् प्रबलम् (बहू०) । प्रबलं च तद्
रुदितम्=प्रबलरुदितम् (कर्म०) । उच्छूने नेत्रे यस्य तद्=उच्छूननेत्रम्,
प्रबलरुदितेन उच्छूननेत्रम्=प्रबलरुदितोच्छूननेत्रम् (तृ० तद०) । न शिशि-
रता=अशिशिरता (नव०) तदा । भिन्नो वर्णो यस्य सः भिन्नवर्णः (बह०)
अघरश्चासी ओष्ठः=अघरोष्ठः (कर्म०) भिन्नवर्णः अघरोष्ठो यस्य तद्=भिन्न-
वर्णधिरोष्ठम् (बह०), न सकला=बसकला (नव०) असकला व्यक्तिः यस्य
तद् असकलव्यक्तिः (बह०) । तव अनुसरणं=त्वदनुसरणं (ष० तद०) ।
किलष्टा कान्तियस्य सः किलष्टकान्तिः (बह०) त्वदनुसरणेन किलष्टकान्तिः=
त्वदनुसरणकिलष्टकान्तिः (तृ० तद०) तस्य ।

कोशः—तूनं तर्केऽथ निश्चये, इत्यमरः ।

टिप्पणी—रुदितम्—रोदनमेव रुदितम्=रुद धातु से भाव में क्त
प्रत्यय करके 'रुदितम्' ऐसा रूप निष्पन्न होता है । उच्छून—'उच्छून'
शब्द की निष्पत्ति के विषय में महामहोपाध्याय मलिनाथजी ने 'उद्' उप-
सर्वपूर्वक 'दुओश्वि' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' से
'ऊँ' आगम करके 'उच्छून' शब्द निष्पन्न किया है, परन्तु यह प्रक्रिया
प्रामादिकी है; क्योंकि 'श्वि' धातु के अन्त में 'इ'कार है न कि वकार है
बतः इस प्रक्रिया को छोड़कर यदि 'उद्+श्वि+क्त' ऐसी स्थिति में धातु के
यजादि-गणपठित होने के कारण 'वचिस्वपियजादीनां किति' इस सूत्र से
'व' को 'उ'कार सम्प्रसारण करके 'सम्प्रसारणाच्च' इस सूत्र से पूर्वरूप
करके 'श्वीदितो निष्टुयाम्' इस सूत्र से इडागम का निषेध करके 'हलः' इस
सूत्र से सम्प्रसारणरूप से आये हुए 'उ'कार को दीर्घ करके 'ओदितश्च'

इस सूत्र से निष्ठा के 'त'कार को 'न'कार आदेश करके, छत्वादि करके 'उच्छून्' ऐसा रूप निष्पन्न किया जाय तो प्रक्रिया शुद्ध होगी। अशिशिरता—शिशिरस्य भावः इस विग्रह में 'तस्य भावस्त्वतलौ' इस सूत्र से तत् प्रत्यय करके स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् करके 'शिशिरता' रूप निष्पन्न होता है, न शिशिरता अशिशिरता यहाँ हेतु में तृतीया विभक्ति है। नव् का अर्थ यहाँ विरोध में विवक्षित है। असकलव्यक्ति—यक्ष-पत्नी के मुँह पर सदा लट्ठे लटकती रहती थीं अतः उसके मुँह की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती थी। इससे यह अनुमानित होता है कि वह केशों को नहीं सेँवारती थी। केश का न सेँवारना उसके लिए उचित भी था, क्योंकि वह प्रोषितभर्तृका थी। जिसका पति परदेश में हो उसे प्रोषितभर्तृका कहते हैं। एवं धर्मशास्त्र में प्रोषितभर्तृका के लिए शरीर को सेँवारने का निषेष किया गया है। जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में लिखते हैं—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदशंनम् ।

हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥

इसका अभिप्राय यह है कि सती-साध्वी प्रोषितभर्तृका क्रीडा, शरीर-संस्कार (शरीर को सेँवारना), समूह में जाना, उत्सव देखना, हास्य (मजाक) करना, दूसरे के घर में जाना—इन सबों का परित्याग कर दे।

अलङ्कारः—प्रस्तुत पद के 'भिन्न-वर्णित्वरोष्ठम्' इस पद में पौनरुक्त्य प्रतीति होने के कारण 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार है। एवं प्रिया का मुँह चन्द्रमा के दीन भाव को धारण कैसे कर सकता है? इस शङ्का का समाधान 'विम्बप्रतिविम्बभाव' की कल्पना के द्वारा करने से 'निदशंना' अलङ्कार है।

इन दोनों अलङ्कारों के परस्पर निरपेक्ष भाव से रहने के कारण 'संसृष्टि' अलङ्कार है ॥ २१ ॥

आलोके ते निष्पतति पुरा सा बलिव्याकुला वा

मत्सादृश्यं विरहतनु वा भवगम्यं लिखन्ती ।

पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिदभर्तुः स्मरसि रसिके ! त्वं हि तस्य प्रियेति ॥

अन्वयः—सा, बलिभ्याकुला, वा, विरहतनु, भावगम्यम्, मत्सादृश्यम्, लिखन्ती, वा, मधुरवचनाम्, पञ्जरस्थाम्, सारिकाम्, ‘हे रसिके ! भर्तुः, स्मरसि, कच्चित् ? हि, त्वं, तस्य, प्रिया,’ इति, पृच्छन्ती, वा, ते, आलोके, पुरा, निपतति ॥ २२ ॥

व्याख्या—सा=मत्प्रिया, बलिभ्याकुला=नित्यनैमित्तिक-देवपूजन-तत्परा, वा=अथवा, विरहतनु=वियोगकीणम्, भावगम्यम्=सम्भावनानुमेयम्, मत्सादृश्यम्=मदाकृत्यनुरूपम्, लिखन्ती=चित्रयन्ती, वा=अथवा, मधुरवचनाम्=मधुरभाषिणीम्, पञ्जरस्थाम्=पञ्जरवद्वाम्, सारिकाम्=शुक्रप्रियाम्, ‘हे रसिके ! =हे विदरघे ! भर्तुः=स्वामिनः, स्मरसि=चिन्तयसि, कच्चित्=किम् ? हि=यतः, त्वम्=सारिका, तस्य=स्वामिनः, प्रिया=अभीष्टा,’ इति=इत्यम्, पृच्छन्ती=जिज्ञासन्ती, प्रश्नं कुर्वतीत्यर्थं, वा=अथवा, ते=मेषस्य, आलोके=छिटमार्गे, पुरा=सद्यः, निपतति=आगमिष्यति; इति भावः ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—सा=वह मेरी प्रिया, बलिभ्याकुला=नित्यनैमित्तिक देवपूजा में संलग्न, वा=अथवा, विरहतनु=वियोग के कारण कृश, भावगम्यम्=अनुमान से जानी जाने वाली, मत्सादृश्यम्=मेरी आकृति (चित्र) को, लिखन्ती=लिखती हुई, वा=या, ‘रसिके ! =हे रसीली ! भर्तुः=स्वामी को, स्मरसि=स्मरण करती हो, कच्चित्=क्या ? हि=क्योंकि, त्वम्=तुम्, तस्य=उनकी, प्रिया=प्यारी थी,’ इति=इस प्रकार, मधुरवचनाम्=मधुर बोलने वाली, पञ्जरस्थाम्=पिजरे में रहने वाली, सारिकाम्=मैना को, पृच्छन्ती=पूछती हुई, वा=अथवा, ते=तुम्हारे, आलोके=दृष्टि-पथ पर, पुरा=सद्यः, निपतति=आयेगी ॥ २२ ॥

भावार्थः—हे मेष ! सा मत्प्रिया नित्यनैमित्तिक-देवपूजायां संलग्ना वा विश्लेषकृशामनुमेयां मत्प्रतिकृति चित्रयन्ती वा, ‘हे रसिके ! स्वामिनं स्मरसि,

किम् ? यतो हि त्वं तस्य प्रिया' इति पञ्जरस्थां मधुरभाषिणीं सारिकां पृच्छन्ती वा सद्यस्तव दृष्टिपये आमभिष्यति ॥ २२ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! वह मेरी प्रिया नित्य-नैमित्तिक देवपूजा में संलग्न यह वियोग से दुर्बल तथा अनुमान से जानने योग्य मेरे चित्र को लिखती हुई अथवा मधुरभाषिणी पिंजड़े में बौद्धी हुई मैना को 'हे रसीली ! स्वामी का स्मरण करती हो क्या ? क्योंकि तुम उनकी प्यारी हो' इस प्रकार से पूछती हुई सद्यः तुम्हारे दृष्टि-पथ पर आयेगी ॥ २२ ॥

समासः—बलिषु व्याकुला=बलिव्याकुला (स० तद०) । विरहेण तनु तद विरहतनृ (तृ० तद०) । भावेन गम्यं भावगम्यं तद (तृ० तद०) । मधुरं वचनं यस्याः सा मधुरवचना (बह०) ताम् ।

कोशः—कच्चित् काम-प्रवेदने, इत्यमरः । उपमायां तिकल्पे वा, इत्यमरः । स्यात्प्रवन्वे पुरातीते निकटागामिके पुरा, इत्यमरः । आलोको दर्शनद्वातो, इत्यमरः ॥ २२ ॥

टिप्पणी—गम्यम्—गन्तुं योग्यं गम्यम् = 'गम्' धातु से यत् प्रत्यय करके 'गम्यम्' ऐसा रूप सिद्ध होता है । लिखन्ती—'लिख' धातु से वर्तमान काल में लट् के स्थान पर शत् आदेश करके नुम् करके स्त्रीत्वविवक्षा में डीष् करके 'लिखन्ती' रूप निष्पन्न होता है । यहाँ 'लिखन्ती' इस शब्द के प्रयोग से यह छवनित होता है कि वह यक्षप्रिया बारंबार यक्ष का चित्र बनाती थी परन्तु अश्रुपात आदि से वह चित्र मिट-मिट जाता था, वह पुनः उसे चित्रित करती थी । पञ्जरस्थाम्—उपपद समास करके 'पञ्जर' उपपदक 'स्था' धातु से 'सुपि स्थः' से 'क' प्रत्यय करके हस्त करके स्त्रीत्वविवक्षा से टाप् करके द्वितीया विभक्ति में 'पञ्जरस्थाम्' ऐसा रूप निष्पन्न होता है । रसिके—रसोऽस्ति यस्याः इस विग्रह में 'रस' शब्द से 'अत इनि ठनौ' इस सूत्र से 'ठनू' प्रत्यय करके उसके स्थान पर 'ठस्येकः' इस सूत्र से 'इक' आदेश करके स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् करके 'रसिका' ऐसा रूप निष्पन्न होता है । इसी शब्द के सम्बोधन में 'रसिके !' ऐसा रूप निष्पन्न होता है । कहाँ-कहीं रसिके !

स्थान पर 'सुभर्ते' ऐसा पाठ मिलता है। भर्तुः—विभर्ति इति 'भर्ता'। 'भृ' धातु से कर्ता में 'तृच्' प्रत्यय करके 'भर्ता' ऐसा रूप निष्पन्न होता है। उक्त रूप षष्ठी विभक्ति का है। यह षष्ठी 'अधीगयं-दयेशां कर्मणि' इस सूत्र से 'स्मृ' धातु के योग रहने के कारण कर्म में हुई। प्रिया—प्रीणाति इति इस विग्रह में प्री धातु से 'इगुप्तज्ञाप्रीकिरः कः' इस सूत्र से 'क' प्रत्यय करके इय आदेश करके स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् करके 'प्रिया' ऐसा रूप निष्पन्न होता है। आलोके—'आङ् उपसर्गपूर्वकं 'लोक्' धातु से भाव में 'धम्' प्रत्यय करके सप्तमी विभक्ति में 'आलोके' ऐसा रूप निष्पन्न होता है।

अलङ्कारः—इस श्लोक में तुल्य बल वाले पदार्थों का विरोध चातुर्यपूर्ण ढंग से प्रदर्शित होने के कारण 'विकल्प' अलङ्कार है ॥ २२ ॥

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य ! निक्षिप्य वीणां
मदगोत्राङ्कुं विरचितपदं गेयमुदगातुकामा ।
तन्त्रीमाद्र्वा नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥२३॥

अन्वयः—हे सौम्य ! मलिनवसने, उत्सङ्गे, वीणाम्, निक्षिप्य, मदगोत्राङ्कम्, विरचितपदम्, गेयम्, उदगातुकामा, नयनसलिलैः, आद्र्वाम्, तन्त्रीम्, कथंचित्, सारयित्वा, भूयो भूयः, स्वयम्, कृताम्, अपि, मूर्च्छनाम्, विस्मरन्ती, वा, (सा ते आलोके, पुरा निपतति) ।

व्याख्या—हे सौम्य ! हे भद्र ! मलिनवसने = मलीमसाम्बरे, उत्सङ्गे = क्रोडे, वीणाम् = वल्लकीम्, निक्षिप्य = स्थापयित्वा, मदगोत्राङ्कम् = मदभिष्ठेयान्वितम्, यथास्यात्तथा, विरचितपदम् = रचितगीतम्, गेयम् = गातुं योग्यम्; उदगातुकामा = उच्चैर्गतुमभिलषन्ती, नयनसलिलैः = नेत्राम्बुभिः, अशुभिरित्यर्थः । आद्र्वाम् = किलनाम्, तन्त्रीम् = वीणागुणम्, कथंचित् = येन केनापि प्रकारेण कल्पेनेत्यर्थः, सारयित्वा = करेण सम्बेद्य, भूयो भूयः = पुनः पुनः;

स्वयम्=आत्मना, कृतामपि=विहितामपि, मूर्च्छनाम्=स्वराऽरोहाऽवरोह-क्रमम्, विस्मरन्ती=विस्मरणं कुर्वन्ती, 'ते आलोके पुरा निपतिष्यति' इति पूर्वश्लोकेनान्वयः ।

शब्दार्थः—हे सौम्य ! =सज्जन ! मलिनवसने=मैले वस्त्रोंवाली, उत्सङ्गे=गोद में, बीणाम्=बीणा को, निक्षिप्य=रखकर, मद्गोत्राङ्कम्=मेरे नाम से युक्त, विरचितपदम्=बनाये गये पदोंवाले, गेयम्=गीत को, उद्गातुकामा=गाने की इच्छावाली, नयनसलिलः=आँसुओं से, आद्रामि=भींगी हुई, तन्त्रीम्=तारों को, कथंचित्=किसी तरह, सारथित्वा=मिला करके, भूयो भूयः=बार-बार, स्वयम्=अपने आप, कृतामपि, बनाये गये भी, मूर्च्छनाम्=स्वरों के आरोह-अवरोह क्रम को, विस्मरन्ती=भूलती हुई (तुम्हारे दृष्टिपथ पर आयेगी) ।

आवार्थः—हे भद्र ! एवं च सा मे प्रिया मलिनवस्त्रे स्वाङ्के बीणां संस्थाप्य मक्षामान्वितं गानं गान्धारस्वरेण गातुमिच्छन्ती अश्रुभिः किलनं बीणा-गुणं कथंचित् सम्मेल्य वारंवारं स्वेन विरचितमपि स्वराऽरोहावरोह-क्रम विस्मरन्ती त्वद्दृष्टिपथे आगमिष्यति ॥ २३ ॥

हिन्दी—हे सज्जन ! और वह मेरी प्रिया मैले वस्त्रों वाली गोद में बीणा को रखकर मेरे नाम से युक्त पदों वाले गीत को गान्धार स्वर में गाने की इच्छा वाली आँसुओं से भींगी हुई तारों को किसी तरह मिलाकर अपने ही द्वारा बनाये गये स्वरों के आरोह-अवरोह क्रम को पुनः-पुनः भूलती हुई (तुम्हारे दृष्टि-पथ पर आयेगी) ॥ २३ ॥

समाप्तः—मलिनं वसनं यस्मिन् सः मलिनवसनः (बहु०) तस्मिन् । मम गोत्रं=मद्गोत्रम् (ष० तद०) मद्गोत्रं अङ्कं यस्मिन् तद् मद्गोत्राङ्कम् (बहु०) । विरचिताति पदानि यस्य तद् विरचितपदम् (बहु०) । उद्गातुं-कामो यस्याः सा उद्गातुकामा (बहु०) । नयनयोः सलिलानि=नयनसलिलानि (ष० तद०) तैः ।

कोशः—गोत्रं नाम्नि कुलेऽपि च, इत्यमरः । स्वराणां स्थापनाः सान्ताः मूच्छंनाः सप्तसप्त हि, इति संगीतरत्नाकरः । आलोको दर्शनोद्योती, इत्यमरः ।

टिष्पणी—मलिनवसने—पतिव्रता प्रोषितभर्तका को मेला-कुचैला वस्त्र पहनना चाहिए । उसे तो पति के पीड़ित रहने पर पीड़ित, पति के प्रसन्न रहने पर प्रसन्न, पति के प्रवासी होने पर मलिनवस्त्रा एवं कृशाङ्गी और पति के मर जाने पर प्राणत्याग कर देना चाहिए । वही स्त्री पतिव्रता कहलाती है—

‘आतीज्ञेऽमुदिते हृष्टाः प्रोषिते मलिना कृशा ।

मृता त्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥

महाकवि की उत्कृष्ट रचना अभिज्ञान-शाकुन्तल की नायिका शकुन्तला की ऐस्थिति देखिये, दुष्यन्त से परित्यक्ता होने पर—

‘वसने परिष्वसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणः ।

अतिनिष्कर्षस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति ॥

निक्षिप्य—‘नि’ उपसर्ववृद्धक ‘क्षिप्’ धातु से क्त्वा प्रत्यय करके त्यप् आदेश करके ‘निक्षिप्य’ रूप निष्पन्न होता है । गेयम्—गातुं योग्यम् इस विग्रह में ‘गै’ धातु से यत् प्रत्यय करके धातु के ऐकार को आकारादेश करके ‘ईद्यति’ इस सूत्र से ईत्व करके गुण करके ‘गेयम्’ ऐसा रूप निष्पन्न होता है । उद्गातुकामा—यहाँ (गै) ‘गा’ धातु से विहित तुमुन् प्रत्यय के मकार का ‘तुं काममनसोरपि’ इससे लोप हो गया है ‘काम’ पद आगे होने के कारण । कथचित् सम्मेल्य—अपने प्रियतम के नाम से युक्त भीत को गाने की इच्छा यद्यपि यक्षपत्नी करती थी, परन्तु प्रियतम के स्मरण से आँखों में आँसुओं के आ जाने से बीणा की तारें भींग जाती थीं, जिसे वह किसी तरह मिलाती थी । परन्तु प्रियतम की याद में इतना निमग्न हो जाती थी कि वह स्वरचित् मूच्छंना को भी अन्यमनस्कता के कारण भूल जाती थी ।

स्वर के आरोह-बवरोह क्रम को मूच्छंना कहते हैं ‘क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूच्छंना परिकीर्तिता’ इति भरतः ।

अलङ्कारः—यहाँ भी पूर्वश्लोक के समान ‘विकल्प’ अलङ्कार है ॥२३॥

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्थावधेवा

विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्त-पुष्ट्येः ।

मत्सज्जनं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती

प्रायेणैते रमणविरहेष्वझनानां विनोदाः ॥२४॥

अन्वयः—वा, विरहदिवसस्थापितस्य, अवधेः, शेषान्, मासान्, देहलीदत्त-पुष्ट्येः, गणनया, भुवि, विन्यस्यन्ती, वा, हृदयनिहितारम्भम्, मत्सज्जनम्, आस्वादयन्ती, (ते आलोके पुरा निपतति) । प्रायेण, अज्जनानां, रमणविरहेषु, एते, विनोदाः ।

व्याख्या—वा = अथवा, विरहदिवसस्थापितस्य = वियोगदिनादरम्भ-निश्चितस्य, अवधेः = समयसीमायाः, शेषान् = अवशिष्टान्, मासान् = त्रिशद-दिनात्मकान् कालविशेषान्, देहलीदत्तपुष्ट्येः = सदनाऽवग्रहणीस्थापितकुसुमैः, गणनया = एकः द्वावितिक्रमेण संस्थानेन, भुवि = पृथिव्याम्, विन्यस्यन्ती = स्थापयन्ती, वा = अथवा, हृदयनिहिताऽरम्भम् = चित्तसङ्कल्पितोपक्रमम्, मत्सज्जनम् = मत्सम्भोगम्, आस्वादयन्ती = अनुभवन्ती, वा (ते आलोके पुरा निपतति) प्रायेण = बहुशः, अज्जनानाम् = कामिनीनाम्, रमणविरहेषु = प्रियतमवियोगेषु, एते = पूर्वोक्ता, विनोदाः = कालात्ययोपायाः भवन्तीति शेषः ।

शब्दार्थः—वा = अथवा, विरहदिवसस्थापितस्य = वियोग के दिन से निश्चित, अवधेः = समय की सीमा के, शेषान् = बचे हुए, मासान् = महीनों को, देहलीदत्तपुष्ट्येः = देहली पर रखे हुए फूलों के द्वारा, गणनया = एक, दो इस प्रकार गणना करके, भुवि = पृथ्वी पर, विन्यस्यन्ती = रखती हुई, वा = अथवा, हृदयनिहिताऽरम्भम् = मन में कल्पना के द्वारा आरम्भ किए हुए, मत्सज्जनम् = मेरे सहवास का, आस्वादयन्ती = अनुभव करती हुई (ते दृष्टिपश्च पर सहसा आयेगी) । प्रायेण = अधिकतर, अज्जनानाम् = कामिनियों के, रमणविरहेषु = प्रियतम के वियोग के दिनों में, एते = पहले कहे गये, विनोदाः = मन को बहलाने वाले साधन हूआ करते हैं ।

आवार्थः—हे मेघ ! अथवा विरहदिनादारम्भ निश्चितावधेवरवशिष्टान्
मासान् गृहदेहल्यां स्थापितकुसुमैर्णणयन्ती, अथवा मनःसंकल्पितोपक्रमं मत्संभोग-
सुखमनुभवन्ति (सा मत्प्रिया तव दृष्टिपथे आगमिष्यति) । बाहुल्येन वधूनां
दयितविरहेषु पूर्वोक्तोपायाः कालक्षेपोपायाः भवन्ति ।

हिन्दी—हे मेघ ! अथवा वियोग के दिन से प्रारम्भ समय की सीमा के
बचे हुए महीनों को घर की देहली पर रखे हुए फूलों के द्वारा गिन-गिन कर
पृथ्वी पर रखती हुई, अथवा मन में कल्पना के द्वारा आरम्भ किए हुए मेरे
सहवाससुख का अनुभव करती हुई (वह मेरी प्रिया तुम्हारे दृष्टि-पथ पर
आयेगी) । प्रायः स्त्रियों का प्रियतम के वियोग के दिनों में ये मनोविनोद
हुआ करते हैं ।

समासः—विरहस्य दिवसः=विरहदिवसः (ष० तद०), तस्मात् स्थापितः
=विरहदिवसस्थापितः (ष० तद०) तस्य । देहल्यां दत्तानि = देहलीदत्तानि
(स० तद०), देहलीदत्तानि च पुष्पाणि = देहलीदत्तपुष्पाणि (कर्म०) तैः ।
हृदये निहिताः आरम्भाः यस्य सः=हृदयनिहितारम्भः (बहु०) तम् । रमणस्य
विरहः=रमणविरहः (ष० तद०) तेषु ।

कोशः=गृहावप्रहणी देहली, इत्यमरः । परिच्छेदे बिलेऽवधिः, इत्यमरः ।
स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्, इत्यमरः । स्वान्तं हृन्मानसं मनः,
इत्यमरः ।

टिप्पणी—स्थापितस्य—गिजन्त ‘स्थापि’ धातु से कर्म में ‘क्त’ प्रत्यय
करके ‘स्थापितः’ ऐसा रूप निष्पन्न होता है । देहलीदत्तपुष्पैः—यहाँ हेतु में
'हेतौ' इस सूत्र से तृतीया हुई है । विन्यस्यन्ती—‘वि’ एवं ‘नि’ उपसर्गपूर्वक
'अस्' धातु से धृत् प्रत्यय करके स्त्रीत्व की विवक्षा में छीप् करके 'विन्यस्यन्ती'
ऐसा रूप निष्पन्न होता है । यज्ञपत्नी अङ्गुली पर भी महीनों को गिन
झकती थी, परन्तु 'देहली पर रखे हुए फूलों को गिनकर पृथ्वी पर रखती
हुई' ऐसा लिखना मुग्धता के आविक्य को ढोतन करने के लिए ही है ।

मत्सङ्गम्—नम यज्ञः पत्सङ्गः, नम्। आस्वादयन्ती—‘आङ्’ उपसर्गपूर्वक गिरन्त ‘स्वादि’ धातु से लट् के स्थान में शत्रु प्रत्यय करके स्त्रीविविक्षा में छोप करके आस्वादयन्ती ऐसा रूप निष्पत्र होता है। रमणविरहेषु—कहीं-कहीं ‘रमणविरहे ह्यङ्गनानाम्’ ऐसा पाठ मिलता है। उनका कहना है ‘विरह’ एक है, अतः एकवचनान्त पाठ होना चाहिए। परन्तु बहुवचनान्त पाठ ही यहाँ युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि विरह के एकत्व रहने पर भी उसकी दृःसहता के कारण अतिशय दीर्घता का द्योतन बहुवचनान्त पाठ से होता है। काम की दशा के दश भेद हैं—

चक्षुरागस्तदनु मनसः सङ्गतिभविना च
व्याहृतिः स्यात्तदनु विषयग्रामतश्चेत्सोऽपि ।
निद्राच्छेदस्तदनु तनुता निस्त्रपत्वं ततोऽनु-
न्मादो मूर्च्छा तदनुमरणं शिरसा प्रक्रमेण ॥

साहित्यदर्पण के निम्नलिखित नियम के अनुसार यहाँ २२वें श्लोक से २४वें श्लोक तक कुल तीन श्लोकों का ‘आलोके ते निपतति पुरा’ इस अंश के माध्यम से परस्पर सम्बन्ध होने के कारण यहाँ ‘सन्दानितक’ है। जैसा कि—

छन्दोबद्धपदं पदं तेनैकेन च मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ।
कलापकं चतुर्मिश्रं पञ्चभिः (तदूष्टवं वा) कुलकं मतम् ॥

अलङ्कारः—पूर्वं श्लोकों के समान यहाँ भी ‘विकल्प’ एवं सामान्य से विशेष का समर्थन होने से ‘अव्यान्तरन्यास’ अलङ्कार है। परस्पर दोनों अलङ्कारों का अङ्गाङ्गभाव होने से ‘संकर’ अलङ्कार है ॥ २४ ॥

सव्यापारामहनि न तथा पीडयेन्मद्वियोगः

शङ्के रात्रो गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखीं ते ।
पत्सन्देशैः सुखपितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुशिद्वामव निशयनां सौधवातायनस्थः ॥२५॥

अन्वयः—(हे सखे !) अहनि, सव्यापाराम्, ते, सखीम्, मद्वियोगः, तथा न पीडयेत्, रात्री, निविनोदाम्, गुरुतरशुचम्, शङ्के, निशीथे, उञ्जिद्राम्, अवनि-शयनाम्, साध्वीम्, ताम्, मत्सन्देशैः, अलम्, सुखयितुम्, सौधवातायनस्थः पश्य ॥ २५ ॥

ब्यास्या — (हे सखे !) अहनि=दिवसे, सव्यापाराम्=पूर्वोक्तचित्रलेख-नादिव्यापारसहिताम्, ते=मेघस्य, सखीम्=सखिप्रियाम्, मदभार्याभित्यर्थः । मद्वियोगः=मदीयविरहः, तथा=तेन प्रकारेण, न पीडयेत्=न संतापयेत् (किन्तु) रात्री=निशायाम्, निविनोदाम्=विनोदव्यापाररहिताम्, गुरुतरशुचम् =अतिदुःसहशोकाम्, शङ्के=तकङ्यामि । (अतः) निशीथे=मध्यरात्री, उञ्जिद्राम्=भग्ननिद्रां, जागरिताभिति भावः । अवनिशयनाम्=भूमि शायिनीम्, साध्वीम्=पतिव्रताम्, ताम्=मत्प्रियाम्, मत्सन्देशैः=मदीयवार्ताभिः, अलम् =पर्यासम्, सुखयितुम्=आनन्दयितुम्, सौधवातायनस्थः (सन्) पश्य =अवलोकय ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—(हे सखे !) अहनि=दिन में, सव्यापाराम्=काम में लगी हुई, ते=तुम्हारी, सखीम्=सखी को, अर्थात् मेरी प्रिया को, मद्वियोगः=मेरा विरह, तथा=उस प्रकार, न पीडयेत्=नहीं पीड़ित करता होगा, (किन्तु) रात्री=रात में, निविनोदाम्=समय-यापन के साधनों से रहित (प्रिया को) गुरुतरशुचम्=बहुत बड़े शोक से युक्त होगी (ऐसा) शङ्के=अनुमान कर रहा हूँ । निशीथे=मध्यरात्रि में, उञ्जिद्राम्=भग्ननिद्रावाली (जागती हुई) अवनिशयनाम्=पृथ्वी पर सोयी हुई, साध्वीम्=पतिव्रता, ताम्=उस मेरी प्रिया को, मत्सन्देशैः=मेरे सन्देशों से, अलम्=पर्यासरूप से, सुखयितुम्=खुशी करने के लिए, सौधवातायनस्थः=अटारी की खिड़की पर स्थिर होकर, पश्य=देखना ॥ २५ ॥

भावार्थः—हे मित्र ! दिवसे बलिचित्रलेखनादिव्यापारसंलग्ना भद्रभार्या मद्विरहेण तेन प्रकारेण न पीड्यते यथा विनोदरहितरात्री सा पीड्यते । मध्य-रात्री भग्ननिद्रां भूमिशायिनीं पतिव्रतां तां मत्प्रियां मत्सन्देशैः हृष्यवातायनस्थः सन् पर्यासमानन्दय ॥ २५ ॥

हिन्दी—हे मित्र ! दिन में चित्र लेखन आदि कार्मों में लगी मेरी प्रिया को मेरा विरह बैसा पीड़ित नहीं करेगा, जैसा कि मनोविनोद के साधनों से रहित रात्रि में, अतः वह और भी दुःखी होगी, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ । इसलिए मध्यरात्रि में जागती हुई, पृथ्वी पर सोयी हुई, पतिव्रता उस मेरी प्रिया को, महल की खिड़की पर स्थित होकर (तुम) मेरे सन्देशों से पर्याप्त सुख पहुँचाने के लिए देखना ॥ २५ ॥

समासः—व्यापारैः सहिता = सव्यापारा (तुल्ययोग बहु०) ताम् । मम वियोगः = मद्वियोगः (४० तद०) । निर्गंतो विनोदो यस्यः सा निर्विनोदा (बहु०) ताम् । गुरुतरा शुक् यस्याः सा गुरुतरशुक् (बहु०) तां गुरुतरशुचम् । उत्सृष्टा निद्रा यथा सा उन्निद्रा (बहु०) ताम् । अवनिरेव शयनं यस्याः सा अवनीशयना (बहु०) ताम् । मम सन्देशाः = मत्सन्देशाः (४० तद०) तैः । वातस्य आयनं वातायनम् (४० तद०) । सौष्ठवातायने तिष्ठतीति सौष्ठवातायनस्थः (उपपदः) ।

कोशः—शङ्का वितक्षेभययोः, इति शब्दार्थंवः । साधवी पतिव्रता, इत्यमरः । अर्धरात्रं निशीयो द्वौ, इत्यमरः । क्षमावनिमेदिनी मही, इत्यमरः । अलं भूषणं पर्याप्ति शक्तिवारण वाचकम्, इत्यमरः ।

टिप्पणी—व्यापाराम्—वि एवं आङ् उपसर्गपूर्वक 'तृ' धातु से भाव में चब् प्रत्यय करके स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् करके 'व्यापारा' ऐसा रूप निष्पन्न होता है । वियोग—'वि' उपसर्गपूर्वक 'युज्' धातु से भाव में चब् प्रत्यय करके 'वियोग' ऐसा रूप निष्पन्न होता है । कहीं-कहीं 'विप्रयोगः' ऐसा पाठ भी मिलता है । अर्थ में कोई भेद नहीं, व्युत्पत्ति में केवल धातु के पहले 'प्र' उपसर्ग और अधिक लगाना पड़ेगा । तथा—तेन प्रकारेण इस विश्रह में तत् शब्द से 'प्रकारवचने थाल्' इस सूत्र से थाल् प्रत्यय किया गया है । निर्विनोदाम्—'निर्' एवं 'वि' उपसर्गपूर्वक 'नुद' धातु से चब् प्रत्यय करके निर्विनोदाम् रूप निष्पन्न होता है । उक्तरूप द्विं विभक्ति का है । गुरुतरशुचम्—वतिशयेन गुर्वी इति गुरुतरा—गुरु शब्द से तरप् प्रत्यय एवं स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् होता है ।

शोचनं = शृङ्, 'शृच्' धातु से विवृप् प्रत्यय करके उसका सर्वपिहारी लोप होकर चतुर्वं होकर 'शृङ्' ऐसा रूप निष्पत्त होता है। अवनिशयनाम्—पतिव्रता प्रोवितभृत् का के लिए पर्यङ्कादि पर सोना तिषिद्ध है, अतः यक्षप्रिया पृथ्वी पर सोती थी। साठ्वी—'साधु' शब्द से स्वीत्व विवक्षा में गुणवाचक होने के कारण 'वोतो गुणवचनात्' इस सूत्र से 'ठीष्' प्रत्यय किया गया है। सन्देश—'सम्' उपसर्वपूर्वक 'दिश' धातु से वृव् प्रत्यय करके 'सन्देश' रूप निष्पत्त होता है। सौधवातायनस्थः—'सौध' शब्द का अर्थ अमरकोष के अनुसार चूने की लेप वाला महल होता है। यहाँ उक्तपद का प्रयोग 'कुबेर के राजभवन के समान ही यक्ष का भवन भी था' इस बात को अभिव्यक्त करने के लिए किया गया है।

यहाँ काम की दश अवस्थाओं में 'जागरण' अवस्था का वर्णन है ॥ २५ ॥

आधिकासामां विरहशयने सन्निषण्णैकपाश्वर्णै

प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।

नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारत्तैर्या

तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यपियन्तीम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—आधिकासामाम्, विरहशयने, सन्निषण्णैकपाश्वर्णम्, प्राचीमूले, कलामात्रशेषाम्, हिमांशोः, तनुम्, इव, या रात्रिः, मया, सार्धम्, इच्छारत्तैः क्षण इव नीता, विरहमहतीम्, ताम्, एव, उष्णैः, अश्रुभिः, यापयन्तीम् (तां पश्य) ॥ २६ ॥

व्याख्या—आधिकासामाम्=मानसिकव्यथाक्षीणाम्, विरहशयने=वियोग-तल्पे, सन्निषण्णैकपाश्वर्णम्=सम्यक्लिनीकपाश्वर्णम्, प्राचीमूले=पूर्वदिङ्मूले, कलामात्रशेषाम्=कलामात्रावशिष्टाम्, हिमांशोः=इन्दोः, तनुम्=शरीरम्, इव=यथा, स्थितामिति शेषः। या=पूर्वोपभुक्ता, रात्रिः=रजनी, मया=यक्षेण, सार्धम्=साकम्, इच्छारत्तैः=अभिलिषितसुरत्तैः, क्षण इव=स्वल्पकाल इव, नीता=व्यतीता, विरहमहतीम्=वियोगविशालाम्, तामेव=तज्जातीयामेव रात्रिमिति भावः, उष्णैः=तन्तैः, अश्रुभिः=नेत्राम्बुधिः, यापयन्तीम्=गमयन्तीम् (तां पश्य) ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—आधिकामाम् = मनोव्यथा से दुबली, विरहशयने=वियोग की शय्या पर, सन्निषण्णैकपाश्र्वाम् = एक ही करवट से सोयी हुई, प्राचीमूले=पूर्व दिशा के मूल में, कलामात्रशेयाम् = कला मात्र (सोलहवाँ अंश) अवशिष्ट, हिमांशोः = चन्द्रमा के, तनुम् = शरीर के, इव = तरह, या=जो, रात्रिः=रात, मया = मेरे, साध्वम् = साथ, इच्छारत्तैः=अभिलिखित संभोगों के द्वारा, क्षण इव = एक क्षण के समान, नीता = व्यतीन की गयी थी, विरहमहती = वियोग के कारण लम्बी, तामेव = उसी रात को, उष्णैः = गरम, अश्रुभिः = आँसुओं से, यापयन्तीम् = बिताती हुई (उस मेरी प्रिया को देखना) ॥ २६ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! मानसिकव्यथाकृष्णं विरहतल्पैकपाश्वेन शयानाम्, पूर्वदिमूले कलामात्राऽवशिष्टाभिन्दुमूर्तिभिव स्थिताम्, मया सह या रात्रिः सुरतक्रीडादिभिः क्षण इव नीता वियोगगुर्वी तामेव रात्रिमुष्णैः नेत्राम्बुभिर्गमयन्तीं तां मत्प्रियां पश्य ॥ २६ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! मनोव्यथा से दुबली, विरहशय्या पर एक ही करवट से सोयी हुई, पूर्व दिशा के मूल में कला मात्र वच्ची हुई चन्द्रमा की मूर्ति के समान जिन रातों को मेरे साथ संभोगों के द्वारा एक मिनट के समान बिताया था, विरह के कारण लम्बी उन्हीं रातों को गरम-गरम आँसुओं से बिताती हुई (उस मेरी प्रिया को देखना) ॥ २६ ॥

समासः—आधिना क्षामा = आधिकामा (तृ० तद०) ताम् । विरहस्य शयनम् = विरहशयनम् (ष० तद०) तस्मिन् । मम्यक् निषण्णं = सन्निषण्णम् (कुगतिप्रादय इति समासः), सन्निषण्णमेकपाश्वं यस्याः मा = सन्निषण्णैकपाश्र्वी (बहु०) ताम् । प्राच्या मूलं = प्राचीमूलम् (ष० तद०) तस्मिन् । कला एव कलामात्रम् (मयूर व्य०) कलामात्रं शेषो यस्याः सा कलामात्रशेषा (बहु०) । हिमा बंशदो यस्य स हिमांशुः (बहु०), इच्छ्या रतानि = इच्छारतानि (तृ० त०) तैः । विरहेण महती = विरहमहती (तृ० तद०) ताम् ।

कोशः—पुंस्याधिभनिसी व्यथा, इत्यमरः । हिमांशुञ्चन्द्रमाञ्चन्दः, इत्यमरः ।

निवर्यागारस्थिती कालविशेषोत्सवयोः धणः, इत्यमरः । स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः
इत्यमरः ।

टिप्पणी—आधि—आङ् उपसर्गपूर्वक ‘धा’ धातु से भाव में ‘कि’ प्रत्यय
करके ‘आधि’ रूप निष्पत्ति होता है । निष्पण—‘नि’ उपसर्गपूर्वक ‘सद्’ धातु
से के प्रत्यय न त्व णत्वादि करके ‘निष्पण’ ऐसा रूप बनता है । प्राची—‘प्र’
उपसर्गपूर्वक ‘अच्च’ धातु से कर्ता में किन् प्रत्यय करके उसका सर्वापहार
लोप करके नलोप करके स्त्रीत्व विवक्षा में डीप् करके ‘प्राची’ ऐसा रूप
निष्पत्ति होता है । यापयन्तीम्—‘या’ धातु से णिच् करके पुगागम करके
वर्तकान काल में लट् लकार लाकर उसके स्थान पर ‘शत्’ आदेश करके स्त्रीत्व
विवक्षा में डीप् करके नुमादि करके ‘यापयन्ती’ ऐसा रूप बनता है । यह रूप
द्विं विभक्ति का है । यहाँ क्षीणावस्था का कथन है ।

अलङ्कारः—यहाँ चन्द्रमूर्ति के समान यक्ष पत्नी के होने के कारण ‘उपमा’
अलङ्कार है ॥ २६ ॥

पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टान्

पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृतं तथैव ।

चक्षुः खेदात् सलिलगुरुभिः पक्षमभिश्छादयन्तीं

साप्रेऽङ्गीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्राप्तम् ॥२७॥

अन्वयः—जालमार्गप्रविष्टान्, अमृतशिशिरान्, इन्दोः, पादान्, पूर्वप्रीत्या,
अभिमुखम्, गतम्, तथैव, संनिवृत्तम्, चक्षुः, खेदात्, सलिलगुरुभिः, पक्षमभिः,
छादयन्तीम्, साऽप्रेऽ, अत्ति, न प्रबुद्धाम्, न सुप्राप्तम्, स्थलकमलिनीम्, इव
(तां पश्य) ॥ २७ ॥

व्याख्या—जालमार्गप्रविष्टान्=गवाक्षपथाऽन्तर्गंतान्, अमृतशिशिरान्=
सुघाशीतलान्, इन्दोः=हिमांशोः, पादान्=मयूखान्, पूर्वप्रीत्या=प्राचीनस्नेहेन,
अभिमुखम्=सम्मुखं यथा स्यात् तथा, गतम्=प्राप्तम्, तथैव=तेनैव प्रकारेण

संनिवृत्तम्=प्रत्यागतम्, चक्षुः=नेत्रम्, खेदात्=दुःखात्, सलिलगुरुभिः=अश्रुदुर्भारैः, पक्षमभिः=निमेषैः, नयनरोमभिरित्यर्थः, छादयन्तीम्=पिहितं कुर्वन्तीम्, साऽप्रे=जलधराऽच्छन्नने, अहिं=दिवसे, न प्रबुद्धाम्=न विकसिताम्, न सुमाम्=न मुकुलिताम्, स्थलकमलिनीम्=भूमिपद्धिनीम्, इव=यथा, स्थितमिति शेषः (तां पश्य) ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—जालमार्गप्रविष्टान्=खिड़की के मार्ग से भीतर प्रविष्ट, अमृतशिशिरान्=अमृत के समान शीतल, इन्दोः=चन्द्रमा की, पादान्=किरणों को, पूर्व-प्रीत्या=पहले के स्नेह के कारण, अभिसुखम्=सम्मुख, गतम्=यदी, तथैव=(तत्क्षण) उसी तरह, संनिवृत्तम्=लौटी हुई, चक्षुः=आँख को, खेदात्=दुःख के कारण, सलिलगुरुभिः=आँसुओं से भारी, पक्षमभिः=पलकों के द्वारा, छादयन्तीम्=बन्द करती हुई, साऽप्रे=मेष से युक्त, अहिं=दिन में, प्रबुद्धाम्=न तो प्रफुल्लित, न सुमाम्=और न ही मुकुलित, स्थलकमलिनीम्=स्थलकमलिनी के समान (उस मेरी प्रिया को देखना) ॥ २७ ॥

भावार्थः—हे मित्र ! गदाभ्रमार्गन्तर्गतान् पी॒य॒षवच्छीतलांश्चन्द्रमयूखान् प्रति प्राचीनस्नेहेन अभिगतमपि विरहदुःखेन तत्क्षणमेव प्रतिनिवृत्तं नेत्रं अश्रु-दुर्भारैः पक्षमभिराच्छादयन्ती भेषाऽच्छन्नने दिवसेऽविकसिताममुकुलिताच्च स्थल-पद्धिनीमिव (तां मत्प्रियां पश्य) ॥ २७ ॥

हिन्दी—हे मित्र ! खिड़की के मार्ग से भीतर प्रविष्ट अमृत के समान शीतल चन्द्रमा की किरणों के सम्मुख प्राचीन स्नेह के कारण जाकर भी विरहवश तत्क्षण प्रतिनिवृत्त आँख को आँसुओं से बोझिल पलकों के द्वारा बंद करती हुई, मेष से युक्त दिन में न तो विकसित और न ही मुकुलित स्थलकमलिनी के समान स्थित (उस मेरी प्रिया को देखना) ॥ २७ ॥

समाप्तः—जालस्य मार्गः जालमार्गः (व० तद०), तेन प्रविष्टाः जालमार्गप्रविष्टाः (त० तद०) तान् । अमृतानीव शिशिराः अमृतशिशिराः (उपमान कर्मधारय) तान् । पूर्वा चासौ प्रीतिः पूर्वप्रीतिः (कर्मधारय) तया ।

सलिलेन गुरुणि = सलिलगुरुणि (तृ० तद०) तैः । अध्रेण सहितं माऽध्रम्
(तुल्ययोग बहु०) तस्मिन् ।

कोशः—पादा रश्म्यङ्ग्रन्थुर्याः, इत्यमरः । पक्षपाऽक्षिलोभिन् किञ्जल्के
तन्त्वाद्यंशोऽप्यणीयसि, इत्यमरः ।

टिप्पणी—प्रीत्या—प्रीणनं प्रीतिः= प्री धातु से किन् प्रत्यय करके
'प्रीति' ऐसा रूप बनता है । यहाँ तृ० विभक्ति का रूप है । जो चन्द्रमा की
किरणें परिलहवास के समय अत्यन्त सुख देती थीं, वही किरणें आज प्रिय-
विरह के समय दुःखद हो गयी हैं, अतः यक्षप्रिया की आँखें उसकी ओर जाकर
भी तत्क्षण लौट आती हैं । **छादयन्ती**—'छद्' से णिच् करके लट् के स्थान में
शरृ आदेश करके नुम् करके डीप् करके 'छादयन्ती' ऐसा रूप बनता है ।
प्रबुद्धाम्—'प्र' उपसर्गपूर्वक 'बुद्ध' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके टाप् करके
'प्रबुद्धा' ऐसा रूप बनता है । यह रूप द्विं विभक्ति का है । यहाँ 'विषयदवेष'
नामक कामदशा का कथन है ।

अलङ्कारः—'अमृतशिशिराम्' यहाँ सामान्य बचन का लोप होने से
लुप्तोपमा एवं 'स्थलकमलिनीमिव' यहाँ श्रौती उपमा है । एवं दोनों निरपेक्ष
भाव से हैं अतः यहाँ संसृष्टि अलङ्कार है ॥ २७ ॥

निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तों

शुद्धस्नानात्परुषमलकं तूनमागण्डलम्बम् ।

मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-

माकाङ्क्षन्तों नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ॥

अन्वयः—शुद्धस्नानात्, पुरुषम्, आगण्डलम्बम्, अलकम्, अधरकिसलय-
क्लेशिना, निःश्वासेन, विक्षिपन्तीम्, स्वप्नजोऽपि, मत्संभोगः, कथम्, उपनयेत्,
इति, नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्, निद्राम्, आकाङ्क्षन्तीम् (ताँ पश्य) ॥ २८ ॥

व्याख्या—शुद्धस्नानात् = तैलादिरहितमज्जनात्, पर्षपम्-रूक्षम्, आगण्ड-
लम्बम् = आकपोलावलम्बि, अलकम् = चूर्णकुन्तलम्, अघरकिसलयब्लेशिना =
अघरपल्लवदुःखदायिना, निःश्वासेन = उच्छ्रवासेन, विक्षिपन्तीम् = चालयन्तीम्,
कम्पयन्तीमिति भावः । (तथा) स्वप्नजोडपि = स्वप्नावस्थोद्भवोडपि, मत्संभोगः
= मत्समागमः, दूरस्थत्वेन साक्षात्संभोगाऽसम्भवात्, कथम् = केन प्रकारेण,
उपनयेत् = आगच्छेत्, इति = इतीच्छया, नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् = अश्रु-
प्रवाहिनिरुद्धस्थानाम्, निद्राम् = संवेशम्, आकाङ्क्षन्तीम् = अभिलषन्तीम्, (ताँ
मत्प्रियां पश्य) ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—शुद्धस्नानात् = तैलादि के विना स्नान के कारण, पर्षपम् = रूक्ष,
आगण्डलम्बम् = गालों तक लटकते हुए, अकलम् = धूंधराले बालों को, अघर-
किसलयब्लेशिना = नूतन पतलव के समान कोमल एवं रक्त निचके होंठों को
कट्ठ देने वाली, निःश्वासेन = साँसों से, विक्षिपन्तीम् = इतस्ततः विचेरती हुई,
(और) स्वप्नजोडपि = स्वप्न में ही होने वाले, मत्संभोगः = मेरा सहवास, कथम् =
किस तरह, उपनयेत् = प्राप्त हो, इति = इसलिए, नयनसलिलोत्पीडरुद्धावका-
शाम् = आमुओं के प्रवाह से रुद्धस्थान वाली, निद्राम् = नींद को, आकाङ्क्षन्तीम्
चाहती हुई (उस मेरी प्रिया को देखना) ॥ २८ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! आकपोलावलम्बि रूक्षाश्चूर्णकुन्तलान् अघरपल्लव-
दुःखदेनोणोच्छ्रवासेन परिचालयन्तीम्, तथा स्वप्नावस्थायामपि मत्सहवाससुखं
कथं प्राप्नुयादिति हेतोः नेत्रजलप्रवाहावरुद्धावसरां निद्रामभिलषन्तीम् (मत्प्रियां
पश्य) ॥ २८ ॥

हिन्दी—विना तैलादि के स्नान करने के कारण रुखे एवं गालों तक
लटकते हुए धूंधराले बालों को, नीचे के होंठों को झुलसाने वाले निःश्वासों से
इघर-उघर हिलाती हुई तथा स्वप्नावस्था में भी मेरा सहवास-सुख कैसे प्राप्त
हो जाए, इसलिए अश्रुप्रवाह से रुकी निद्रा को चाहती हुई (उस प्रिया को
देखना) ॥ २८ ॥

समाप्तः—शुद्धं च तद् स्नानं = शुद्धस्नानम् (कर्म०) तस्मात् । आगण्डा-

स्पामिति=आगण्डम् (अव्ययीभाव) । आगण्डं लम्बः=आगण्डलम्बः (सुप्सुपा) तम् । अघरः किसलयमिव=अघरकिसलयम् (उपमित कर्म), अघरकिसलयं क्लिश्नाति इति अघरकिसलयक्लेशी (उपपद स०) । मम संभोगः=मत्संभोगः (ष० त०) । नयनोः सलिलानि=नयनसलिलानि (ष० त०) तेषामुत्पीडः=नयनसलिलोत्पीडः (ष० स०) । रुद्धः अवकाशो यस्थाः सा रुद्धावकाशा (बहु०), नयनसलिलोत्पीडेन रुद्धावकाशा=नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशा (त्र० तद०) ताम् ।

कोशः—ओषुधारी तु रदनच्छदी दशनवाससी, इत्यमरः । पल्लबोऽस्त्री किसलयम्, इत्यमरः ।

टिप्पणी—शुद्धस्नानात्—पतिव्रता प्रोषितभर्तुंका के लिये शरीरसंस्कार का निषेध किया गया है, अतः यक्षपत्नी तैल आदि का उपयोग नहीं करती है । इस बात को ध्वनित करने के लिए 'शुद्धस्नानात्' ऐसा पढा गया । यहाँ हेतु में पञ्चमी है । लम्बः—लम्बत इति, इस विग्रह में अवस्थानार्थक 'लबि' धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो'—इत्यादि सूत्र से अच् प्रत्यय हुआ है एवं धातु के इदित होने के कारण 'इदितो नुमधातोः' इस सूत्र से नुमादि करके 'लम्बः' ऐसा बनाया जाता है । अलकम्—यहाँ केशों के आधिक्य होने के कारण बहुवचन का प्रयोग होना चाहिए, परन्तु जातिवाचक होने के कारण एकवचन का प्रयोग किया गया है । क्योंकि—

'जात्यारुपायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् ।'

इस सूत्र से विकल्प से बहुवचन का विभान किया गया है । कथम्—'किम्' शब्द से 'केन प्रकारेण' इस विग्रह में 'किमश्च' इस सूत्र से थम् (थमु) प्रत्यय करके एवं 'किमः कः' इस सूत्र से किम् के स्थान पर 'क' आदेश करके 'कथम्' ऐसा रूप बनता है । यह अव्यय पद है अतः उप का लुक् हो जाता है । उपनयेत्—'उप' उपसर्वपूर्वक 'नी' धातु के लिङ् लकार का यह रूप है । यद्यपि 'नी' धातु का अर्थ के जाना है परन्तु 'उप' उपसर्व के

लग जाने से उसका अर्थ दूसरा हो गया है। धातोरथन्तिरे……इत्यादि पहले ही निर्देश किया जा चुका है।

यहाँ अश्रुत्याग के द्वारा त्रपा (लज्जा) नाश नामक कामदशा का कथन है।

अखण्डाकारः—‘अघरकिसलय’ यहाँ लुप्तोपमा है ॥ २८ ॥

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखादाम हित्वा
शापस्थान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम् ।

स्पर्शंकिलष्टामयमितनखेनासकृत् सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणों करेण ॥२९॥

अन्वयः—आद्ये, विरहदिवसे, दाम, हित्वा, या, शिखा, बद्धा, शापस्थ, अन्ते, विगलितशुचा, मया, उद्वेष्टनीयाम्, स्पर्शंकिलष्टाम्, कठिनविषमाम्, एकवेणीम्, ताम्, अयमितनखेन, करेण, गण्डाभोगात्, असकृत्, सारयन्तीम्, (तां पश्य) ॥ २९ ॥

व्याख्या—आद्ये=प्रथमे, विरहदिवसे=वियोगदिने, दाम=पुष्पमालाम्, हित्वा=त्यक्त्वा, या शिखा=या के शपाशी, बद्धा=निबद्धा ग्रथितेत्यर्थः, शापस्थ=अभिशापस्थ, अन्ते अवसाने, विगलितशुचा=विनष्टशोकेन, मया=प्रियेण, यक्षेणेत्यर्थः, उद्वेष्टनीयाम्=मोचनीयाम्, स्पर्शंकिलष्टाम्=संस्पर्शेण दुःखदायिनीम्, कठिनविषमाम्=पर्षोच्चावचाम्, एकवेणीम्=एकबन्धनवर्ती वेणीम्, ताम्=केशपाशीम्, अयमितनखेन=अकृत्तानखेन, करेण=हस्तेन, गण्डाभोगात्=कपोल-प्रदेशात्, असकृत्=भूयोभूयः, सारयन्तीम्=अपसारयन्तीम् (तां पश्य) ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—आद्ये=पहले, विरहदिवसे=वियोग के दिन, दाम=पुष्पमाला को, हित्वा=छोड़कर, या शिखा=जो चोटी, बद्धः=गूँथी थी, शापस्थान्ते=शाप के बीत जाने पर, विगलितशुचा=अपगत शोक वाले, मया=मेरे द्वारा, उद्वेष्टनीयाम्=खोली जाने वाली, स्पर्शंकिलष्टाम्=छूने से व्यथा पहुँचाने वाली

(दुःखने वाली), कठिनविषमाम् = रुक्ष एवं ऊँची-नीची, एकवेणीम् = एक ही लड़ वाली, ताम् = उस केश की चोटी को, अयमितनखेन = विना काटे हुए नखों वाले, करेण = हाथ से, गण्डाभोगात् = बड़े गालों पर से, असकृत् = वार-बार, सारथ्यन्तीम् = हटाती हुई (उस मेरी प्रिया को देखना) ॥ २९ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! प्रथमे विरहदिने पुष्पमालारहिता या केशपाशी गुम्फिता, शापावसाने विगतशोकेन मयोद्वेष्टनीयां रुक्षां निम्नोन्नतां तामेव केशपाशीं, अकर्तितनखेन हस्तेन कपोलविस्तारात् पुनः पुनः अपसारथ्यन्तीम् (तां मत्प्रियां पश्य) ॥ २९ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! पहले वियोग के दिन पुष्पमाला को त्यागकर जो बालों की चोटी गूँथी थी, शाप के बीत जाने पर शोकरहित होकर मेरे द्वारा खोली जाने वाली, छूने से क्लेश देने वाली, रुक्ष और ऊँची-नीची एक लड़ वाली उस चोटी को विना कटे नाखूनों वाले हाथ के द्वारा अपने विस्तृत गालों पर से बराबर हटाती हुई (उस मेरी प्रिया को देखना) ।

समाप्तः—विरहस्य दिवसः: विरहदिवसः: (ष० तद०) । विगलिता शुक्र यस्य स विगलितशुक्र् (बह०) तेन । उदगतं वेष्टनं यस्याः सा उद्वेष्टनीया (बह०) ताम् । स्पर्शे किलष्टा = स्पर्शैकिलष्टा (स० स०) ताम् । कठिना चासौ विषमा = कठिनविषमा (कम०) ताम् । एका चासौ वेणी = एकवेणी (कम०) ताम् । अयमिताः नखाः यस्य स अयमितनखः (बह०) तेन । गण्डस्य आभोगः = गण्डाभोगः (ष० तद०) तस्मात् ।

कोशः—वेणी नदीभेदे कचोच्चये, इत्यमरः । गण्डौ कपोलौ, इत्यमरः । पुनर्भूवः कररुहः नखः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—दाम—यह ‘दामन्’ शब्द के द्वि० विभक्ति के एकवचन का रूप है, यह शब्द नपुंसकलिंगी है । हित्वा—त्यागने के बर्य में विद्यमान बोहाक् धातु से ‘क्त्वा’ प्रत्यय करके ‘जहातेहि’ इस सूत्र से ‘हो’ को ‘हि’ बादेश करके ‘हित्वा’ रूप निष्पन्न होता है । बद्धाः—‘बन्ध’ धातु से

‘क’ प्रत्यय करके नलोपादि करके स्त्रीत्व विवक्षा में ‘टाप्’ करके ‘बद्धा’ ऐसा रूप बनता है। उद्देष्टनीयाम्—‘उद्देष्टनं करोति’ इस विग्रह में ‘उद्देष्टना’ शब्द से ‘तत्करोति तदाचष्टे’ इस सूत्र से जिच्च प्रत्यय होता है। पुनः उसका ‘आव्यानात् कृतस्तदाचष्टे कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्ययापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम्’ इस वार्तिक से कृत प्रत्यय का लोप हो जाता है, तब ‘उद्देष्ट’ इस नाम धातु से ‘तव्यत्तव्याऽनीयरः’ इस सूत्र से ‘अनीयर’ प्रत्यय करके स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् करके ‘उद्देष्टनीया’ ऐसा रूप निष्पन्न होता है। यह द्विं विभक्ति का रूप है। कठिनविषमा—यहाँ दोनों पद विशेषणवाचक हैं परन्तु पूर्वपद को विशेषण एवं उत्तरपद को विशेष्य मानकर “विशेषणं विशेष्येण बहुलम्” इससे समाप्त हुआ। एकवणीम्—एका चासी वेणी ऐसा विग्रह जहाँ किया जाता है वहाँ ‘पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवला’ इत्यादि सूत्र से समाप्त होता है एवं ‘पुंवत्कमंधारयजातीयदेशीयेषु’ इससे ‘एका’ को पुंवद्धाव किया जाता है।

यहाँ “चित्तविघ्नम्” नामक कामदक्षा छवनित होती है।

अलङ्कारः—यहाँ ‘स्वभावोक्ति’ नामक अलङ्कार है ॥ २९ ॥

सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती

शश्योत्सङ्गे निहितमसकृद् दुःखदुःखेन गात्रम् ।

त्वामप्यन्नं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं

प्रायः सर्गो भवति करुणावृत्तिराद्रान्तिरात्मा ॥ ३० ॥

अन्वयः—अबला, संन्यस्ताभरणम्, असकृत्, दुःखदुःखेन, शश्योत्सङ्गे, निहितम्, पेशलम्, गात्रम्, धारयन्ती, सा, त्वामपि, नवजलमयम्, अस्मम्, अवश्यम्, मोचयिष्यति, प्रायः, आद्रान्तिरात्मा, सर्वः, करुणावृत्तिः, भवति ॥ ३० ॥

व्याख्या—अबला=दुर्बला, संन्यस्ताभरणम्=परित्यक्तालङ्कारम्, असकृत् =पुनः पुनः, दुःखदुःखेन=भ्रतिशयक्लेशेन, शश्योत्सङ्गे=शश्यामघ्ये, निहितम्

—स्थापितम्, पेशलम् = कोमलम्, गात्रम् = शरीरम्, धारयन्ती = विभ्रती, सा = मत्प्रिया, त्वामपि = मेघमपि, नवजलमयम् = नूतननीरमयम्, अस्त्रम् = चाषपम्, अवश्यम् = नूनम्, मोचयिष्यति = त्याजयिष्यति । अर्थान्तरेण द्रढयति स्वकथनं प्राय इति । प्रायः = बहुशः, आद्रान्तरात्मा = नर्महृदयः, सर्वः = निखिलः, करुणादृतिः = दयामयचित्तदृतिः, भवति = वर्तते ॥ ३० ॥

शब्दार्थः—अबला=दुर्बल, संन्यस्ताभरणम् = गहनों से रहित, असकृत्=चार-बार, दुःखदुःखेन = घोर कष्ट से, शश्योत्सङ्गे = शश्या पर, निहितम् = रखे हुए, पेशलम् = कोमल, गात्रम् = शरीर को, धारयन्ती = धारण करती हुई, सा = वह मेरी प्रिया, त्वामपि = तेरे द्वारा भी, नवजलमयम् = नवीन जलमय, अस्त्रम् = आँसुओं को, अवश्यम् = निश्चित ही, मोचयिष्यति = गिरवायेगी । प्रायः=प्रायशः, आद्रान्तरात्मा = कोमलहृदयवाले, सर्वः = सभी, करुणादृतिः = करुण स्वभाव के, भवति = होते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थः—हे मेघ ! दुर्बला, परित्यक्ताऽलङ्कारं बहुशः महत्कष्टेन तत्प-मध्यस्थापितं कोमलं शरीरं धारयन्ती सा मत्प्रिया त्वामपि नवरोयरूपेणाऽशुगा रोदयिष्यति, यतो हि प्रायः सर्वं एव आद्रहृदयः दयालुस्वभावो भवति ॥ ३० ॥

हिन्दी—हे मेघ ! दुर्बल, आशूषणों से रहित, बार-बार अत्यन्त कष्ट से शश्या पर रखे अपने कोमल शरीर को धारण करती हुई वह मेरी प्रिया तुम्हें भी नवीन जलरूपी आँसुओं से रुलायेगी, क्योंकि आद्रहृदय वाले प्रायः सभी करुण स्वभाव के होते हैं ॥ ३० ॥

समाप्तः—अविद्यमानं बलं यस्याः सा अबला (न० बह०) संन्यस्ता-न्याभरणानि यस्य तत्=संन्यस्ताऽभरणम् (बह०) । न सकृत्=असकृत् (नव०), शश्यायाः उत्सङ्गः = शश्योत्सङ्गः: (ष० तद०) तस्मिन् । नवच्च तज्जलम् = नवजलम् (कर्मधा०) तदेव नवजलमयम् । आद्रः अन्तरात्मा यस्य सः आद्रा-न्तरात्मा (बह०) । करुणायां दृतियस्य सः करुणादृतिः (बह०) ।

कोशः—गात्रं वपुः संहननम्, इत्यमरः । स्त्री योषिदबला, इत्यमरः ।
उत्सङ्घचित्तयोरज्जः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—‘अबला’ यहाँ का नव् अत्यार्थक है, इसका अर्थ दुर्बला होगा । दुःखदुखेन—यहाँ दुःखप्रकारभिति=‘दुःखदुखम्’ ऐसा होता है क्योंकि ‘प्रकारे गुणवचनस्थ’ इस सूत्र से दुःख को द्वित्व एवं कर्मधारयवदभाव हुआ है । नवजलमयम्—यहाँ ‘नवजल’ शब्द से प्रचुर अर्थ में ‘तत्प्रकृतवचने मयट्’ इस सूत्र से मयट् प्रत्यय हुआ है । मोचयिष्यति—णिजन्त ‘मोचि’ धातु के लट् लकार के प्र० पुरुष के एकवचन का यह रूप है । यहाँ इस क्रिया के कर्ता ‘त्वम्’ इस पद से द्वितीया विभक्ति हुई है । इसकी उपपत्ति महामहोपाध्याय मल्लिनाथजी ने ‘मुच्’ धातु को पचादि गणपठित मानकर, अतएव द्विकर्मक होने के कारण ‘द्विकर्मसु पचादीनामुपसंख्यानम्’ इससे द्वितीया हुई है, ऐसा बताया है । परन्तु शारदारञ्जन राय ने उक्त वार्तिक के सिद्धान्तकोनुदीया का शिक्षिका आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में न होने के कारण इसकी उपपत्ति दूसरे प्रकार से बताई है । उनके मतानुसार ‘मुच्’ धातु के अथन्तावस्था का कर्ता जो ‘त्वम्’ यह पद है उसकी अन्तावस्था में गतिबुद्धि-प्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकाणामणि कर्ता सणो’ इस सूत्र से कर्म संज्ञा हो जाती है, तब द्वितीया विभक्ति होगी । यहाँ यह जान लेना चाहिए कि राय जी ने ‘मुच्’ धातु को भी गत्यर्थक ही माना है ।

इस श्लोक में ‘दुःखदुखेन शरीरं धारयन्ती’ इस कथन से ‘मूर्च्छा’ नामक कामदशा अभिव्यक्त होती है जो नवीं दशा है । महाकवि ने यहाँ आठ ही कामदशाओं का वर्णन किया है, जबकि ‘साहित्य-शास्त्र’ के बनुसार काम की १० दशायें होती हैं । प्रथम ‘चनूरागः’ और अन्तिम ‘मृत्यु’, इन दो दशाओं का वर्णन नहीं किया है । प्रथम का तो इसलिए नहीं किया कि नयनप्रीति अर्थात् समागमन जिनका पहले होगा उन्हीं का वियोग होगा और यह काव्य विद्योपात्त्वस्था से ही प्रारम्भ होता है और अन्तिम दशा का कथन रसभङ्ग के भय से नहीं किया ।

अलङ्कारः—इस इलोक में ‘अस्मवश्यं मोचयिष्यति सा’ इस कथन को ‘प्रायः सर्वः’ इत्यादि वाक्य के द्वारा समर्थित किया गया है। अतः यहाँ ‘अर्थन्तरन्याम्’ नामक अलङ्कार है ॥ ३० ॥

जाने सख्यास्त्व भनः मयि सम्भूतस्नेहमस्मा-

**वित्यंभूतां प्रथमविरहे तामहं तर्क्यामि ।
गाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिरादभ्रातरुक्तं भया यत् ॥ ३१ ॥**

अन्वयः—तव सख्याः, भनः, मयि, संभूतस्नेहम्, जाने । अस्मात्, अहम्, प्रथमविरहे, ताम्, इत्यंभूताम्, तर्क्यामि । सुभगंमन्यभावः, माम्, वाचालम्, न करोति, खलु । हे ! भ्रातः, भया, यत्, उक्तम्, निखिलम्, अचिरात्, ते, प्रत्यक्षम् ॥ ३१ ॥

ब्यास्या—तव = मेघस्य, सख्याः = मदभायायाः, भनः = चेतः, मयि = मद्विषये, संभूतस्नेहम् = संवलितानुरागम्, जाने = जानामि । अस्मात् = अतएव, अहम् = यक्षः, प्रथमविरहे = आद्यवियोगे, ताम् = स्वप्रियाम्, इत्यंभूताम् = पूर्वक-यितदशाप्राप्ताम्, तर्क्यामि = अनुभिनोमि । सुभगमन्यभावः = सुभगमानि-त्वम्, माम् = यक्षम्, वाचालम् = वाचाटम्, न करोति = न सम्पादयति, खलु = निश्चयेन । हे भ्रातः ! = हे बन्धो ! भया = यक्षेण, यत् = तदीनदशा-दिकम्, उक्तम् = कथितम्, (तत) निखिलम् = सम्पूर्णम्, अचिरात् = त्वरितम्, ते = मेघस्य, प्रत्यक्षम् = नेत्रसम्मुखम् (भविष्यति, इति शेषः) ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः—तव = तेरी, सख्याः = सखी (मेरी प्रिया) का, भनः = चित्त, मयि = मेरे प्रति, संभूतस्नेहम् = अनुरागपूर्ण (है, ऐसा), जाने = जानता हूँ । अस्मात् = इसलिए, प्रथमविरहे = प्रथमवियोग में, ताम् = उसे, इत्यम्भूताम् = पहले कही गयी दीनदशा को प्राप्त हुई होगी (ऐसा) अहम् = मैं, तर्क्यामि = अनुमान कर रहा हूँ । सुभगमन्यभावः = अपने को सौभाग्यशाली समझने का

अहंकार, माम् = मुझे, वाचालम् = अधिक बोलने वाला, न करोति=नहीं बना रहा है, (किन्तु) हे प्रातः—हे बन्धु, यत् = जो कुछ भी, मया = मैंने, उक्तम् = कहा है। तद् = वह, निखिलम् = सभी, अचिरात् = शीघ्र ही, ते = तुम्हारी, प्रत्यक्षम् = आँखों के सामने आएगा ॥ ३१ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! मत्प्रियायाश्चित्तं मद्विषयेऽत्यन्तानु रागपूर्णमस्तीत्यहं जानामि । अस्मादहं तां स्वप्रियामस्मिन्नभूतपूर्वविद्योगे तादृगवस्थाप्राप्तां संभावयामि । आत्मानं सौभाग्यशालिनं मत्वा नाऽहं वहु भाषयामि, (अपितु) हे प्रातः ! यन्मयोक्त तन्निखिलं त्वदद्वगोचरीमविष्यति ॥ ३१ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! मेरी प्रिया का मन मेरे प्रति बहुत ही अनुरागपूर्ण है, (इस बात को) मैं जानता हूँ । इसलिए इस अभूतपूर्व विद्योग में वह मेरी प्रिया ‘ऐसी हो गयी होगी’ ऐसा अनुमान करता हूँ । हे भाई ! मुझे ‘अपने को सौभाग्यशाली समझने का अभिमान’ अश्विक बोलने वाला नहीं बना रहा है, (अपितु) जो कुछ भी मैंने उसकी दीन-दशादि का वर्णन किया है वह शीघ्र ही तुम्हारी आँखों के सामने आ जायेगा ॥ ३१ ॥

समाप्तः—संभृतः स्नेहो यस्य तद् = संभृतस्नेहम् (बहू०) । प्रथमञ्चासौ विरहः प्रथमविरहः (कर्मचार०) । इत्यं भूतमिति (सुधुपा) । सुभगमन्यस्य भावः = सुभगमन्यभावः (ष० तद०) । अक्षं प्रति इति = प्रत्यक्षम् (अत्यादयः कान्ताद्यर्थे द्विनीययेति समाप्तः) ।

कोशः—स्याजजल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगहं ध्वाक्, इत्यमरः ।

टिप्पणी—संभृतः = ‘सम्’ उपसर्गपूर्वक ‘भू’ धातु से ‘क्त’ प्रत्यय करके ‘संभृतः’ ऐसा रूप उपपन्न होता है । स्नेह—प्रीत्यर्थक ‘स्निह’ धातु से ‘ध्रू’ प्रत्यय करके स्नेह ऐसा रूप उपपन्न होता है । अस्मात्—यहाँ ‘हेतौ’ इस सूत्र से पचमी हुई है । सुभगमन्य—आत्मानं सुभगं मन्यत इति ‘सुभगमन्यः’ यहाँ ‘सुभग’ उपवदक ‘मन्’ धातु से ‘आत्माने खश्च’ इस सूत्र से ‘खश्’ प्रत्यय करके ‘अर्चद्विषदजन्तस्य मुम्’ इस सूत्र से मुमागम

करके 'सुभगमन्य' ऐसा रूप उपपन्न होता है। वाचालम्—बहुगर्हा वाक् यस्य इस विग्रह में 'कुत्सायामिति वक्तव्यम्' इस वार्तिक से कुत्सा अर्थ में 'वाक्' शब्द से 'आलजाटचौ बहुभाषिणि' इस सूत्र से 'आलच्' प्रत्यय हुआ है।

अलङ्कारः—यहाँ तृतीय चरणोक्त अर्थ का चतुर्थ चरण कथित वाक्यार्थ हेतु है अतः यहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है ॥ ३१ ॥

रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं

प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रू विलासम् ।

त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या

मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥३२॥

अन्वयः—अलकैः, रुद्धापाङ्गप्रसरम् अञ्जनस्नेहशून्यम्, अपि च, मधुनः, प्रत्यादेशात्, विस्मृतभ्रूविलासम्, त्वयि, आसन्ने, उपरिस्पन्दि, मृगाक्ष्या, नयनम्, मीनक्षोभात्, चलकुवलयश्रीतुलाम्, एष्यति, इति शङ्के ॥ ३२ ॥

ठ्यारूप्या—अलकैः=वूणकुत्तलैः, रुद्धापाङ्गप्रसरम्=अवरुद्धकटाक्षप्रक्षेपम्, अञ्जनस्नेहशून्यम्=कञ्जलस्निग्धरहितम्, अपि च=तथा च, मधुनः=मदास्य, प्रत्यादेशात्=त्यागात्, विस्मृतभ्रूविलासम्=प्रस्मृतभ्रूभङ्गम्, त्वयि=मेघे, आसन्ने=समीपस्थे (सति) उपरिस्पन्दि=ऊर्ध्वभागे स्फुरक्षीलम्, मृगाक्ष्याः=हरिणनेत्रायाः, नयनम्=लोचनम्, मीनक्षोभात्=मत्स्यसच्चरणात्, चलकुवलय-श्रीतुलाम्=चच्चलनीलपद्मशोभोपमाम्, एष्यति=गमिष्यति, इति शङ्के=इति संभावयामि ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—अलकैः=घुंघराले बालों से, रुद्धापाङ्गप्रसरम्=जिसके कटाक्ष-विशेष अवरुद्ध हो गये हैं, अञ्जनस्नेहशून्यम्=काजल की चिकनाहट से विहीन, अपि च=और भी, मधुनः=मदिरा (शराब) के, प्रत्यादेशात्=त्याग से, विस्मृत-भ्रूविलासम्=जो भौंहों की भङ्गिमा को भूल गया है, त्वयि=तुम्हारे, आसन्ने=

समीप आने पर, उपरिस्पन्दि = ऊपरी भाग में स्पन्दनयुक्त, मृगाक्ष्याः=मृगमयनी का, (वह) नेत्रम् = नेत्र, मीनक्षोभात् = मछली के चलने के कारण, चलकुवलयश्चीतुलाम् = हिलते हुए नीलकमल की शोभा की उपमा को, एष्यति = प्राप्त करेगा, इति शङ्के = ऐसा मैं अनुमान कर रहा हूँ ॥ ३२ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! कटाक्षशून्यं कज्जलस्नेहरहितं विरहे मद्यपरित्यागात् परित्यक्तभ्रूविलासं मृगनेत्रायाः मत्प्रियायाः वामनेत्रं त्वयि समीपस्थे सति ऊर्ध्वं भागे स्फुरणयुक्तं सत्, मत्स्यसञ्चरणेन सञ्चलनीलपद्मशोभोपमां प्राप्स्यतीति संभावयामि ॥ ३२ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! कटाक्ष एवं काजल से रहित, विरह में मद्यपान के परित्याग से जो भौंहों की कीड़ा को भूल गया है वह मेरी मृगमयनी प्रिया का नेत्र तुम्हारे समीप आने पर ऊपर के भाग में फड़कता हुआ, मछली के चलने से हिलते हुए नीलकमल की शोभा की उपमा को प्राप्त करेगा ॥ ३२ ॥

समाप्तिः—अपाङ्गयोः प्रसराः=अपाङ्गप्रसराः (स० तत०) रुद्धा अपाङ्गप्रसरा यस्य तत् = रुद्धापाङ्गप्रसरम् (बहु०) । अञ्जनेन स्नेहः=अञ्जनस्नेहः (त० तत०) तेन शून्यम् = अञ्जनस्नेहशून्यम् (त० त०) । भ्रूवोविलासः भ्रूविलासः (ष० तत०) विस्मृतो भ्रूविलासो येन तत् = विस्मृतभ्रूविलासम् (बहु०) । मृगस्य इव अक्षिणी यस्याः सा मृगाक्षी (व्यधिकरण बहु०) तस्याः । मीनैः क्षोभः = मीनक्षोभः (त० तत०), तस्मात् । चलच्च तत् कुवलयम् (कर्म०) तस्य श्रीः = चलकुवलयश्रीः (ष० तत०) तस्याः तुलाम् = चलकुवलयश्चीतुलाम् (ष० तत०) ।

कोशः—अपाङ्गगो नेत्रयोरन्तो, इत्यमरः । प्रत्यादेशो निराकृतिः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—रुद्धापाङ्ग०—विरह-व्रत में शरीर संस्कार मात्र का निषेद्ध होने के कारण यक्षपत्नी के बाल बिखरे हुए हैं अतः कटाक्ष प्रक्षेप अवरुद्ध है, यह इस वाक्य का भाव है । अञ्जनस्नेहः—यहाँ भी उक्त कारण से ही यक्ष-प्रिया की आंखें कज्जल-विहीन हैं । विस्मृतभ्रूविलासम्—मद्यपान के बल

ब्राह्मण के लिए निषिद्ध है, भोग-योनि यक्ष इत्यादि के लिए उसका निषेष नहीं है, यक्षप्रिया पी सकती है, परन्तु प्रोवितभृत् का के लिए 'मदिरा' त्याज्य होने के कारण वह मदिरा नहीं पीती, इसलिए छोड़े हुए ध्रुविलास को भानो वह भूल ही गयी है। उपरिस्पन्दिन्दि—इस वाक्य से इष्टप्राप्ति अर्थात् प्रियासमाप्तम् का लाभ अवैतित होता है; क्योंकि नेत्र के ऊपरी भाग के फड़कने से इष्टप्राप्ति होती है। जैसा कि निमित्तनिदान में लिखा है—

'इष्टप्राप्ति दृशोरूपवंमपाङ्गे हानिमादिशेत् ॥' इति ।

मृगाक्षी—बहुत्रीहि समास से बने 'मृगाक्षि' शब्द से 'बहुत्रीहो सक्षयक्षणोः स्वाङ्गात् षच्' इस सूत्र से समासान्त 'षच्' प्रत्यय होकर 'मृगाक्ष' ऐसा रूप बनता है। पश्चात् 'षिद्गोरादिभ्यश्च' इस सूत्र से त्रीत्व विवक्षा में 'डीप्' होकर 'मृगाक्षी' ऐसा रूप निष्पत्त होता है।

अलङ्कारः—यहाँ उपमा अलङ्कार है एवं अन्यच्छायायोनि भी है, क्योंकि इसी अर्थ का श्लोक वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड में आता है।

तस्याः शुभं वाममरालपक्षमराजीवृतं कृष्णविशालशुक्लम् ।

प्रास्पन्दतैकं नयनं सुकेश्या भीनाहृतं पद्ममिवाऽभिताम्रम् ॥ ३२ ॥

(वा० रा० सु०, २१२)

वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-

मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या ।

सम्भोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां

यास्यत्यूरः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥३३॥

अन्वयः—मदीयैः, कररुहपदैः, मुच्यमानः, चिरपरिचितम्, मुक्ताजालम्, दैवगत्या, त्याजितः, संभोगान्ते, मम, हस्तसंवाहनानाम्, समुचितः, सरसकदलीस्तम्भगौरः, यास्याः, वामः, ऊरः, चलत्वम्, यास्यति ॥ ३३ ॥

व्याख्या—मदीयैः=मामकीनैः, करुहपदैः=नखचिह्नैः, मुच्यमानः=परिहीयमाणः, चिरपरिचितम्=चिराऽभ्यस्तम्, मुक्ताजालम्=मौक्तिकसरम्-यम्, दैवगत्या=भाग्यवशेन, त्याजितः=मोचितः, संभोगान्ते=सुरतसमाप्तौ, मम=यक्षस्य, हस्तसंवाहनानाम्=करमदंनानाम्, समुचितः=योग्यः, सरस-कदलीस्तम्भगौरः=रसाद्रूकदलीस्तम्भपाण्डुरः, अस्याः=मत्प्रियायाः, वामः=दक्षिणान्यः, ऊरुः=सक्षिथ, चलत्वम्=स्पन्दनं, यास्यति=प्राप्स्यति ॥ ३३ ॥

शब्दार्थः—मदीयैः=मेरे, करुहपदैः=नखों के चिह्नों से, मुच्यमानः=मुक्त, चिरपरिचितम्=प्राचीन समय से अभ्यस्त, मुक्ताजालम्=मौक्तियों की लड़ी वाली (करघनी) से, दैवगत्या=भाग्यवश, त्याजितः=विमुक्त, संभोगान्ते=रति (सुरत) क्रीडा के पश्चात, मम=मेरे, हस्तसंवाहनानाम्=हाथों के मदंनों के, समुचितः=योग्य, सरसकदलीस्तम्भगौरः=रसपूर्ण केले के स्तम्भ (तने) के समान गोरी, अस्याः=इस मेरी प्रिया की, वामः=बायीं, ऊरुः=जाँघ, चलत्वम्=चलता को, यास्यति=प्राप्स करेगी ॥ ३३ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! त्वयि समीपस्ये मदीयनखचिह्नरहितः, भाग्यवशात् त्याजितमुक्तामयकटिभूषणः सुरतसमाप्तौ मदीयहस्तसंवाहनयोग्यः सरसरम्भा-स्तम्भविशदो मम प्रियायाः वाम ऊरुः चाच्छल्यं प्राप्स्यति ॥ ३३ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! तुम जब मेरी प्रिया के समीप जाओगे उस समय मेरे नखूनों के चिह्नों से रहित, भाग्यवश मौक्तियों की लड़ी वाली करघनी से हीन, संभोग के पश्चाद मेरे हाथों द्वारा सम्बद्धन के योग्य गीले-गीले केले के तने के समान गोरी मेरी प्रिया की बायीं जाँघ फड़क उठेगी ॥ ३३ ॥

समाप्तः—करे रुहन्तीति=कररुहाः (उपपद०) कररुहाणां पदानि=कररुहपदानि (ष० तद०) तैः । चिरं परिचितं=चिरपरिचितम् (सुपुष्पेति समाप्तः) । मुक्तानां जालं=मुक्ताजालम् (ष० तद०) । दैवस्य गतिः=दैवगतिः (ष० तद०) तथा । संभोगस्य अन्तः=संभोगान्तः (ष० तद०) तस्मिन् । हस्ताभ्यां संवाहनानि=हस्तसंवाहनानि (तृ० तद०) तेषाम् । रक्षेत रक्षितः=

सरसः (तुल्य० बहु०), कदल्याः स्तम्भः=कदलीस्तम्भः (ष० तर०) ; सरसश्चासौ कदलीस्तम्भः=सरसकदलीस्तम्भः (कर्म० धा०), सरसकदलीस्तम्भ इव गौरः=सरसकदलीस्तम्भगौरः (उपमान कर्म० धा०) ।

कोशः—पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्, इत्यमरः । संवाहनं जर्दनं स्यात्, इत्यमरः । कदली वारणबुसा रस्मा मोचांशुमत्, इत्यमरः ।

टिष्ठणी—मदीयैः—मम इमनि=मदीयानि । यहाँ ‘अस्मद्’ शब्द का ‘त्यदादीनि च’ इस सूत्र से वृद्ध संज्ञा होती है, एवं ‘वृद्धाच्छः’ इस सूत्र से वृद्धसंज्ञक ‘अस्मद्’ शब्द से ‘छ’ प्रत्यय होता है और उसके स्थान पर ‘आयनेयं नीयियः फङ्खलघां प्रत्ययादीनाम्’ इस सूत्र से ‘ईय्’ आदेश होता है । पश्चात् ‘प्रत्ययोत्तरपदयोश्च’ इस सूत्र से ‘अस्मत्’ के स्थान में ‘मत्’ आदेश करके ‘मदीय’ पद की सिद्धि होती है । उक्त रूप तृतीया विभक्ति के बहुवचन का है । कररुहाः—‘कर रोहन्ति’ इस विग्रह में ‘कर’ उपपदपूर्वक ‘रुह’ धातु से ‘इगुपथज्ञाप्रीकिरः कः’ इस सूत्र से ‘क’ प्रत्यय हुआ है । मुच्यमानः—मोचनार्थक ‘मुच्’ (ल) धातु से लट् लकार एवं कर्म में यक् प्रत्यय लाकर ‘लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे’ इस सूत्र से ‘लट्’ के स्थान में ‘शानच्’ आदेश करके ‘मुच्यमान’ ऐसा शब्द उपपन्न होता है । त्याजितः—इस शब्द की उत्पत्ति के विषय में भी ३०वें श्लोक के ‘मोचयिष्यति’ पद की तरह महामहोपाध्याय मलिलनाथजी एवं डा० शारदारञ्जन रायजी का वैमत्य है । मलिलनाथजी ने ‘द्विकर्मसु पचादीनां चोपसंख्यानमिष्यते’ इस वार्तिक के आधार पर ‘त्यज्’ धातु को द्विकर्मक माना है, परन्तु यह मत सिद्धान्तकोमुदीमान्य नहीं है । अतः रायजी ने ‘त्यज्’ धातु को भी गत्यर्थक मानकर इसे द्विकर्मक माना है । यहाँ ‘हेतुमति च’ इस सूत्र से ‘णिच्’ प्रत्यय हुआ है । यह ‘ऊरु’ का विशेषण है । यहाँ ‘कर्मवाच्य’ का प्रयोग होने से गौण कर्म ‘ऊरु’ में प्रथमा विभक्ति हुई है । संवाहनम्—‘सम्’ उपसंगपूर्वक ‘वह्’ धातु से णिच् प्रत्यय करके फिर धातु संज्ञा करके ‘कर-जाधिकरणयोश्च’ इस सूत्र से ‘ल्युट्’ प्रत्यय हुआ है । सरस—इस शब्द से

कवि अच्छी तरह परिपक्व हरेभरे केले के तने के समान 'न कि सूखे तने के समान' इस भाव को छवित करना चाहता है।

अलङ्कारः—यहाँ 'उपमा' अलङ्कार है ॥ ३३ ॥

तस्मिन् काले जलद ! यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्यात्
दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्र ।
मा भूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथचित्
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे जलद ! तस्मिन्, काले, सा, यदि, लब्धनिद्रासुखा, स्यात्, एनाम्, अन्वास्य, स्तनितविमुखः, याममात्रम्, सहस्र । अस्याः, प्रणयिनि, मयि, कथचित्, स्वप्नलब्धे, गाढोपगूढम्, सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि, मा भूत ॥ ३४ ॥

व्याख्या—हे जलद !—हे मेघ ! तस्मिन्=पूर्वोक्ते, काले=समये, त्वयि समीपस्थ इति भावः । सा=मत्रिया, यदि=चेत्, लब्धनिद्रासुखा=प्राप्तस्वप्ना-मोदा, स्यात्=भवेत्, (र्त्त्वा) एनाम्=मत्रियाम्, अन्वास्य=पृष्ठदेशमुपविश्य, स्तनितविमुखः=गर्जितरहितः, (सन्) तूष्णीं भूवेत्यर्थः । याममात्रम्=प्रहरमा-त्रम्, सहस्र=प्रतीक्षस्व । अस्याः=मत्रियायाः, प्रणयिनि=वल्लभे, मयि=यक्षे, भर्तंरि, कथचित्=केनापि प्रकारेण, स्वप्नलब्धे=स्वापावाप्ते, (सति) गाढो-पगूढम्=दृढाऽलिङ्गितम्, सद्यः=तत्क्षणम्, कण्ठच्युतलताग्रन्थि=गलस्त्वाहृ-वल्लीग्रन्थनम्, मा भूत=न स्यात् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—हे जलद !—हे मेघ ! तस्मिन्=पहले कहे गये, काले=समय में (तुम्हारे समीप जाने पर), सा=वह मेरी प्रिया, यदि, लब्धनिद्रासुखा=नींद के सुख को प्राप्त कर रही, स्यात्=हो (तो), एनाम्=उस मेरी प्रिया के, अन्वास्य=पीछे बैठकर, स्तनितविमुखः=गर्जन से रहित होकर (निःशब्द), याममात्रम्=एक प्रहर मात्र, सहस्र=(उसकी) प्रतीक्षा करना । अस्याः=मेरी प्रिया के, प्रणयिनि=प्रियतम्, मयि=मेरे, कथचित्=किसी प्रकार, स्वप्न-

लब्धे=सपने में प्राप्त होने पर, गाढोपगूढम्=दृढ़ आलिङ्गन, सद्यः=तुरत ही, कण्ठच्युतलताग्रन्थि=गले में दैधी लताओं जैसी भुजाओं का बन्धन विच्छिन्न, न स्यात्=न हो ॥ ३४ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! यदि तस्मिन् समये मत्प्रिया निद्रामरना स्यात्, तर्हि त्वं तस्याः पृष्ठदेशमुपविश्य निःशब्दः सत् याममात्रं तां प्रतीक्षस्व, यतो हि, येन केनापि प्रकारेण स्वप्नलब्धे मयि प्रेयसि सति (त्वदग्जितेन) सद्यः गाढाऽलिङ्गनं न स्यात् ॥ ३४ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! तुम्हारे समीप जाने के समय वह मेरी प्रिया यदि निद्रा-सुख ले रही हो तो तुम उसके पीछे निःशब्द बैठकर एक प्रहर मात्र उसकी प्रतीक्षा करना, क्योंकि उसके प्रियतम मेरे किसी प्रकार से स्वप्न में प्राप्त होने पर (तुम्हारे गर्जन से) कण्ठ में प्राप्त भुज-लताओं का गाढ़ आलिङ्गन बन्धन-रहित न हो जाय (दूट न जाए) ॥ ३४ ॥

समाप्तः—निद्रायाः सुखम्=निद्रासुखम् (ष० त०) । लब्धं निद्रासुखं यया सा लब्धनिद्रासुखा (बह०) । स्तनितात् विमुखः=स्तनितविमुखः (प० तत०) । याम एव याममात्रम् (मयूरव्यंसकादयश्चेति समाप्तः) । स्वप्ने लब्धः=स्वप्नलब्धः (स० तत०) तस्मिन् । गाढच्च तदुपगूढम्=गाढाप-गूढम् (क० धा०) । कण्ठात् च्युतः=कण्ठच्युतः (प० तत०) भूजी लते इव भुजलते (उपमित कर्म०) । भुजलतयोः ग्रन्थिः=भुजलताग्रन्थिः (प० तत०) । सद्यः कण्ठच्युतः=सद्यःकण्ठच्युतः (सुप्सुपा०) सद्यःकण्ठच्युतो भुजलताग्रन्थिः यस्य तत्=सद्यःकण्ठच्युतभुजलताग्रन्थिः (बह०) ।

कोशः—द्वीयामप्रहरौ समी, इत्यमरः । वाढ-वाढदृढानि च, इत्यमरः । स्तनितं गजितं मेघनिर्धोषि रसितादि च, इत्यमरः ।

टिप्पणी—जलदः—जलं ददाति इति जलदः, जल उपपदपूर्वक ‘दा’ धातु से ‘आतोऽनुपसर्गे कः’ इस सूत्र से ‘क’ प्रत्यय करके धातु के ‘आ’कार का लोप करके ‘जलदः’ ऐसा रूप निष्पन्न होता है । स्यात्—सत्तार्थक् ‘अस्’ धातु से लिङ्गकार का उक्त रूप है । अन्वास्य—‘अनु’ उपसर्गपूर्वक ‘आस्’

धातु से 'कृत्वा' प्रत्यय करके उसके स्थान पर 'ल्प्यत्' करके 'अन्वास्य' रूप निष्पत्त होता है। याममात्रम्—यहाँ 'कालाऽऽवनोरत्यन्तसंयोगे' इस सूत्र से द्वितीया हुई है। सहस्र—यह रूप मर्यणार्थक (ष) सह, धातु के लोट्टलकार के मध्यमपुरुष के एकवचन का है। यक्ष मेघ से एक प्रहर तक प्रतीक्षा करने को कहता है; क्योंकि 'संभोग' एक प्रहर से अधिक नहीं हो सकता, उसके बाद यदि तुम गर्जन करोगे भी तो वह मेरे सहवास सुख को प्राप्त कर चुकी होगी अतः उससे कोई क्षति नहीं होगी, मध्य में गर्जने से वह उक्त सुख से विच्छिन्न रह जाएगी, यह भाव है। रतिविलास में संभोग की चरमावधि एक प्रहर माना गया है—'परमा तु रतिर्यूनामिष्टा यामावसायिकी' इति ; उपगूढम्—'उप' उपसर्गपूर्वक 'गुह' धातु से 'नपुंसके भावेत्क' इस सूत्र ते 'क्त' प्रत्यय करके ढट्टव षट्टव आदि करके 'ढो ढे लोपः' इस सूत्र से धातु के ढकार के लोप हो जाने पर 'ढ़लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इस सूत्र से धातु के 'उ'कार को दीर्घ करके 'उपगूढः' ऐसा बनता है।

अलङ्कारः—यहाँ 'याममात्रं' सहस्र के प्रति उत्तरार्थ का वाक्यार्थ हेतु है। अतः 'काव्यलिङ्गं' अलङ्कार है। एवत्र 'भुजलता' यहाँ लुप्तोपमा है। इस प्रकार दोनों के अङ्गाङ्गभावतया रहने से 'संकर' अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन

प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालिकैमालितीनाम् ।

विद्युदगर्भः स्तमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे

वक्तुं धीरः स्तनितवचनंमानिर्णो प्रक्रमेयाः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—(हे मेघ !) ताम्, स्वजलकणिकाशीतलेन, अनिलेन, उत्थाप्य, अभिनवैः, मालितीनाम्, जालकैः, समम्, प्रत्याश्वस्ताम्, त्वत्सनाथे, गवाक्षे स्तमितनयनाम्, मानिनीम्, विद्युदगर्भः, धीरः, स्तनितवचनैः, वक्तुम्, प्रक्रमेयाः ॥ ३५ ॥

व्याख्या—(हे मेघ !) ताम् = मत्प्रियाम्, स्वजलकणिकाशीतलेन =

निजोदकविन्दुशिशिरेण, अनिलेन=वायुना, उत्थाप्य=प्रबोध्य, अभिनवैः=नूतनैः, मालतीनाम्=जातिकुसुमानाम्, जालकैः=कोरकैः, समम्=सार्धम्, प्रत्याश्वस्ताम्=सुस्थिताम्, त्वत्सनाथे=भवत्युक्ते, गवाक्षे=वातायने, स्तिभितनयनाम्=निष्पन्दलोचनाम्, मानिनीम्=मनस्त्वनीम्, (मत्प्रियाम्) विद्युदगर्भः=विद्युदात्मा, धीरः=दृढः (सन्) स्तनितवचनैः=गर्जितवाचिभः, वक्तुम्=भाषितुम्, प्रक्रमेयाः=उपक्रमस्व ॥ ३५ ॥

शब्दार्थः—(हे मेघ !) ताम्=उस मेरी प्रिया को, स्वजलकणिकाशीत-लेन=अपने वारि-विन्दु से शीतल, वायुना=वायु के द्वारा, उत्थाप्य=जगाकर, अभिनवैः=नूतन, मालतीनाम्=चमेली के, जालकैः=कलियों से (एवं) प्रत्याश्वस्ताम्=स्वस्थ, त्वत्सनाथे=तुम से युक्त, गवाक्षे=खिड़की पर, स्तिभितनयनाम्=निश्चल नेत्रों वाली (आँख गड़ाकर देखती हुई), मानिनीम्=मानिनी (उस मेरी प्रिया को), विद्युदगर्भः=अपने भीतर विजली को छिपाए हुए, धीरः=धैर्यपूर्वक, स्तनितवचनैः=गर्जनरूपीवाणी से, वक्तुं=कहना, प्रक्रमेयाः=आरम्भ करना ॥ ३५ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! सुसां मत्प्रियां निजसलिलकणशिशिरेण वायुना प्रबोध्य जातिकुडमलैः साकं सुस्थितां त्वदावृते-वातायने निश्चलनयनां विद्युतात्मा त्वं धीरः सन् गर्जितवचोभिः स्वकथनमारभस्व ॥ ३५ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! उस मेरी प्रिया को अपने जल-विन्दु से शीतल वायु के द्वारा जगा कर चमेली की नयी कलियों के साथ सुस्थिता और तुमसे धिरी खिड़की की ओर आँख गड़ा कर देखती हुई मनस्त्वनी (उस मेरी प्रिया) को अपने भीतर विजली को रखे हुए तुम धैर्यपूर्वक अपने गर्जनरूपी वचनों से कहना प्रारम्भ करना ॥ ३५ ॥

समाप्तः—जलस्थ कणिका=जलकणिका (ष० तद०), स्वस्थ जलकणिका स्वजलकणिका (ष० तद०) ताभिः शीतलः=स्वजलकणिकाशीतलः (तृ० त०) तेन । नायेन सहितः=सनाथः (तुल्ययोग बहु०) त्वया सनाथः=त्वत्सनाथः (तृ० त०) तस्मिन् । गवामक्षीव गवाक्षः (उपभित कर्म०) । स्तिभिते नयने

यस्याः सा = स्तिमितनयना (बहु०) ताम् । विद्युत् गर्भः यस्य सः विद्युदगर्भः
(बहु०) । स्तनितान्येव वचनानि=स्तनितवचनानि (रूप० क०) तैः ।

कोशः—सुमना मालती जातिः, इत्यमरः । साकं साध्वं समं सह, इत्यमरः ।
क्षारको जालकं क्लीबे कलिका कोरकः पुमान्, इत्यमरः । सनाथं प्रभूमित्याहुः
सहिते चित्ततापिनी, इति शब्दार्णवः । गर्भोपवारकेऽन्तःस्थे कुक्षिस्थे चाभंके मतः,
इति शब्दार्णवः ।

टिप्पणी—उत्थाप्य—‘उद्’ उपसर्गपूर्वक णिजन्त ‘स्थायि’ धातु से ‘क्त्वा’
प्रत्यय करके उसके स्थान पर ल्यप् करके पुगादि करके ‘उत्थाप्य’ ऐसा निष्पत्त
होता है । प्रत्याश्वस्ताम्—‘प्रति’ एवं ‘आङ्’ उपसर्गपूर्वक ‘श्वस्’ धातु से
कर्ता में ‘क्त’ प्रत्यय करके स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् करके ‘प्रत्याश्वस्ता’ ऐसा
निष्पत्त किया जाता है, यह रूप द्वितीया विभक्ति के एकवचन का है ।
मानिनी—प्रशस्तो मानो यस्याः सा मानिनी । धीरः—यहाँ इस पद को देने
का अभिप्राय ‘दृढ़तापूर्वक यक्षपत्ती को भलीभाँति समझावे, क्योंकि स्त्रियाँ
स्वभाव से घबरालू होती हैं, अन्यथा जो स्वयं दृढ़ नहीं हैं वह दूसरे को धैर्यं
कैसे बैधायेगा’ यह है ।

अलङ्कारः—इस श्लोक में ‘जालकैः समम्’ यहाँ ‘सहोक्ति’ एवं ‘स्तनिर्’
में वचन आरोप प्रकृत कथन में उपयोगी है अतः ‘परिणाम’ अलङ्कार, एवं च
दोनों के परस्पर निरपेक्ष भाव से रहने के कारण ‘संसृष्टि’ नामक
अलङ्कार है ॥ ३५ ॥

भर्तुमित्रं प्रियमविधवे ! विद्धि मामम्बुधाहं
तत्संदेशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम् ।

यो वृन्दानि त्वरथति पथि आम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्त्रिन्दैर्घ्यनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे विधवे ! माम्, भर्तुः, प्रियम्, मित्रम्, हृदयनिहितैः,
तत्सन्देशैः, त्वत्समीपम्, आगतम्, अम्बुधाहम्, विद्धि । यः, अबलावेणिमोक्षोत्सु-

कानि, पथि, श्राम्यताम्, प्रोषितानाम्, वृन्दानि, मन्द्रस्तिनग्धैः, छवनिभिः, त्वरयति ॥ ३६ ॥

व्याख्या—सम्प्रति सन्देशप्रकारं निदिशति भर्तुंरिति । हे अविद्यवे—हे सौभाग्यवति ! माम्=आगन्तुकं मेघम्, भर्तुः=पत्युः, प्रियम्=स्नेहास्पदम्, मित्रम्=सुहृदम्, हृदयनिहितैः=मनःसंस्थापितैः, तत्सन्देशैः=त्वत्भर्तृसन्देशैः; त्वत्समीपम् = भवत्पाश्वर्म, आगतम् = आयातम्, अम्बुवाहम्=जलदम्, विद्धि=जानीहि । यः=अहमम्बुवाहः, अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि=वियोगिनी-बद्धवेणिमोचनोत्कृष्टितानि, पथि=मार्गे, श्राम्यताम् = श्रान्तिमापश्चानाम्, प्रोषितानाम्=प्रवासिनाम्, वृन्दानि=समूहान्, मन्द्रस्तिनग्धैः=गम्भीरमधुरैः, छवनिभिः = स्तनितैः, त्वरयति=चाच्चलयति, शीघ्रं गन्तुं प्रेरयति इति भावः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—हे अविद्यवे !—हे सौभाग्यवति ! माम्=मुझको, भर्तुः=(अपने) पति का, प्रियम्=स्नेही, मित्रम्=मित्र, (एवं) हृदयनिहितैः=हृदय में रखे हुए, तत्सन्देशैः=तुम्हारे पति के सन्देशों के साथ, त्वत्समीपम्=तुम्हारे पास, आगतम्=आया हुआ, अम्बुवाहम्=मेघ, विद्धि=जानो । यः=जो (मेघ), अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि=विरहिणियों की बैंधी वेणियों को खोलने के लिए उत्कृष्टित हो रहे, पथि=मार्ग में, श्राम्यताम्=थके-मादि, प्रोषितानाम्=प्रवासियों के, वृन्दानि = समूहों को, मन्द्रस्तिनग्धैः, = मधुर एवं कर्णप्रिय, छवनिभिः = गर्जनों से, त्वरयति = (गृह जाने के लिए) शीघ्रता करवाता है ॥ ३६ ॥

भावार्थः—हे सौभाग्यवति ! मां निजवल्लभसुहृदं तत्सन्देशहरमम्बुवाह जानीऽि । यो मेघः प्रवासिनां सञ्चान्त गृहं गन्तुं शीघ्रतां कारयति ॥ ३६ ॥

हिन्दी—हे मुहामिन ! जो, अबलाओं की बैंधी वेणियों को खोलने के लिए लालायित प्रवासियों के समूह को शीघ्र घर जाने की प्रेरणा देता है, वैसे मुझको सन्देश कहने के लिए तुम्हारे पास आया हुआ, अपने पति का प्रिय मित्र मेघ समझो ॥ ३६ ॥

समाप्तः—विगतो ध्वो यस्याः सा त्रिघवा (बहु०) । न विघवा अविघवा (नव०) तत्सम्बूद्धो ‘अविघवे’ । हृदये निहिताः=हृदयनिहिताः (स० तत०)

तैः । तस्य सन्देशाः = तत् सन्देशाः (ष० तद०) तैः । अबलानां वेण्यः =
अबलावेण्यः (ष० तद०), ताषां मोक्षः = अबलावेणिमोक्षः (ष० तद्),
तस्मिन् उत्सुकानि अबलावेणिमोक्षोत्सुकानि (स० तद०) । मन्द्राश्र ते
स्तिरघाः = मन्द्रस्तिरघाः, (कर्मधा०) तैः ।

कोशाः—अथ मित्रं सखा सुहृत्, इत्यमरः । स्त्री योषिदबला योषा,
इत्यमरः । ध्रवः प्रियः परिमंतर्ता, इत्यमरः ।

टिप्पणी-भर्तुः—‘भृ’ धातु से ‘तृच्’ प्रत्यय करके ‘भर्तृ’ ऐसा रूप साधु,
होता है । यह रूप उक्त शब्द के षष्ठी विभक्ति के एकवचन का है । निहितैः—
‘नि’ उपसर्गपूर्वक ‘धा’ धातु से ‘क्त’ प्रत्यय करके धातु के स्थान में ‘दधातेहि’
इस सूत्र से ‘हि’ आदेश करके ‘निहित’ ऐसा रूप बनता है । यहाँ तृतीया विभक्ति:
के बहुवचन का रूप है । सन्देशैः—‘सम्’ उपसर्गपूर्वक ‘दिश्’ धातु से कर्म में
‘धव्’ प्रत्यय करके ‘सन्देश’ रूप बनता है । अम्बुवाहम्—अम्बु वहतीति, इस
विग्रह में ‘अम्बु’ उपपदक ‘वह’ धातु से ‘कर्मण्य’ इस सूत्र से अण् प्रत्यय
करके ‘अम्बुवाह’ रूप निष्पन्न होता है । यह द्वितीया के एकवचन का
रूप है ॥ ३६ ॥

अलङ्कारः—यहाँ ‘अविघवे !’ यह सामिग्राय विशेषण है अतः ‘परिकर’
नामक अलङ्कार है ॥ ३६ ॥

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलोवोन्मुखो सा

त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाष्य चैव ।
ओष्ठ्यत्यस्मात्परमविहिता सौम्य ! सीमन्तिनीनां

कान्तोदान्तः सुहृदुपवतः संगमात्कञ्चिद्वृनः ॥३७॥

अन्वयः—इति, आख्याते, उन्मुखी, सा, उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया, मैथिली,
पवनतनयम्, इव, त्वाम्, वीक्ष्य, सम्भाष्य, च, अस्मात्, परम्, अविहिता,
ओष्ठ्यति, एव । सौम्य ! सीमन्तिनीनाम्, सुहृदुपवतः, कान्तोदान्तः, संगमात्
किञ्चित्, ऊनः ॥ ३७ ॥

व्याख्या—हे मेघ ! इति = स्वपरिचयम्, आस्थाते=कथिते सति (त्वयि) उन्मुखी = उन्नभितानना, सा = मतिप्रिया, उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया = औत्सुक्य-विकसितमना, मैथिली = सीता, पवनतनयम् = वायुसुतम्, हनुमन्तभित्यर्थः, इव = यथा, त्वाम् = मेघम्, वीक्ष्य = अवलोक्य, सम्भाव्य च = सत्कृत्य च, अस्मात् = वल्लभमैत्री-ज्ञानात्, परम् = अनन्तरम्, अविहिता = सावधाना सति, तलीना सतीत्यर्थः, श्रोष्यति = आकर्णयिष्यति, एव = निश्चयेन, मत्सन्देशभिति शेषः। हे सौम्य ! = हे भद्र ! सीमन्तिनीनाम् = कामिनीनाम्, सुहृदुपगतः = मित्रनीतः, कान्तोदान्तः = वल्लभवृत्तान्तः, संगमात् = प्रियमिलनात्, किञ्चिद्दूनः = ईषनन्यूनः, भवति इति शेषः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थः—(हे मेघ !) = इस प्रकार, आस्थाते = (तुम्हारे) कहने पर उन्मुखी = ऊपर की ओर मुँह किए; सा = वह मेरी प्रिया, उत्कण्ठोच्छ्वसित-हृदयः = उत्सुकता के कारण विकसित हृदय वाली (होती हुई), मैथिली = सीता, पवनतनयम् = हनुमानजी की, इव = तरह, त्वाम् = तुमको, वीक्ष्य = देखकर, सम्भाव्य च = और (तुम्हारा) सत्कार करके, अस्मात् = (तुम्हें पति का मित्र है यह जान लेने के), परम् = पश्चात्, अविहिता = सावधान (होकर) श्रोष्यति = (संदेशों को) सुनेगी, एव = निश्चय ही । हे सौम्य ! = हे सज्जन ! सुहृदुपगतः = मित्र के द्वारा लाया गया, कान्तोदान्तः = प्रिय का वृत्तान्त, संगमात् = प्रिय समागम से, किञ्चित् = कुछ ही, ऊनः = कम होता है ॥ ३७ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! अनेन प्रकारेण त्वत्कथिते सति जानकी हनुमन्तभिवोन्नतवदना विकसितचित्ता मतिप्रिया त्वां दृष्ट्वा सत्कृत्य च सावधाना सती मत्सन्देशमवश्यं श्रोष्यति, यतो हि कामिनीनां मित्र-प्राप्तः कान्तवृत्तान्तो वल्लभ-संगमादीषन्यूनो भवति ॥ ३७ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! इस प्रकार तुम्हारे कहने पर जिस प्रकार सीताजी ने हनुमान् जी को देखा था और उनका सत्कार किया था उसी प्रकार मेरी प्रिया भी अपने मुँह को ऊपर उठाकर उत्सुकता से विकसित हृदय वाली होती हुई तुम्हें देखकर और तुम्हारा सत्कार करके, सावधान होकर मेरे सन्देश को अवश्य सुनेगी, क्योंकि हे सज्जन ! स्त्रियों के लिए मित्र के द्वारा लाया गया नति का वृत्तान्त प्रियसमागम से कुछ ही थोड़ा होता है ॥ ३७ ॥

समासः—पवनस्य तनयः=पवनतनयः (ष० तद०) तम् । उक्षतं मुखं यस्याः सा उन्मुखी (बह०) । उच्छ्वसितं हृदयं यस्याः सा उच्छ्वसितहृदया (बह०), उत्कण्ठया उच्छ्वसितहृदया=उत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया (त० तद०) । शोभनं हृदयं यस्य स सुहृद् (बह०) । सुहृदा उपगतः=सुहृदुपगतः (त० तद०) । कान्तस्य उदन्तः=कान्तोदान्तः (ष० तद०) ।

कोशः—नारी सीमन्तिनी वधूः, इत्यमरः । वातप्रिवृत्तिर्वृत्तान्तमुदन्तः स्यात्, इत्यमरः । स्वान्तं हृन्मानसं भनः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—मैथिली—मध्यन्तोऽत्र रिपव इति मिथिला । विलोडनार्थक ‘मिथ’ धातु से ‘मिथिलादयश्च’ इस सूत्र से इलच् प्रत्यय करके मिथिला शब्द निष्पन्न होता है । मिथिलायां भवः इस विग्रह में ‘मिथिला’ शब्द से ‘तत्र भवः’ इस सूत्र से अण् प्रत्यय करके आदिवृद्धि करके ‘मैथिल’ ऐसा रूप निष्पन्न होता है । एवं स्त्रीत्व की विवक्षा में झोए करके ‘मैथिली’ ऐसा निष्पन्न होता है । प्राचीन मिथिला के (जिसे इस समय दरभज्ञा, मधुबनी, जनकपुर, तिरहुत आदि कहते हैं,) राजा जनक ये और उन्हीं के द्वारा हल चलाते समय पृथ्वी से जातकीजी का जन्म हुआ था । ये हल के काल पर मिली थीं अतः ये ‘सीता’ एवं मिथिला भूमि में जन्मी थीं इसलिए ‘मैथिली’ कही जाती हैं । **पवनतनयम्—हनुमान् जी को ‘पवन-तनय’ कहा जाता है । उनका यह नाम क्यों पड़ा इस बात की चर्चा ग्रन्थ विस्तार से नहीं की जाती है । इन्होंने रामचन्द्र जी की अङ्गूठी (प्रत्यभिज्ञान) लेकर उनका दूत बनकर चार सौ कोष विस्तृत समुद्र को लौंघकर लङ्घा में जाकर सीताजी का पता लगाया था और उन्हें रामचन्द्रजी का सन्देश सुनाया था । सीताजी ने भी हनुमान् को रामचन्द्रजी का पक्का दूत समझ लेने के बाद उनका सत्कार किया था, जैसा कि वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड में ये लोक आये हैं—**

विक्रान्तस्त्वं समर्थस्त्वं प्राज्ञस्त्वं वानरोत्तम ।

येनेदं राक्षसपदं त्वयैकेन प्रघावितम् ॥

शतयोजनविस्तीर्णः सागरो मकरालयः ।

विक्रमश्लाघनीयेन हनुमता गोष्ठपदी कृतः ॥ इत्यादि ।

उपयुक्त उपमा के द्वारा सीता की तरह यक्षपत्नी का पातिक्रत्य एवं हनुमान् की तरह मेघ का दूतत्व सम्पादित होता है। उन्मुखी—उन्मुख शब्द घटक 'मुख' शब्द स्वाङ्गवाची है, अतः 'स्वाङ्गच्छोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इस सूत्र से स्त्रीत्व विवक्षा में 'डीप्' हुआ है। श्रोष्यति—'श्रु' धातु के ल्ल-लकार में प्रथमपुरुष के एकवचन का यह रूप है। सीमन्तिनी—'सीमान्तोऽस्यस्याः' इस विश्रह में 'सीमन्त' शब्द से 'अत इनिठनौ' इस सूत्र से 'इनि' प्रत्यय करके 'सीमन्तिन्' शब्द बनाया जाता है। पश्चात् स्त्रीत्वविवक्षा में 'ऋन्नेष्यो डीप्' इस सूत्र से 'डीप्' करके 'सीमन्तिनी' ऐसा रूप बनता है। संगम—सम् उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु से 'ग्रहदृनिश्चिगमश्च' इस सूत्र से अप्रत्यय करके 'संगम' ऐसा रूप बनता है।

अलङ्कारः—यहाँ 'मैथिलीव' में उपमा अलङ्कार एवं 'अविहिता श्रोष्यति' इस वाक्य को चतुर्थं चरणोक्त वाक्य के द्वारा समर्थित होने के कारण 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है। एवं दोनों के निरपेक्ष भाव से रहने के कारण 'संस्कृट' अलङ्कार है ॥ ३७ ॥

तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं

ब्रूया एवं 'तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः ।

अव्यापन्नः कुशलभवले ! पृच्छति त्वां वियुक्तः'

पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे आयुष्मन्, मम, वचनात्, आत्मनः, उपकर्तुम्, च, ताम्, एवम्, ब्रूयाः 'हे अबले ! तव, सहचरः, रामगिर्याश्रमस्थः, अव्यापन्नः, वियुक्तः, त्वाम्, कुशलम्, पृच्छति'। सुलभविपदाम्, प्राणिनाम् एतदेव, पूर्वाभाष्यम् ॥ ३८ ॥

व्याख्या—हे आयुष्मन् = हे चिरञ्जीविन् ! मम = यक्षस्य, वचनात् = प्रार्थनावाक्यात्, आत्मनः = निजस्य, च, उपकर्तुम् = उपकारं कर्तुम्, ताम् = मत्प्रियाम्, एवम् = इत्यम्, ब्रूयाः = व्याहर । किमिति कथयति—हे अबले ! = हे दुबले ! तव = भवत्याः, सहचरः = सहचारी 'भर्ता' इत्यर्थः, रामगिर्याश्रमस्थः = रामगिरिनामकपर्वताश्रमस्थः, अव्यापन्नः = जीवित., सकुशल इत्यर्थः,

वियुक्तः=वियोगं प्राप्तः, (सन्) त्वाम्=भवतीम्, प्रियाभित्यर्थः, कुशलम्=क्षेमम्, मङ्गलभित्यावत्, पृच्छति=जिज्ञासते । सुलभविपदाम्=सुगमापत्तीनाम्, प्राणिनाम्=जन्तुनाम्, एतदेव=कुशलमेव, पूर्वाभाष्यम्=प्राक्कथनीयम् ॥ ३८ ॥

समाप्तः—हे आयुष्मन्=हे चिरजीविन् ! मम=मेरे, वचनात्=प्रार्थना वाक्यों से, आत्मनश्च=और अपने को भी, उपकर्तुम्=उपकृत करने के लिए, अर्थात् परोपकार की भावना से, ताम्=उस मेरी प्रिया को, एवम्=इस प्रकार, ब्रूयाः=कहना, (कि) हे अबले !=हे कृशाङ्गि ! तव=तुम्हारा, सहचरः=साथी (सहगामी), रामगिर्याश्रिमस्थः=रामगिरि के आश्रमों में रहता हुआ, अव्यापनः=सकुशल, वियुक्तः=(तुमसे) विछुड़ा (हुआ), त्वाम्=तुम्हारी, कुशलम्=कुशलता को, पृच्छति=पूछता है । सुलभविपदाम्=आसानी से विपत्तियों को प्राप्त करने वाले, प्राणिनाम्=प्राणियों के लिए, एतदेव=कुशल प्रश्न ही, पूर्वाभाष्यम्=प्रारम्भ में पूछने योग्य होता है ॥ ३८ ॥

भावार्थः—हे आयुष्मन् ! त्वं मत्पार्थेनावचोभिरुपकारभावनया च मत्प्रियाभित्यं कथयेः (यत्) हे अबले ! 'त्वत्प्रियः रामगिर्याश्रिमेषु निवसन् कुशली त्वद्वियुक्तः सन् त्वत्कुशलं पृच्छति' । सुगमप्राप्तविपत्तीनां जन्तुनां प्राक्कथनीयं कुशलमेव भवति ॥ ३८ ॥

हिन्दी—हे चिरञ्जीव ! तुम मेरी प्रार्थना से और उपकार की भावना से मेरी प्रिया को ऐसा कहना—(कि) 'हे अबले ! तुम्हारा प्रियतम तुमसे बिछुड़ा हुआ रामगिरि पवाँत के आश्रमों में रहता हुआ सकुशल तुम्हारा कुशल पूछ रहा है ' क्योंकि अनायास ही विपत्ति में फैस जाने वाले प्राणियों को पहले कुशल ही पूछना चाहिए ॥ ३८ ॥

समाप्तः—रामगिरेः आश्रमाः=रामगिर्याश्रमाः (७० तत् ०) तेषु तिष्ठति इति रामगिर्याश्रिमस्थः (उपपदसमाप्तः) । न व्यापनः=अव्यापनः (नव् ०) । पूर्वमाभाष्यम्=पूर्वाभाष्यम् (सुप्तुपा०) । सुलभा विपत् येषां ते सुलभविपदः (बहु०) तेषाम् ।

कोशः—कुशलं क्षेममस्त्रियाम्, इत्यमरः । स्त्रीयोषिदबलायोषा, इत्यमरः । जैवात्रकः स्यादायुष्मन्, इत्यमरः । विपत्यां विपदापदौ, इत्यमरः ।

टिष्ठणी—वचनात्—यहाँ ‘वच्’ धातु से ‘ल्युट्’ प्रत्यय करके ‘वचन’ रूप निष्पत्ति होता है। ‘ल्यव्लोपे कर्मण्यधिकरणे च’ इस सूत्र से कर्म में पञ्चमी विभक्ति हुई है। आत्मनः—यहाँ पर ‘आत्मन्’ शब्द से द्वितीय विभक्ति प्राप्त थी क्योंकि वह ‘उपकार’ क्रिया का कर्म है, परन्तु सम्बन्ध की विवक्षा होने के कारण ‘कर्मदीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव’ इससे बछड़ी हो गयी। उपकर्तुम्—‘उप’ उपसर्वपूर्वक ‘कृ’ धातु से तुमन् प्रत्यय करके ‘उपकर्तुम्’ ऐसा रूप निष्पत्ति होता है। अव्यापन्न—वि+आ उपसर्वपूर्वक ‘पद’ धातु से ‘क्त’ प्रत्यय करके ‘व्यापन्न’ रूप बनता है, न व्यापनः अव्यापन्नः। सुलभविपदाम्—यह प्राणियों का विशेषण है। संसार में प्राणियों को विषति प्राप्त होना सुलभ तो है ही। जैसा कि कवि ने अपने रघुवंश महाकाव्य में भी लिखा है—‘विषदुत्पत्तिमतामुपस्थिता।’ इति। भगवान् पतञ्जलि भी योगदर्शन में लिखते हैं—

‘परिणामतापसंस्कारदुःखं गृणद्वृतिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः’ इति।

अलङ्कारः—इस श्लोक में पूर्व के तीनों चरणों में कहे गये वाक्य का समर्थन चतुर्थ चरणोक्त ‘पूर्वाभाष्यम्’ इत्यादि से किया गया है, अतः ‘अर्थान्तरन्यास’ अलङ्कार है ॥ ३८ ॥

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
साल्वेणास्त्रद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।

उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैविशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—(हे अबले !) दूरवर्ती, वैरिणा, विधिना, रुद्धमार्गः, तनुना, गाढतप्तेन, साल्वेण, उत्कण्ठितेन, समधिकतरोच्छ्वासिना, अङ्गेन, प्रतनु, तप्तम्, अस्त्रद्रुतम्, अविरतोत्कण्ठम्, उष्णोच्छ्वासम्, अङ्गम्, तैः, सङ्कल्पैः, विशति ॥ ३९ ॥

व्याख्या—(हे सुन्दरी !) दूरवर्ती=दूरस्थः, वैरिणा=विपरीतेन, विधिना=विधात्रा, रुद्धमार्गः=अवरुद्धवर्तमा, (तव प्रियः) तनुना=कृशेन, गाढपत्तेन=अत्यन्तोष्णेन, साऽख्येण=अश्रुसहितेन, उत्कण्ठितेन=उत्सुकेन, समधिकतरोच्छ्वासिना=प्रबलनिःश्वासिना, अङ्गेन=स्वावयवेन, प्रतनु=बहुकृशम्, तस्म्=सन्तसम्, अस्त्रद्रुतम्=नयनजलाद्रौम्, अविरतोत्कण्ठम्=निरन्तरवेदनायुक्तम्, उष्णोच्छ्वासम्=उष्णनिःश्वासम्, अङ्गम्=त्वदवयवम्, तैः=पूर्वानुभूतैः, सङ्कल्पैः=मनोरथैः, विशति=प्रविशति ॥ ३९ ॥

शब्दार्थः—दूरवर्ती=दूर देश में रहने वाला, वैरिणा=विपरीत, विधिना=भाग्य से, रुद्धमार्गः=रुके हुए मार्ग वाला, (तुम्हारा क्रियतम) तनुना=दुबले, गाढपत्तेन=अत्यन्तापयुक्त, साख्येण=आँसुओं से युक्त, उत्कण्ठितेन=उत्सुकतापूर्ण, समधिकतरोच्छ्वासिना=दीर्घनिःश्वास लेने वाले, अङ्गेन=(अपने) शरीर से, प्रतनु=अत्यधिक दुबले, तस्म्=तापयुक्त, अस्त्रद्रुतम्=आँसुओं से भीगे, अविरतोत्कण्ठम्=निरन्तर उत्कण्ठा (वेदना) युक्त, उष्णोच्छ्वासम्=गर्म-गर्म आहों वाले, अङ्गम्=(तुम्हारे) शरीर में, तैः=पहले के अनुभूत, सङ्कल्पैः=मनोरथों के साथ, विशति=प्रवेश करता है ॥ ३९ ॥

भावार्थः—हे अबले ! प्रतिकूलभाग्येनावरुद्धपथो दूरस्थस्त्वत्पतिः कृशेन संतप्तेनापूर्णोत्कण्ठितेन दीर्घनिःश्वासयुक्तेन स्वशरीरेण कृशे संतप्तेऽश्रुकिलने उत्कण्ठिते दीर्घनिःश्वासयुक्ते त्वत्शरीरे पूर्वानुभूतैः मनोरथैः प्रविशति ॥ ३९ ॥

हिन्दी—हे अबले ! विपरीत भाग्य के कारण रुके हुए मार्ग वाला दूर देश में रहने वाला (तुम्हारा पति) अपने दुबले-पतले, संतस, अश्रुपूर्ण, वेदना से युक्त, लम्बी-लम्बी आहें भरने वाले शरीर से अत्यन्त दुबले, तापयुक्त, आँसुओं से भीगे, वेदनापूर्ण, लम्बी-लम्बी आहों से युक्त तुम्हारे शरीर में पहले के अनुभूत मनोरथों से प्रवेश करता है ॥ ३९ ॥

समाप्तः—दूरवर्ती—दूरे वर्तीत शीलमस्य इति=दूरवर्ती (उपपद०) । रुद्धमार्गः—रुद्धो मार्गो यस्य सः ‘रुद्धमार्गः (बह०) । गाढं तस्म्=गाढतसम् (सुप्तुपा०) तेन । अख्येण सहितम्=साक्षम् (तुल्य योग०) तेन । सम्यक्

अधिकतरम् = समधिकतरम् (कुगतिप्रा० इति समासः) । प्रकृष्टं ततु = प्रतनु
 (कुगतिप्रा० । असैः द्रुतम् = अस्त्रद्रुतम् (तु० तद०) तद । न विरता =
 अविरता (नव०) अविरता उत्कण्ठा यस्य तद = अविरतोत्कण्ठम् (बहु०) ।
 उष्ण उच्छ्वासो यस्य तद उष्णोच्छ्वासम् (बहु०) ।

कोशः—तिमं तीव्रं खरं तीक्ष्णं चण्डमुण्डं पटुस्मृतम्, इति यादवः ।
 चाश्रुनेत्राम्बुरोदनं चाक्षमश्रु च, इत्यमरः । गाढ-वाढ-दृढानि च, इत्यमरः ।
 रिपो वैरिसप्तनाऽरिद्विषतद्वेषणदुहूँदः, इत्यमरः । दैवं दिष्टं भागघोरं भाग्यं
 स्त्री नियतिर्विधिः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—‘दूरवर्ती’—‘दूर’ उपपदपूर्वक ‘हृत’ ब्रातु से तच्छील अर्थ में
 ‘गिनि’ प्रत्यय करके ‘दूरवर्ती’ ऐसा रूप बनता है । वैरी—वैरमस्यास्तीति
 ‘वैरी’ । ‘वैर’ शब्द से ‘अत इनिठनो’ इस सूत्र से ‘इन्’ प्रत्यये ‘वैरी’ शब्द
 बनाया जाता है । उत्कण्ठितेन—उत्कण्ठा सञ्जात अस्येति इस विग्रह में
 ‘उत्कण्ठा’ शब्द से ‘तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्’ इस सूत्र से ‘इतच्’
 प्रत्यय हुआ है । प्रतनु—यक्ष ने अपने शरीर को केवल पतला कहा परन्तु
 पत्नी के शरीरको प्रतनु कहा—अर्थात् एक तो वह स्वाभाविक दुर्बल थी, वियोग
 में अत्यधिक दुर्बल हो गयी होगी । ठीक इसी भाव का श्लोक वाल्मीकि-
 रामायण में आता है । ‘सा प्रकृत्यैव तन्वज्ञी तद्वियोगाच्च कर्शिता । प्रतिपत्यान-
 शीलस्य विद्येव तनुतां गता’ इति ॥

अलङ्कारः—यहाँ ‘सम’ अलङ्कार है क्योंकि यक्ष के शरीर और उसके
 पत्नी के शरीर का एक समान कथन किया गया है ।

‘समं स्यादानुरूपेणी श्लाघा या योग्यवस्तुनोः ।’ (साहित्यदर्पण) ।

शब्दाल्येण यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्तात्
 कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात् ।
 सोऽतिक्रान्तः अवणविषयं लोचनाम्यामदृश्य—
 स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥ ४० ॥

अन्वयः—(हे अबले !) यः, ते, सखीनाम्, पुरस्तात्, यत्, शब्दाख्येयम्, अपि, आननस्पर्शलोभात्, कर्णे, कथयितुम्, लोलः, अभूत्, किल । श्रवणविषयम्, अतिक्रान्तः, लोचनाभ्याम्, अदृश्यः, स, त्वाम्, उत्कण्ठाविरचितपदम्, इदम्, मन्मुखेन, आह ॥ ४० ॥

व्याख्या—(हे अबले !) यः=त्वत्प्रियः, ते=तव, सखीनाम्=आलीनाम्, पुरस्तात्=सम्मुखम्, यत्=वचनम्, शब्दाख्येयम्=स्पष्टैः शब्दैः कथनीयम्, (तद्) अपि आननस्पर्शलोभात्=त्वद्वदनसम्पर्काभिलाषात्, कर्णे=श्रोत्रे, कथयितुम्=वक्तुम्, लोलः=चपलः, अभूत्=आनीत्, किल=निश्चयेन । श्रवणविषयम्=कर्णकुहरम्, अतिक्रान्तः=उल्लङ्घितः कर्णेन्द्रियाऽविषय इति भावः । लोचनाभ्याम्=नेत्राभ्याम्, अदृश्यः=अनवलोक्यः, सः=त्वत्प्रियः, उत्कण्ठाविरचितपदम्=ओत्सुक्यनिर्मितपदम्, इदम्=अग्रेवक्ष्यमाणम्, मन्मुखेन =मदाननेन, आह=ब्रवीति ॥ ४० ॥

शब्दार्थः—(हे अबले !) यः=जो, (तुम्हारा प्रियतम्) ते=तुम्हारे, सखीनाम्=सखियों के, पुरस्तात्=सामने, यत्=जो, शब्दाख्येयम्=जो बात् ऊंचे शब्दों में कही का सकती थी (वह), अपि=भी, आननस्पर्शलोभात्=तुम्हारे मुख के स्पर्श के लोभ से, कर्णे=कान में, कथयितुम्=कहते के लिए, लोलः=चच्चल, अभूत्=हो जाता था । श्रवणविषयः=कान के विषय से, अतिक्रान्तः=अछूता अथर्वि कान से जो नहीं सुना जा सकता, लोचनाभ्याम्=नेत्रों से अदृश्यः=जो नहीं देखा जा सकता, सः=वह (तुम्हारा प्रिय), त्वाम्=तुमको, उत्कण्ठाविरचितपदम्=उत्सुकतावश बनाये गये शब्दों वाला, इदम्=यह आगे कहा जाने वाला (सन्देश), मन्मुखेन=मेरे मुँह के माघ्यम से, आह=कहता है ॥ ४० ॥

भावार्थः—हे सुन्दरि ! यस्ते वल्लभः पुरा त्वत्सहचरीनां समक्षं स्पष्टशब्दैः कथनीयमपि वचनं त्वन्मुख-चुम्बनाभिलाषया कर्णे वक्तुं चच्चल आसीत् । स एव कर्णेन्द्रियातीतः चक्षुभ्यामदृश्यः दूरवर्ती त्वत्प्रियः उत्सुकुतावशात् विरचित-पदं सन्देशं त्वां मन्मुखेन कथयति ॥ ४० ॥

हिन्दी—हे सुन्दरि ! जो प्रियतम् तुम्हारी सखियों के सामने जिसे स्पष्ट शब्दों में (ऊंचे से) भी कहा जा सकता था ऐसी बातों को भी तुम्हारे मुख के

स्पर्श के लोभ से कान में कहने के लिए चञ्चल होता था । वही जिसे कानों से नहीं तुन सकती या जिसे आँखों से नहीं देख सकती (दूर रहने के कारण), तुम्हारा प्रिय उत्सुकता से बनाये गये शब्दों वाला सन्देश तुमको मेरे द्वारा कह रहा है ॥ ४० ॥

समासः—शब्देन आर्थेयम् = शब्दार्थेयम् (तृ० त०), आननस्य स्पर्शः = आननस्पर्शः (ष० तद०), आननस्पर्शं लोभः = आननस्पर्शं लोभः (स० तद०), तस्मात् । श्रवणयोः विषयः = श्रवण-विषयः (प० तद०) तम् । द्रष्टुं योग्यः दृश्यः, न दृश्यः = अदृश्यः (नव०), उत्कण्ठया विरचितानि पदानि यस्य तत् = उत्कण्ठाविरचितपदम् (वह०) । मम मुखम् = मन्मुखम् (ष० तद०) तेन ।

कोशः—लोलुपो लोलुभो लोलो लालसो लम्पटोऽपि च, इति यादवः । पदं शब्दे च वाक्ये च, इति विश्वः । वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्, इत्यमरः ।

टिप्पणी—स्पर्श—‘स्पृश्’ धातु से ‘धृ’ प्रत्यय करके स्पर्श रूप निष्पन्न होता है । लोभः—‘लूभ्’ धातु से ‘धृ’ प्रत्यय करके ‘लोभ’ शब्द निष्पन्न होता है । अभूत्—यह सत्तार्थक ‘भू’ धातु के लुड़कार का रूप है । दृश्यः—द्रष्टुं योग्यः, इस विग्रह में क्यप् प्रत्यय करके ‘दृश्य’ रूप बनता है ।

**श्यामास्वङ्गः चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन् वक्त्रिदपि न ते चण्ड ! साहृश्यमास्त । ४१ ॥**

अन्वयः—(हे प्रिये !) श्यामासु, अङ्गम्, चकितहरिणीप्रेक्षणे; दृष्टिपातम्, शशिनि, वक्त्रच्छायाम्, शिखिनाम्, बर्हभारेषु, केशान्, प्रतनुषु, नदीवीचिषु, भ्रूविलासान्, उत्पश्यामि । हन्त ! हे चण्ड ! वक्त्रिदपि, एकस्मिन्, ते साहृश्यम्, न, अस्ति ॥ ४१ ॥

व्याख्या—(हे प्रिये !) श्यामासु=प्रियंगुललीषु, अङ्गम्=शरीरम्, चकि-
तहरिणीप्रेक्षणे=भयभीतमृगीबिलोकने, दृष्टिपातम्=त्वन्नेत्र-क्रियाम्, शशिनि=
चन्द्रमसि, वक्त्रच्छायाम्=त्वद्वदनकार्नित, शिखिनाम्=मयूराणाम्, बहंभारेषु
=पिच्छपुञ्जेषु, केशान्=प्रलकान्, प्रतनुषु=क्षीणासु, नदीवीचिषु=तटि-
नीतरङ्गेषु, भ्रूविलासान्, उत्पश्यामि=उत्प्रेक्षे (किन्तु) हन्त =इति विषादे,
हे चण्डि=हे भामिनि, वक्चिदपि=कुत्रापि, एकस्मिन्=एकत्र, ते=तव,
सादृश्यम्=साम्यम्, सर्वाङ्गीणतयेति शेषः, न=नहि, अस्ति=वर्तते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थः—(हे प्रिये !) श्यामासु=प्रियंगुलताओं में, अङ्गम्=(तुम्हारे)
शरीर की, चकितहरिणीप्रेक्षणे=भयभीतमृगी के देखने में, दृष्टिपातम्=तुम्हारे
नेत्र व्यापार की, शशिनि=चन्द्रमा में, वक्त्रच्छायाम्=मुँह की शोभा की,
शिखिनाम्=मयूरों के, बहंभारेषु=पंखों के समूहों में, केशान्=बालों की,
प्रतनुषु=पतली, नदी-वीचिषु=नदियों की तरङ्गों में, भ्रूविलासान्=तुम्हारे
भौंहों के विध्रम की; उत्पश्यामि=उत्प्रेक्षा (सम्भावना या कल्पना) किया
करता हूँ, किन्तु हन्त !=खेद है कि, हे चण्डि=हे भामिनि ! वक्चिदपि=
कहीं भी, एकस्मिन्=एक जगह (सर्वाङ्गीण रूप से), ते=तुम्हारी, सादृश्यम्
=समानता; न=नहीं, अस्ति=है ॥ ४१ ॥

भावार्थः—हे प्रिये ! प्रियंगुलतासु त्वदङ्गम्, चस्तमृगीबिलोकने दृष्टिपातम्,
चन्द्रे वदनशोभाम्, मयूरपिच्छपुञ्जेष्वलकान्, क्षीणनदीतरङ्गेषु भ्रूविभ्रमास्तकं-
यामि, किन्तु हन्त ! कुत्राप्येकस्मिन् माकल्येन त्वत्सादृश्यं नास्ति ॥ ४१ ॥

हिन्दी—हे प्रिये ! प्रियंगुलताओं में तुम्हारे शरीर की, भयभीत मृगी के
देखने में तुम्हारे देखने की, चन्द्रमा में तुम्हारे मुँह की शोभा की, मोरों के
पंखों के समूहों में तुम्हारे केशापाश की, पतली नदी की तरङ्गों में तुम्हारे
भ्रूविलास की सम्भावना में किया करता हूँ, परन्तु खेद है कि कहीं भी एक
जगह (सम्पूर्ण रूप से) तुम्हारी समानता नहीं है ॥ ४१ ॥

समाप्तः—चकिताश्च ताः हरिणः=चकितहरिणः (कर्मधार्य०) तासां
प्रेक्षणम्=चकितहरिणीप्रेक्षणम् (ष० तद०) तस्मिन् । वक्त्रस्य छाया=

वक्त्रच्छाया (ष० तद०) ताम् । वहर्णां भारः = वर्हभारः (ष० तद०)
तस्मिन् । प्रकृष्टाः तनवः = प्रतनवः (कुगति प्रा०) तेषु । नदीनां वीचयः =
नदीवीचयः (ष० तद०) तासु । भ्रुवो विलासाः = भ्रूविलासाः (ष० तद०)
तान् ।

कोशः—श्यामा तु महिलाह्या । लता गोवन्दनी गुन्द्रा प्रियङ्गुः फलिनी
फली, इत्यमरः । चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः, इत्यमरः । स्त्रियां वीचिररथोर्मिषु,
इत्यमरः । हन्त ! हर्षेऽनुकम्पायां वाक्याऽरम्भविषादयोः, इत्यमरः । एकाकी
त्वेक एककः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—यहाँ श्यामा का सादृश्य ‘कोमलता’ रूप समान धर्म के
कारण किया गया है । भयभीत हरिणी के नेत्र का साम्य चाच्छल्येन, चन्द्रमा
की समानता आल्हादजनकत्वेन, मरूरों के पंखों का साम्य कृष्णत्वेन चिक्कण-
त्वेन और नदी-तरङ्गों का साम्य भ्रूविलास में टेढ़ेपन के कारण किया
गया । प्रेक्षण—‘प्र’ उपसर्गपूर्वक ‘इक्ष’ धातु से ल्युट् प्रत्यय करके
‘प्रेक्षण’ रूप निष्पन्न होता है । दृष्टिः—‘दृश’ धातु से ‘किन्’ प्रत्यय करके
‘दृष्टिः’ शब्द निष्पन्न होता है । वक्त्रच्छायाम्—यहाँ पूर्व पदार्थ वक्त्र का
बाहुल्य अर्थात् अधिकता न होने के कारण ‘छाया बाहुल्ये’ इस सूत्र से ‘इक्षुच्छा-
याम्’ के समान यह पद नपुंसकलिङ्गी नहीं हो सका । शिखिनाम्—शिखा
अस्त्वेषाम् इस विग्रह में ‘शिखा’ शब्द से ‘अत इनिठनौ’ सूत्र से ‘इन्’
प्रत्यय करके ‘शिखिन्’ शब्द निष्पन्न होता है, उक्त रूप षष्ठी विभक्ति के बहु-
वचन का है । उत्पश्यामि—‘उत्’ उपसर्गपूर्वक ‘दृश’ धातु के लट् लकार
के प्रथम पुरुष के एकवचन का यह रूप है । चण्डि—‘वडि’ कोपे धातु के
इदित होने के कारण ‘इदितो नुमधातोः’ से नुम् करके जत्व आदि करके ‘नन्दि-
श्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः’ इस सूत्र से ‘अच्’ प्रत्यय करके ‘चण्ड’ ऐसा
शब्द बनाकर पश्चात् स्त्रीत्व की विवक्षा में ‘बह्वादिभ्यश्च’ इस सूत्र से
‘झीष्’ प्रत्यय करके ‘चण्डी’ रूप बनता है, श्लोकगत पद सम्बोधन का
है । कहीं-कहीं ‘षिद्-गौरादिभ्यश्च’ इस सूत्र से ‘झीष्’ करना बतलाया गया है

पर 'गीरादि' गण में उक्त शब्द के न होने के कारण वह अनुपयुक्त है। अस्ति—
यह सुप्रसिद्ध सत्तार्थक 'अस्' धातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन
का रूप है।

अलङ्कारः—साहित्यदर्पण के—

"सदृशाऽनुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते" ।

इस लक्षण के अनुसार यहाँ 'स्मरण' अलङ्कार है। क्योंकि प्रिया के शरीर
आदि के समान प्रियंगुलता आदि के अनुभव से (कोमलता आदि समान घर्म
के द्वारा) प्रिया के शरीर आदि की स्मृति प्रकृत में वर्णित है ॥ ४१ ॥

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुंम् ।
अस्तै स्तावन्मुहुरूपचितैदृष्टिरालुप्यते मे
कूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्घमं नौ कृतान्तः ॥४२॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) प्रणयकुपिताम्, त्वाम्, धातुरागैः, शिलायाम्
आलिख्य, आत्मानम्, ते, चरणपतितम्, कर्तुम्, यावत्, इच्छामि, तावत्, मुहुः,
उपचितैः, अस्तैः, मे, दृष्टिः, आलुप्यते । कूरः, कृतान्तः, तस्मिन्, अपि, नौ
संगमम्, न, सहते ॥ ४२ ॥

व्याख्या—(हे प्रिये !) प्रणयकुपिताम् = रतिकुद्धाम्, न त्वपराधकुपि-
तामिति भावः, त्वाम्=प्रेयसीम् त्वचित्रमितिभावः । धातुरागैः=गैरिकादिवर्णः
शिलायाम्=प्रस्तरपट्टे, आलिख्य=चित्रयित्वा, आत्मानम्=स्वम्, ते=तव
चित्रस्थायाः इति भावः, चरणपतितम्=पादपतितम्, कर्तुम्=सम्पादयितुम्,
चित्रितुमिति भावः, यावत्=यावत्समयम्, इच्छामि=अभिलषामि, तावत्=
तत्कालाऽविष्म, एवेति योज्यम्, मुहुः=अनेकशः, उपचितैः=प्रवद्धैः, अस्तैः
=नेत्रजलैः, मे=मम, दृष्टिः=नयनम्, आलुप्यते=आद्रियते, कूरः=निस्पृहः,
कृतान्तः=विधिः, तस्मिन्नपि=चित्रेऽपि, नौ=आवयोः, संगमम्=सहवासम्,
न सहते=न क्षमते ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः—(हे प्रिये !) प्रणयकुपिताम् = प्रेम में रूठी हुई, त्वाम् = तुमको (तुम्हारे चित्र को), भातुरागैः = नेरू आदि रंगों के द्वारा, शिलायाम् = पत्थर पर, आलिख्य = लिखकर, आत्मानम् = अपने को (अपने चित्र को) ते = तुम्हारे, चरणपतितम् = पैरों पर गिरा हुआ, करुम् = चित्रित करना, यावत् = जबतक, इच्छामि = चाहता हूँ, तावत् = उसी समय, मुहुः = बार-बार प्रवृद्धैः = उमड़े हुए, अस्त्रैः = अश्रुओं से, मे = मेरी, दृष्टिः = अस्त्रि, आलुप्यते = डूब जाती हैं (डव-डबा जाती हैं) । क्रूरः = कठोर, कुताङ्गतः = भाग्य, तस्मिन् = उस चित्र में, अपि = भी, तो = हम दोनों का, संगमम् = मिलन, न सहृते = नहीं सहता हैं ॥ ४३ ॥

भावार्थः—हे प्रिये ! प्रेमकुपितां त्वच्चित्रं गैरिकादिधातुवर्णं प्रस्तर-
पट्टे विलिरुय स्वप्रतिकृति यावत् त्वच्चरणपतितां चित्रितुमिच्छामि तावदेव
भूयो भूयः प्रवृद्धैरश्रुमिर्मम नेत्रमाक्षियते, निर्देयो विद्धिः चित्रेऽप्यावयोः सहवासं
न क्षमते ॥ ४२ ॥

हिन्दी—(हे प्रिये !) प्रणय में कुपित तुम्हारे चित्र को गेहूं आदि रंग से पत्थर पर लिखकर अपने चित्र को जब तक तुम्हारे पाँवों पर गिरा हुआ चित्रित करना चाहता हूँ, तभी बार-बार उमड़ते आँसुओं से मेरी आँखें डब-डबा जाती हैं । कठोर विद्याता चित्र में भी हम दीनों के मिलन को नहीं सहन करता ॥ ४३ ॥

समासः—प्रणये कुपिता=प्रणयकुपिता (स० तद०) ताम्, धातव एव
रागा=धातुरागा: (रूपक ,) तैः । चरणयोः पतितः=चरणपतितः (स० तद०)
तम् । कृतः अन्तः येन सः कृतान्तः (बह०) ।

कोशः—सारज्ञादी च रागः स्यादाशुष्ये रञ्जने पुमान्, इति शब्दार्थंवः।
नृशंसो धातुकः क्रूरः, इत्यमरः। कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु, इत्यमरः।
धातुर्वार्ताऽदिवशब्दाऽदिव गैरिकादिषु, इति यादवः।

टिप्पणी—कुपिता—‘कुप’ धातु से कर्ता में ‘क्त’ प्रत्यय करके इडादि करके स्वीत्व-विवक्षा में टाप् करके ‘कुपिता’ यह रूप बनता है। क्रोध दो प्रकार का होता है। एक तो ईर्ष्याजन्य क्रोध और दूसरा प्रणयंकोप। रतिकाल में नायिका का बनावटी क्रोध रतिवर्धक ही होता है, यक्ष, उसी समय का स्मरण

करके प्रिया का चित्र बनाना शुरू किया होगा । आलिख्य—‘बाढ़’ उपसर्गं पूर्वक ‘लिख्’ धातु में ‘क्त्वा’ प्रत्यय करके उसके स्थान में ‘ल्यप्’ करके आलिख्य रूप बनता है । पतित—पतनार्थक ‘पत्’ धातु से कर्ता में ‘क्त्’ प्रत्यय करके ‘पतित’ ऐसा रूप बनता है । नौ—‘अस्मद्’ शब्द के स्थान पर ‘युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोवर्णावौ’ इस सूत्र से ‘नौ’ आदेश किया जाता है ।

अलङ्कारः—इस पद्य में ‘अर्थापत्ति’ अलङ्कार है ॥ ४२ ॥

मामाकशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
लंघ्यायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु ।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥४३॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) स्वप्नसंदर्शनेषु, मया, कथमपि, लघ्यायाः, ते, निर्दयाश्लेषहेतोः आकाशप्रणिहितभुजम्, माम् पश्यन्तीनाम्, स्थलीदेवतानाम्, मुक्तास्थूलाः अश्रुलेशाः, तरुकिसलयेषु, बहुशः, न, पतन्ति, न खलु ॥ ४३ ॥

व्याख्या— हे प्रिये !) स्वप्नसंदर्शनेषु = स्वप्नसाक्षात्कारेषु, मया = यक्षेण, कथमपि = केनापि प्रकारेण, लघ्यायाः = प्राप्तायाः, ते = तव, निर्दयाश्लेषहेतोः = पुरुषाश्लिङ्गनार्थमितिभावः, आकाशप्रणिहितभुजम् = गगनप्रसारितवाहुम्, माम् = यक्षम्, पश्यन्तीनाम् = अवलोक्यन्तीनाम्, स्थलीदेवतानाम् = अरण्यस्थलीदेवीनाम्, मुक्तास्थूलाः = मौक्तिकपीवराः, अश्रुलेशाः = अस्त्रविन्दवः बाष्पकणा इत्यर्थः, तरुकिसलयेषु = वृक्षनवपल्लवेषु, बहुशः = भूरिशः, न पतन्ति = न स्खलन्ति, (इति) न = नहि, अपितु पतन्त्येव, खलु = निष्प्रयेत ॥ ४३ ॥

शब्दार्थः—(हे प्रिये !) स्वप्नसंदर्शनेषु = स्वप्न के देखने में, मया = मेरे द्वारा, कथमपि = किसी प्रकार से, लघ्यायाः = प्राप्त, ते=तुम्हारे; निर्दयाश्लेषहेतोः=कठोर आलिङ्गन के लिए, आकाशप्रणिहितभुजम्=आकाश में फैलाये गये बाहुवाले, माम् = मुक्तको, पश्यन्तीनाम्=देखती हुई, स्थलीदेवतानाम् = वनवै-

वियों के; मुक्तास्थूलाः = मोतियों के समान बड़े, अश्रुलेशाः = आंसुओं की बूँदे (बाष्पकण) तरुकिसलयेषु = वृक्षों के पल्लवों पर, बहुशः = बहुत, न पतन्ति = नहीं गिरते (इति = ऐसा) न = नहीं; अपितु गिरते ही हैं, खलु=निश्चय ॥४३॥

भावार्थः—हे प्रिये ! स्वप्नावलोकनेषु मया महता यत्नेन लब्धायास्तद शाढाऽलिङ्गनार्थमाकाशे प्रसारितबाहु मां पश्यन्तीनामरण्यदेवीनां मौक्तिक-पीवराः (बाष्प-बिन्दु-रूपाः) अश्रवः पतन्त्येव ॥ ४३ ॥

हिन्दी—हे प्रिये ! स्वप्न देखने में मैं बहुत प्रयास से जब तुम्हें पाता हूँ और तुम्हारे गाढ़ आलिङ्गन के लिए आकाश में बाहुओं को फैलाता हूँ, उस समय मुझको देखने वाली बनदेवियों के मोतियों की तरह बाष्पबिन्दु क्या वृक्षों के पल्लवों पर न गिर पड़ते, अपितु अवश्य गिर जाते हैं ।

समाप्तः—स्वने संदर्शनानि = स्वप्नसंदर्शनानि (तृ० तत०) तेषु । निर्गंता दया यस्मात् सः निर्दयः (बहु०) निर्दयश्चासौ आश्लेषः निर्दयाश्लेषः, स एव हेतुः = निर्दयाश्लेषहेतुः (रूपक०) तस्य । प्रणिहित भुजौ येन स प्रणिहित-भुजः (बहु०) आकाशे प्रणिहितभुजः = आकाशप्रणिहितभुजः (स० तत०) तथ् । स्थलीनां देवताः = स्थलीदेवताः (ष० तत०) तासाम् । मुक्ता इव स्थूलाः = मुक्तास्थूलाः (उपमित कर्म०) अश्रूणां लेशाः—अश्रुलेशाः (ष० तत०) । तरूणां किसलयानि = तरुकिसलयानि (ष० तत०) तेषु ।

कोशः—स्वप्नः सुप्तस्य विज्ञानम्, इति विश्वः । दर्शनं समये शास्त्रे दृष्टौ स्वप्नेऽक्षिण संविदि, इति शब्दार्थंवः । भुज बाहू प्रवेष्टो द्वोः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—ऊपर दिये गये शब्दार्थंव कोश के अनुसार स्वप्न का अर्थ संविद् = ज्ञान होता है एवं दर्शन का भी वही अर्थ होता है । इस प्रकार ‘स्वप्नसंदर्शने’ में ‘पुनरुक्ति’ नामक काव्य-दोष की प्रसक्ति होती है, परन्तु ‘सामान्यविशेष’ न्याय से यह पुनरुक्ति दोष नहीं होता । जैसे आग्र = शब्द का अर्थ ही आग्र वृक्ष है पुनः ‘आग्रवृक्ष’ यहाँ पर वृक्ष सामान्य एवं आग्रविशेष है उसी तरह यहाँ भी ‘स्वप्न’ एक विशेष ज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए । **दर्शन**—‘दृश’ धातु से करण में ल्युट्र प्रत्यय करके ‘दर्शन’ ऐसा रूप निष्पत्त होता

हे । आश्लेष—‘आङ्’ उपसगंपूर्वक ‘इलिष्’ धातु से ‘धब्’ प्रत्यय होता है । यहाँ प्रकृत्यर्थ ‘गिरना’ की दृढ़ता अर्थात् ‘अवश्य गिरते हैं’ इसके लिए दो नवों का प्रयोग किया गया है । जैसा कि कहा जाता ‘द्वौ नवौ दाढ़्यार्थं गम-यतः’ इति । आलङ्कारिक सूत्र भी है—

‘स्मृतिनिश्चयसिद्धाऽर्थे नञ्चद्वयप्रयोगः सिद्धः’ इति ।

महाकवि ने वनदेवियों का अश्रुपात पृथ्वी पर न कहकर तरुपर्लव पर कहा है । क्योंकि देवताओं का अश्रुपात यदि पृथ्वी पर हो तो देशभ्रंश, महादुःख और मरण होता है । जैसा कि कहा जाता है—

‘महात्मगुरुदेवानामश्रुपातः क्षितौ यदि ।

देशभ्रंशो महददुःखः मरणच्च भवेदध्युवम् ॥’

महात्मा, गुरु और देवताओं का अश्रुपात यदि पृथ्वी पर हो तो देशभ्रंश, महददुःख और मरण अवश्य हो ।

अलङ्कारः—‘मुक्तास्थूला’ यहाँ इव आदि सामान्य धर्मवाचक पद के लोप होने के कारण ‘लुप्तोपमा’ नामक अलङ्कार है ॥ ४३ ॥

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्धमाणां

ये तत्क्षीरस्तु तिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।

आलिङ्गन्ते गुणवति ! मया ते तुषाराद्रिवाताः

पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्त्वेति ॥४४॥

अन्वयः— देवदारुद्धमाणाम्, किसलयपुटान्, सद्यो, भित्त्वा, तत्क्षीरस्तुति-सुरभयो, ये, तुषाराद्रिवाता, दक्षिणेन, प्रवृत्ताः, गुणवति ! पूर्वम्, एभिः, तव, अङ्गम्, स्पृष्टम्, भवेत्, यदि, किल, इति, ते, मया, आलिङ्गन्ते ।

व्याख्या— देवदारुद्धमाणाम्=देवदारु-नामक-तृक्षाणाम्, किसलयपुटान्=पल्लवपुटान्, सद्यः=तत्क्षणे, भित्त्वा=विच्छेद, तत्क्षीरस्तुति-सुरभयः=देवदारु-निर्गंतुदुर्घसुगन्धयः; ये तुषाराद्रिवाताः=हिमालयपवनाः, दक्षिणेन=दक्षिण-

भार्गेण, प्रवृत्ताः=प्रचलिताः, हे गुणवति = हे सर्वंगुण-सम्पन्ने ! पूर्वम्=प्राक्, एभिः=हिमालयपवनैः, तव=भवत्याः, प्रियाया इत्यर्थः, अङ्गम्=शरीरम्, स्पृष्टम्=आमृष्टम्, भवेत्=स्यात्, यदि=चेत्, ते=हिमालय-पवनाः, किल=इति संभावनायाम्, इति=एवं प्रकारे निश्चयेन, मया=यज्ञेण, आलिङ्ग्यन्ते=आश्लिष्यन्ते ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः—देवदारु-द्रुमाणाम्=देवदारु वृक्षों के, किसलयपुटात्=पल्लवों की तहों को, सद्यः=शीघ्र ही, भिस्वा=खिलाकर, तत्क्षीरस्तुतिसुरभयः=उनके बहते हुए दूध से सुगन्धित, ये तुषाराद्विवाताः=जो हिमालय की हवा, दक्षिणेन=दक्षिण की ओर, प्रवृत्ता=वह रही है, हे गुणवति=हे शीशीत्यादि गुणसम्पन्ने ! पूर्वम्=पहले; एभिः=इन हवाओं से; तव=तुम्हारा; अङ्गम्=शरीर, स्पृष्टम्=छुआ गया, भवेत्=होगा; यदि=यदि; किल=अवश्य, इति=इसी सम्भावना से; ते=वे हवाएँ, मया=मेरे द्वारा, आलिङ्ग्यन्ते=आलिङ्गित की जाती हैं ॥ ४४ ॥

भावार्थः—हे गुणवति ! देवदारु पल्लवान् विकास्य यद्दुग्धम् उगन्धिभिः सुगन्धिताः दक्षिणमार्गं प्रचिलताः हिमालयपवनाः प्राक् त्वदङ्गेन स्पृष्टा अवश्यं भवेयुरिति संभावनया अहं तान् हिमालयपवनानालिङ्गयामि ॥ ४४ ॥

हिन्दी—हे गुणवति ! देवदारु के पल्लवों को खिलाकर उसके बहते हुए दूध की सुगन्धि से सुगन्धित दक्षिण की ओर बहने वाली हिमालय की वायु से पहले तुम्हारे अङ्ग का स्पर्श अवश्य हुआ होगा, इस संभावना से मैं हिमालय की उन हवाओं का आलिङ्गन करता हूँ ॥ ४४ ॥

समाप्तः—देवदारवश्च ते द्रुमाः=देवदारु द्रुमाः (कमंधा०) तेषाम् । किसलयानि पुटा इव=किसलयपुटा (उपमित क० धा०) तान् । तेषां क्षीरम्=तत्क्षीरम् (ष० तत०) तस्य सृतिः=तत्क्षीरस्तुतिः (ष० तत०), तदा सुरभयः=तत्क्षीरस्तुतिसुरभयः (त० तत०) । तुषारस्य अद्विः=तुषाराद्विः (ष० त०) तस्य वाताः=तुषाराद्विवाताः (ष० तत०) ।

कोशः—वार्तासम्भाव्ययोः किल, इत्यमरः । सद्यः सपदि तत्क्षणे, इत्यमरः ।

टिप्पणी—प्रवृत्ता—‘प्र’ उपसर्गं पूर्वकं ‘इव’ धातु से कर्ता में “क्त” प्रत्यय हुआ है। दक्षिणे—“दक्षिण” चूंकि यह प्रकृतिवाची शब्द है अतः ‘प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्’ से यहाँ तृतीया विभक्ति होनी चाहिए, परन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि ‘तत्रापि करणत्वस्य प्रतीयमानत्वात्’ इत्यादि हेतु देकर ‘कर्तृकरणयोस्तृतीया’ इसी सूत्र से तृतीया विभक्ति का व्याख्यान करते हैं। स्पृष्टम्—‘स्पृश’ धातु से ‘क्त’ प्रत्यय करके ‘स्पृष्टम्’ ऐसा रूप निष्पन्न होता है। भवेत्—यहाँ संभावना में विधि लिङ् ‘भू’ धातु से आया है। इस श्लोक में सम्भावना का कथन तीन पदों द्वारा किया गया है अतएव यहाँ सम्भावना का अतिशय प्रतिपादन है, यह कहा जा सकता है। वे तीन पद हैं—१ यदि २ किल और ‘भू’ धातु से संभावना में विधि लिङ् लकार में बने रूप ३ ‘भवेत्’।

वाल्मीकिरामायण में भी इसी भाव का श्लोक आता है।

‘वाहि वात ! यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृशेः ।

बह्वेतत्काममानस्य शक्यमेतेन जीवितम् ॥’ (किञ्चिक०, १-५३)

संक्षिप्तते क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा

सर्वावस्थास्वहृरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।

इत्थं चेतश्चटुलनयने ! दुर्लभप्रार्थनं मे

गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥४५॥

अन्वयः—दीर्घयामा, त्रियामा, क्षण, इव, कथम्, संक्षिप्तते ? अहरपि, सर्वावस्थासु, कथम्, मन्दमन्दातपम्, स्यात्, हे चटुलनयने ! इत्थम्, दुर्लभप्रार्थनम्, मे, चेतः, गाढोष्माभिः, त्वद्वियोगव्यथाभिः, अशरणम्, कृतम् ॥ ४५ ॥

व्याख्या—दीर्घयामा=दीर्घप्रहरा, त्रियामा=रजनी, क्षण इव =अल्पकाल इव, कथम्=केन प्रकारेण, संक्षिप्तते=लघ्वीभवेत्, अहरपि=दिवसोऽपि, सर्वावस्थासु=सकलवशासु, कथम्=केन प्रकारेण, मन्दमन्दातपम्=न्यूनाऽतपम्, स्यात्=भवेत् ? हे चटुलनयने =चचलनेत्रे ? इत्थम् = अनेन प्रकारेण, दुर्लभ-

प्रार्थनम्=अप्राप्याभिलाषम्, मे=मम, यक्षस्येत्यर्थः, चेतः=मनः, गाढोष्माभिः=अत्यधिकतापवद्धिः, त्वद्व्यथाभिः=त्वदीयवियोगपीडाभिः, अशरणम्=अनाथम्, कृतम्=संपादितम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थः—दीर्घयामा=बड़े प्रहरों वाली, त्रियामा=रात, कथम्=किस प्रकार, क्षण इव=एक पल के समान, संक्षिप्तते=छोटी हो जाये, अहरपि=दिन भी, सर्वाऽवस्थासु=सभी दशाओं में, कथम्=किस प्रकार, मन्दमन्दातपम्=कम सन्तापवाला, भवेत्=हो जाये । हे चटुलनयने=हे चच्चल नयनों वाली ! इत्थम्=इस प्रकार, दुर्लभ-प्रार्थनम्=अप्राप्य मनोरथवाला, मम=मेरा, चेतः=मन, गाढोष्माभिः=अत्यधिक सन्ताप वाली, त्वद्व्यथाभिः=तुम्हारे वियोग की पीडा से, अशरणम्=असहाय, कृतम्=बना दिया गया है ॥ ४५ ॥

भावार्थः—दीर्घप्रहरा रजनी केन प्रकारेण लघ्वी भवेत् ? दिनमपि सम्पूर्ण-वस्थासु केन प्रकारेण अत्यल्पसन्तापयुक्तं भवेत् ? हे चच्चलाक्षि ! इत्थं कठिन-प्राप्यमनोरथं मे मनः त्वद्विरहवेदनाभिरनाथं कृतम् ॥ ४५ ॥

हिन्दी—बड़े-बड़े प्रहरों वाली रात किस तरह छोटी हो जाये ? दिन भी सब समयों में कैसे अत्यल्प सन्ताप वाला हो जाये ? हे चपलनयने ! इस तरह कठिनता से प्राप्त मनोरथ वाला मेरा मन तुम्हारे वियोग की व्यथा से अनाथ बना दिया गया है ॥ ४५ ॥

समाप्तः—दीर्घा यामा यस्याः सा दीर्घयामा (बहु०) । त्रयो यामा यस्याः सा त्रियामा (बहु०) । सर्वाश्च ता अवस्थाः=सर्वाऽवस्थाः (कर्म०धा०) तासु । मन्दमन्दः आतपो यस्मिस्तत्=मन्दमन्दातपम् (बहु०) । चटुले नयने यस्याः सा=चटुलनयना (बहु०) । तत् सम्बुद्धौ । दुर्लभा प्रार्थना यस्य तत्=दुर्लभप्रार्थनम् (बहु०) गाढ़ ऊष्मा यासां ता गाढोष्माणः (बहु०) ताभिः । तत् वियोगः=त्वद्वियोगः (ष० तत०) तस्य व्यथाः त्वद्वियोगव्यथाः (ष० तत०) ताभिः । अविद्यमानं शरणं यस्य तत्=(नव० बहु०) ।

कोशः—शरणं शृहरक्षित्रोः, इत्यमरः । निशा निशीयिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षणा, इत्यमरः । उस्तो दिनाहनी वातु क्लीबे दिवसवासरौ, इत्यमरः ।

टिप्पणी—एक दिन-रात में आठ प्रहर होते हैं। इस प्रकार यद्यपि रात के भी चार प्रहर होने चाहिए परन्तु, अमरकोश के टीकाकार के भटानुसार रात के आदि के अर्ध प्रहर एवं अन्त के अर्ध प्रहर रात नहीं है अतः ‘रात’ को त्रियामा कहा जाता है। संक्षिप्त्यते—‘सम’ उपसर्गं पूर्वक ‘क्षिप्’ धातु ‘विधि लिङ्’ का यह रूप है। सर्वावस्थासु—यहाँ ग्रीष्म ऋतु के लम्बे दिनों की दुपहरी आदि का समय समझना चाहिए। मन्दमन्दातपम्—‘मन्दम्’ इसका ‘प्रकारे गुणवचनस्य’ इस सूत्र से द्विरुक्ति हो गयी एवं ‘कर्मधारय-बदुत्तरेषु’ इस सूत्र से कर्मधारयवद्भाव हो जाने से ‘सुपो धातुप्रातिपदिक्योः’ इस सूत्र से सुप् का लुक् हो जाता है। दुर्लभप्रार्थनम्—यह पद ‘चेतः’ इस पद का विशेषण है। गाढोष्माभिः—यहाँ ‘उष्मन्’ शब्द यद्यपि पुंलिङ्ग है तथापि वहुत्रीहि समास हो जाने पर समस्त शब्द स्त्रीलिङ्ग हो जाने पर ‘डावुष्मामन्यतरस्याम्’ इस सूत्र से स्त्रीत्व की विवक्षा में ‘डाप्’ हो जाने से ‘गाढोष्मा’ ऐसा रूप निष्पत्त होता है ॥ ४५ ॥

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि ! त्वमपि नितरां मागमः कातरत्वम् ।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥४६॥

अन्वयः—ननु बहु विगणयन्, आत्मानम्, आत्मना, एव, अवलम्बे, तद कल्याणि ! त्वमपि, नितराम्, कातरत्वम्, मा, गमः । कस्य, अत्यन्तम्, सुखम्, दुःखम्, वा, एकान्ततः उपगतम् ? चक्रनेमिक्रमेण, दशा, नीचैः, उपरि, च गच्छति ॥ ४६ ॥

व्याख्या—ननु=हे प्रिये ! बहु=अधिकम्, विगणयन्=विचारयन्, आत्मा-नम्=स्वम्, आत्मनैव=स्वेनैव, अवलम्बे=धारयामि । तद=तद्वेतोः, हे कल्याणि=हे सुभगे ! त्वम्=मतिप्रया अपि, नितराम्=अत्यन्तम्, कातरत्वम्=भीरत्वम्, मागमः=नोयायाः । कस्य=जनस्य, अत्यन्तम्=अत्यधिकम्, सुखम्

= आनन्दः, दुःखम् = कष्टम्, वा = अथवा, एकान्ततः = नियमेन, उपनतम् = प्राप्तम् । (किन्तु) चक्रनेमिक्रमेण = स्यन्दनाङ्गप्रधिपरिपाठया, दशा = अवस्था, नीचैः = अष्टः, उपरि च = ऊर्ध्वंच, गच्छति = याति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थः—ननु = हे प्रिये ! वस्तुतः, वहु = बार·बार, विगणयन् = विचार करता हुआ, (मैं) आत्मानम् = अपने को, आत्मनैव—अपने द्वारा ही, अवलम्बे = श्रीरज बैधाता रहता हूँ । तत् = इस कारण से, हे कल्याणि = हे सौभाग्यवति ! त्वमपि = तुम भी, नितराम् = अत्यधिक, कातरत्वम् = भीरुता को, मागमः = मत प्राप्त करना, (इस संसार में) कस्य = किस व्यक्ति का, अत्यन्तम् = अत्यन्त, सुखम् = आनन्द, दुःखम् = कष्ट, वा = अथवा, एकान्ततः = नियमित, उपनतम् = रहा है । चक्रनेमिक्रमेण = रथ की धुरी के क्रम से, दशा = (व्यक्ति की) अवस्था, नीचैः = नीचे की ओर, उपरि च = ऊपर की ओर, गच्छति = जाती रहती है ॥ ४६ ॥

भावार्थः—हे प्रिये ! वहु विचारयन्नात्मानमात्मनैव धारयामि, तस्मात् कारणात् हे सुभगे ! त्वमपि वहुभीरुतां मा गच्छेः, कस्य जनस्य अत्यधिकं सुखं दुःखं वा नित्यं प्राप्तम्, रथचक्राङ्गपरिपाठया व्यक्तिदशा नीचैः उपरि च गच्छति ॥ ४६ ॥

हिन्दी—हे प्रिये ! बहुत विचार करता हुआ मैं अपने को स्वयं ही श्रीरज बैधाता रहता हूँ, इसलिए हे सौभाग्यवति ! तुम भी अधिक भीरुता को मत प्राप्त करना । किस व्यक्ति का अत्यधिक सुख या दुःख नित्य रहता है ? रथ की धुरी के समान व्यक्ति की दशा (कभी) ऊपर और (कभी) नीचे जाती है ॥ ४६ ॥

समाप्तः—अन्तमतिक्रान्तः—अत्यन्तम् (अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीया) । चक्रस्य नेमिः—चक्रनेमिः (ष० तद०) तस्य क्रमः चक्रनेमिक्रमः (ष० तद०) तेन ।

कोशः—प्रश्नावधारणानुच्चानुनयामन्त्रणे ननु, इत्यमरः । चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्पाद् प्रधिः पुमान्, इत्यमरः । चक्रधारा प्रधिर्नेमिः, इति ग्रादक्षः ।

टिप्पणी—ननु=यहाँ इसका ग्रहण आमन्त्रण अर्थ में है। विगणयन्—‘वि’ उपसर्गंपूर्वक ‘गण’ धातु से ‘गिच्’ करके लट्टलकार के स्थान पर ‘शत्रु’ आदेश करके ‘विगणयन्’ ऐसा रूप उपयन्त्र होता है। आत्मना—यहाँ ‘प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्’ इस सूत्र से तृतीया विभक्ति हुई है। अवलम्बे—‘अब’ उपसर्गंपूर्वक आत्मनेपदी लब+(इ) धातु से इदित्वान्नुम् आदि करके लट्टलकार के उत्तमपुरुष एकवचन में ‘अवलम्बे’ ऐसा रूप बनता है। कल्याणि—कल्याण ‘शब्द’ से ‘वह्नादिभ्यश्च’ सूत्र से डीप् करके ‘कल्याणी’ ऐसा रूप बनाया जाता है। यह सम्बोधन का रूप है। उक्त विशेषण देने का अभिप्राय है कि ‘हे सौभाग्यवति ! मैं तुम्हारे सौभाग्य बल से ही जी रहा हूँ।’ इति। कातरत्वम्—कातराया भावः इस अर्थ में ‘कातरा’ शब्द से ‘तस्य भावस्त्वतलो’ इस सूत्र से ‘त्व’ प्रत्यय हुआ है और ‘त्वतलोर्गुणवचनस्य’ इस सूत्र से ‘कातरा’ को पुंवद्धाव हो गया है। उपनतम्—उप उपसर्गंपूर्वक ‘नम्’ धातु से ‘क्त’ प्रत्यय होकर अनुनासिक का लोप करके ‘उपनतम्’ ऐसा रूप बनता है।

महाकवि भासरचित स्वप्नवासवदत्तम् में—

‘कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना ।

चक्रारपङ्कितरिव गच्छति भाग्यपङ्कितः ॥

यह श्लोक आया है। कालिदास के इस श्लोक में उसी की छाया है।

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शाङ्गपाणौ

शेषान्मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।

पश्चादावां विरहगणितं तं तमात्माभिलाषं

निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥४७॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) शाङ्गपाणौ, भुजगशयनात्, उत्थिते, मे, शापान्तः। शेषान्, चतुरः मासान्, लोचने, मीलयित्वा, गमय। पश्चात्, बावाम्, विरह-

गणितम्, तं तम्, आत्माऽभिलाषम्, परिणतशरच्चन्द्रिकासु, क्षपासु, निवेद्यावः ॥ ४७ ॥

व्याख्या—हे प्रिये ! शाङ्कंपाणी=विष्णो, भूजगशयनात्=शेषशश्यात्; उत्थिते=प्रबुद्धे (सति) मे=मम (यक्षस्य) शापान्तः=शापावसानः । शेषान्=अवशिष्टान्, चतुरः=चतुःसंख्याकान्, मासान्=त्रिशद्दिवसीयकालविशेषान्; लोचने=नेत्रे, मीलयित्वा=निमील्य, गमय=व्यतीतय । पञ्चात्=शापावसानानन्तरम्, आवाम्=अहच्च त्वच्च, विरहगणितम्=वियोग-विगणितम्, तं तम्=अनेकप्रकारकम्, आत्माऽभिलाषम्=निजमनोरथम्, परिणतशरच्चन्द्रिकासु=परिपक्वशरदिन्दुकलासु, क्षपासु=रात्रिषु, निवेद्यावः=भोक्ष्यावहे ॥ ४७ ॥

शब्दार्थः—(हे प्रिये !) शाङ्कंपाणी=विष्णुभगवान् के, भूजगशयनात्=शेषशश्या से, उत्थिते=उठ जाने पर, मे=मेरे, शापान्तः=शाप का अन्त (होगा) । शेषान्=(तब तक तुम) बचे, चतुरः=चार, मासान्=महीनों को, लोचने=आँखें, मीलयित्वा=मूँदकर, गमय=विताओ । पञ्चात्=चार महीने बाद, आवाम्=हम दोनों, विरहगणितम्=वियोग-संकलिपत, तं तम्=उन-उन (अनेक प्रकार के), आत्माऽभिलाषम्=अपने मनोरथों का, परिणतशरच्चन्द्रिकासु=शरदकृतु की परिणत चन्द्रिका वाली, क्षपासु=रातों में, निवेद्यावः=उपभोग करेंगे ॥ ४७ ॥

भावार्थः—हे प्रिये ! शेषशश्यातः यदा विष्णावुत्थिते सति मे शापविमुक्तिभंविष्यति । अतः शेषं मासचतुष्टयं नेत्रे निमील्य यापय । तदनन्तरमावां वियोगसङ्कलिपतमनेकप्रकारकं मनोऽभिलाषं शरदिन्दुकलाघवलितासु रात्रिषु भोक्ष्यावहे ॥ ४७ ॥

हिन्दी—हे प्रिये ! शेषशश्या से भगवान् विष्णु के उठ जाने पर मेरे शाप की निवृत्ति होगी । अतः बचे हुए चार महीनों को आँखें मीचकर बिता डालो । पीछे हम दोनों वियोग में विचारे गये उन अनेक प्रकार के अपने मनोरथों का शरत्काल की परिपक्व चन्द्रिका वाली रातों में उपभोग करेंगे ॥ ४७ ॥

समासः—शाङ्गं पाणी यस्य स शाङ्गंपाणिः (व्य० वहू०) तस्मिन् ।
 भूजग एव शयनम्=भूजगशयनम् (रूपक०) तस्मात् । शापस्य अन्तः==
 शापान्तः (ष० तद०) । विरहे गणितम्=विरहगणितम् (स० तद०) ।
 आत्मनः अभिलाषः आत्माऽभिलाषः (ष० तद०) तम् । परिणताः शरच्चन्द्रिका
 यासां ताः=परिणतशरच्चन्द्रिकाः (वहू०) तासु ।

कोशः—निवेशो भृतिभोगयोः, इत्यमरः । त्रियामा क्षणदा क्षपा,
 इत्यमरः ।

टिप्पणी—भगवान् विष्णु आषाढ़-गुक्कल एकादशी जिसे हरिश्यनी एका-
 दशी कहते हैं, शेषशय्या पर सोते हैं और कार्तिक शुक्ल एकादशी जिसे देवो-
 त्थान एकादशी कहते हैं, को जगते हैं, इस प्रकार चार महीने होते हैं । प्रारम्भ
 में महाकवि ने 'आषाढ़स्य प्रथमदिवसे' ऐसा कहा है, तदनुसार चार महीने
 से १० दिन अधिक होते हैं फिर 'चतुरो मासान् गमय' ऐसा प्रयोग कैसे
 किया गया ? यह शङ्खा हो सकती है, परन्तु 'क्षत्रिणो यान्ति' के समान यहाँ
 भी 'अजहल्लक्षणा' से चार महीनों के साथ दश दिन का भी ग्रहण 'चतुरो
 मासान्' इस पद से हो जायेगा । कूर्मपुराण में एक श्लोक आता है—

'क्षीराब्धौ शेषपर्यड्के आषाढ़यां संविशेष्डरिः ।

निद्रां त्यजति कार्तिक्यां तयोः संपूजयेद्दर्शम्' ॥ इति ।

परिणतशरच्चन्द्रिकासु—दक्षिणावर्तनाथ जी ने आषाढ़ आदि चार मासों
 के अनन्तर कार्तिक मास में महाकवि ने कैसे 'शरत् ऋतु' का प्रादुर्भाव बत-
 लाया है ? ऐसी शंका की है, परन्तु महामहोपाध्याय मलिनाथजी ने इसका
 उत्तर देते हुए लिखा है कि महाकवि ने, कार्तिक महीने के अन्त तक शरत् ऋतु
 रहती है और एकादशी तिथि तक उसका परिणत हो जाना स्वाभाविक ही
 है, अतः 'परिणतशरच्चन्द्रिकासु' कहा है । न कि 'शरत् ऋतु' की उत्पत्ति
 बतलाया है । मीलयित्वा—गिजन्त 'मीलि' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय करके
 'मीलयित्वा' ऐसा रूप बनता है । आवास—'त्वच्चहच्च' इस विग्रह
 में 'त्यदादीनि सर्वैनित्यम्' इस सूत्र से एकछेष और 'त्यदादीनां मिषः

सहोक्तो यत्परं तच्छिष्यते' इस वार्तिक के नियमानुसार पर रहने के कारण 'अस्मद्' शब्द शेष रह गया। तं तम्—यहाँ वीप्ता में द्विरुक्ति है।

अलङ्कारः—यहाँ 'उदात्त' अलंकार है ॥ ४७ ॥

भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदति सस्वनं विप्रबुद्धा ।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव ! रमयन् कामपि त्वं सयेति ॥ ४८ ॥

अन्वयः—भूयश्च, आह, (हे प्रिये !) पुरा, शयने, मे, कण्ठलग्ना, अपि; त्वम्, निद्राम्, गत्वा, किमपि, सस्वनम्, रुदति, विप्रबुद्धा । असकृत्, पृच्छतः; मे, 'हे कितव ! त्वम्, कामपि, रमयन्, मया, स्वप्ने, दृष्टः' इति, त्वया, सान्तर्हासिम्, कथितम्, च ॥ ४८ ॥

व्याख्या—मेघः कथयति यक्षसंवादम्, भूयः=पुनरपि, (त्वत्प्रियः) आह=ब्रवीति, पुरा=वियोगात्पूर्वम्, शयने=तल्पे, मे=मम, कण्ठलग्ना अपि=गलसंलग्ना, 'अपि', त्वम्=मत्प्रिया, निद्राम्=स्वापम्, गत्वा=लब्धवा, किमपि केनाऽपि प्रकारेण, सस्वनम्=शब्दसहितम्, रुदती=रोदनं कुर्वती, विप्रबुद्धा=जागरिता (आसीः) ततश्च असकृत्=पुनः पुनः, पृच्छतः=जिज्ञासा कुर्वतः, मे=मम प्रियस्येति भावः, हे कितव !=हे धूतं ! त्वम्=मत्प्रियः; कामपि=अपरिचितनामधेयां स्त्रियम्, रमयन्=क्रीडयन्, मया=प्रियया, स्वप्ने=संवेशे, दृष्टः=विलोकितः, इति=एवम्, त्वया=प्रियया, सान्तर्हासिम्=अन्तर्हाससहितम्, कथितच्च=उक्तच्च ॥ ४८ ॥

शब्दार्थः—भूयश्च=(तुम्हारे पति ने) पुनः, आह=कहा, (हे प्रिये !) पुरा=पहले, शयने=शय्या पर, मे=मेरे, कण्ठलग्ना अपि=गले में लिपटी भी, त्वम्=तुम, निद्राम्=नींद को, गत्वा=प्राप्त कर, किमपि=न जाने क्यों ? सस्वनम्=शब्दों सहित अर्थात् ऊँचे स्वर से, रुदती=रोती हुई, विप्रबुद्धा=जाग पड़ी थी । (पीछे) असकृत्=बहुत, पृच्छतः=पूछने पर, 'हे कितव ! =

हे धूर्त ! त्वम्=तुम, कामपि=किसी अज्ञातनामवाली स्त्री के साथ, रमयन्=रमण करते हुए, मया=मेरे द्वारा, स्वप्ने=स्वप्न में, दृष्टः=देखे गये हो”
इति=इस प्रकार, त्वया=तुम्हारे द्वारा, सान्तहर्षिसम्=मन्द-मन्द हैसी के साथ, कथितच्च=कहा भी गया ॥ ४८ ॥

भावार्थः—हे अबले ! मन्मुखेन त्वत्प्रियः पुनरप्याह—हे प्रिये ! पूर्वं त्वं पर्यङ्के मत्कण्ठमालिङ्गय शयनाऽपि सशब्दं रुदती सहसा जागरिताऽसीः । पञ्चान्मया बहुशः जिज्ञासिते “हे धूर्त ! त्वं स्वप्ने कथाऽपि कामिन्या क्रीडन्मया दृष्टः” इति त्वयाऽन्तहर्षिसमहितमुक्तच्च ॥ ४८ ॥

हिन्दी—हे अबले ! मेरे द्वारा तुम्हारे पति ने पुनः कहा—हे प्रिये ! पहले तुम पलंग पर मेरे कण्ठ से लिपट कर सोयी हुई भी सहसा ऊचे स्वर से रोती हुई जाग पड़ी थी । पीछे मेरे द्वारा बहुत प्रश्न करने पर “हे धूर्त ! सप्ने में मैंने किसी रमणी के साथ तुम्हें रमण करते हुए देखा है” ऐसा मन्द-मन्द मुस्कान के साथ तुमने कहा भी था ॥ ४८ ॥

समाप्तः—कण्ठे लग्ना=कण्ठलग्ना (स० तद०) । स्वनैः सहितं यथा स्थान्तथा स्थवनम् (तुल्ययोग बहु०) । न सकृत्=असकृत् (नव० तद०) । अन्तः स्थितो हासः=अन्तहर्षिः (मध्यम-पद-लोपी) । अन्तहर्षिन सहितं यथा-स्थान्तथा=सान्तहर्षिम् (तुल्ययोग बहु०) ।

कोशः—स्थात् प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा, इत्यमरः ।

टिप्पणी—किमपि—यहाँ ‘किम्’ और ‘अपि’ दो अव्यय पद संयुक्त होकर प्रयुक्त हुए हैं । यहाँ शारदारञ्जन राज जी ने ‘रुद’ धातु को सकर्मक माना है और तदनुसार इसको उक्त पद का कर्म माना है । परन्तु यह मत असमीकीन है, क्योंकि सकर्मक धातु का लक्षण है ‘फलव्यधिकरण-व्यापार-वाचकत्वं सकर्मकत्वम्’ अर्थात् जिस धातु का फलांश अन्य अधिकरण में एवं व्यापारांश अन्य अधिकरण में रहे वह सकर्मक धातु होता है । परन्तु यहाँ तो ‘अश्रुपात’ आदि रुद धातु का फल, एवं नेत्र का शिल-मिलाना आदि व्यापार दोनों ‘यक्षप्रिया’ रूप एक ही अधिकरण में हैं, अतः यह धातु अकर्मक

है। अकर्मक का लक्षण है 'फलमानाधिकरण-व्यापार-वाचकत्वमकर्मक्त्वम्' इति। अतएव मलिनाथजी ने 'अनुरोदिति' इस स्थान पर 'अनु' उपसर्ग के योग को हेतु देकर अकर्मक 'रुद' धातु को सकर्मक माना है। अन्यथा हेतु देना व्यर्थ ही होता। रुदती—'रुद' धातु से लाये गए लट् लकार के स्थान पर शत्रु आदेश करके 'डीप्' करके रुदती ऐसा रूप निष्पन्न होता है। रमयन्—यह शब्द गिजन्त 'रमि' धातु से लट् लकार लाकर उसके स्थान में 'शत्रु' आदेश करके उपरान्न होता है। इस सन्देश के द्वारा यक्ष अपनी प्रिया के इस सन्देह का निराकरण करता है कि 'क्या यह मेघ सच मुच मेरे पति का मित्र है? क्या यह जो कह रहा है, वह सत्य है? इत्यादि'। यदि यह मेघ सच मुच यक्ष का मित्र न होता तो तुम्हारे और यक्ष के बीच हुई प्रेम-वटना का रहस्य यह कैसे जान पाता। इस प्रकार ॥ ४८ ॥

एतस्मान्सां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा

मा कौलीनादसितनयने ! मर्यविश्वासिनी भूः ।

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-

दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥४९॥

अन्वयः—हे असितनयने ! एतस्मात्, अभिज्ञानदानात्, माम्, कुशलिनम्, विदित्वा, कौलीनात्, मयि, अविश्वासिनी मा भूः। स्नेहान्, विरहे, किमपि ध्वंसिनः, आहुः, तु, ते अभोगात्, इष्टे वस्तुनि, उपचितरसाः, प्रेमराशीभवन्ति ॥ ४९ ॥

व्याख्या—हे असितनयने = हे कृष्णाङ्गि ! एतस्मात् = पूर्वकथितात्, अभिज्ञान-दानात् = घटना-विशेष रूप-लक्षण-वितरणात्, माम् = प्रियम्, कुशलिनम् = क्षेमवत्तम्, विदित्वा = ज्ञात्वा, कौलीनात् = लोकाऽपवादरूपहेतोः, मयि = प्रियतमे (विषये) अविश्वासिनी = प्रत्ययरहिता, मा भूः = मा स्याः। स्नेहान् = प्रणयान्, विरहे = वियोगे, किमपि = केनापि प्रकारेण, ध्वंसिनः = विनाशशीलान्, आहुः = निगदन्ति, वस्तुतः नेयं वार्ता, तु = अपितु, ते = प्रणयाः, अभोगात् = उपभोगाऽभा-

वात्, इष्टे = ईप्सिते, वस्तुनि = पदार्थे, उपचितरसाः = समृद्धाऽभिलाषाः (सन्तः)
प्रेमराशीभवन्ति = प्रणयराशीभवन्ति, विरहसहिष्णुतां प्राप्नुवन्ति ॥ ४९ ॥

शब्दार्थः—हे असितनयने = हे कृष्णनयने ! एतस्मात् = इस (पूर्वं कहे गये) कारण से, अभिज्ञानदानात् = घटनाविशेष रूप 'निशानी' देने से, माम् = मुखको, कुशलिनम् = कुशलपूर्ण, विदित्वा = जानकर, कौलीनात् = लोकापवाद के कारण, मयि = मेरे विषय में, अविश्वासिनी = विश्वासरहित, मा भूः = मत होओ । स्नेहान् = स्नेह को, विरहे = वियोग में, किसी-किसी कारण से, धर्मसिनः = विनष्ट होने वाले, आहुः = (कुछ लोग) कहते हैं, तु = किन्तु, ते = वे स्नेह, अभोगात् = न भोगे आने के कारण, इष्टे = अभिलिखित, वस्तुनि = पदार्थ के विषय में, उपचितरसाः = बढ़े हुए रस (अभिलाष) वाले (होकर) प्रेमराशी-भवन्ति = प्रेमपुञ्ज हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

भावार्थः—हे प्रिये ! पूर्वं कथित-घटना-विशेषरूपाभिज्ञानदानात् मां कुशलिनं ज्ञात्वा लोकापवादान्मयि विश्वास-रहिता मा भूः । (केचित्) स्नेहान् वियोगे विनश्वराः कथयन्ति परन्तु वस्तुस्थितिस्तु नैतादृशी; अपितु ते स्नेहाः वियोगे उपभोगाऽभावादभिलिखितपदार्थे प्रवृद्धाऽभिलाषाः सन्तः प्रेम-पुञ्जीभवन्ति ॥ ४९ ॥

हिन्दी—हे कृष्णाक्षि ! पहले कहे गये अभिज्ञान के देने से मुझे सकृशल जानकर लोकापवाद के कारण मेरे विषय में अविश्वास मत करो ! (कुछ लोग) स्नेह को वियोग में विनाशजीव कहते हैं परन्तु वे स्नेह तो वियोग काल में न भोगे जाने के कारण अभिलिखित पदार्थ के विषय में अभिलाषा के अधिक हो जाने के कारण प्रेमपुञ्ज हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

समाप्तः—न सिते = असिते (नव०) असिते नयने यस्याः सा असित-नयना (बह०) तत्सम्बुद्धौ । न भोगः अभोगः (नव०) तस्मात् । उपचितो रसो येषु ते = उपचितरसाः (बह०) ।

कोशः—मुत्त्रीतिः प्रमदो हर्षः, इत्यमरः । स्यात्कौलीनं लोकवादे युद्धे पश्वहि-पक्षिणाम्, इत्यमरः । रसो गन्धे रसः स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः, इति विश्वः ।

टिप्पणी—अभिज्ञानदानात्—यहाँ 'हेतो' इस सूत्र से पञ्चमी हुई है । 'अभिज्ञान' का अर्थ है चिह्न, जिसे बोलचाल की भाषा में 'निशानी' कहते हैं । महाकवि ने इस अभिज्ञान का प्रयोग अपने अन्य कृतियों में भी किया है । जैसे 'शकुन्तला नाटक' का पूर्ण नाम ही 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' है, उसमें राजा दुष्यन्त 'शकुन्तला' को अपना अभिज्ञान स्वनामाङ्कित 'अङ्गूठी' देते हैं, जो उस नाटक के नामकरण का मुख्य आधार है । इसी तरह 'विक्रमोर्वशीय' में भी 'संगम-मणि' अभिज्ञान रूप ही है । इसी तरह 'मालविकार्निमित्र' में भी सर्वचिह्न से चिह्नित मुद्रिका अभिज्ञान रूप में आती है । इसी तरह यहाँ भी यक्ष 'निद्रां गत्वा' आदि अभिज्ञान मेघ की सच्चाई एवं अपनी कुशलता की जानकारी के लिए देता है । कुशलिनम्—कुशलमस्यास्तीति कुशली, यहाँ 'कुशल' शब्द से 'अत इनिठों' इस सूत्र से 'इन्' प्रत्यय हुआ है । **कौलीनात्—कुले** (जनसमूहे) भवः—कुलीनः 'कुल' शब्द से 'कुलात्मकः' इससे 'ख' प्रत्यय होता है, और 'आयनेयीनीयियः' इत्यादि सूत्र से 'ख' के स्थान पर 'ईन्' आदेश करके 'कुलीन' शब्द बनता है । पञ्चात् 'कुलीनस्य भावः' या 'कुलीनस्य कर्म' किसी भी विग्रह में 'हायनान्त-युवादिष्योऽण्' इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय करके आदिवृद्धि करके 'कौलीन' ऐसा रूप बनता है । तस्मात् कौलीनात् । यहाँ महामहोपाध्याय मलिलनाथ जी ने 'कुले जनसमूहे भवात् कौलीनात् = लोकप्रवादात्' लिखा है, जो कि उनकी न्यूनता कही जायेगी, क्योंकि उन्होंने प्रकृति प्रत्ययादि का निर्देश नहीं किया है । 'अस्तु', 'कौलीन' का अर्थ लोकापवाद होता है, जो दो प्रकार का होता है—(१) सामान्य और (२) विशेष । मलिलनाथजी ने सम्भवतः 'कुशलिनं मां विदित्वा' इस पूर्व पड़िक्त को आधार मानकर यहाँ स'मान्य लोकापवाद का ही ग्रहण किया है कि 'यदि तुम्हारे पति (यक्ष) जीवित होते तो तुम्हारे पास अवश्य आ गये होते' इसलिए यक्ष कहता है—हे प्रिये मुझे कुशल समझकर मेरे विषय में विश्वास मत छोड़ दो, मैं जीवित हूँ । सम्भवतः इसीलिए यक्ष अपने हर एक सन्देश-पद्म में अपनी प्रिया के लिए, अविद्यवे !, सुभगे, आदि का प्रयोग करके यह प्रदर्शित

करना चाहता है कि मैं जीवित हूँ, और एक पतिव्रता स्त्री के लिए अपने पति पर परस्त्रीगमन का संदेह होना असंभव है, यह युक्ति भी महामहोपाध्याय जी ने दी है। कुछ लोग यहाँ लोकापवाद से विशेष लोकापवाद का ग्रहण करते हैं। उनका कहना है कि 'तुम्हारे पति किसी दूसरी स्त्री में आसक्त हो गये, नहीं तो अब तक तुम्हारे पास आ गये होते' यही लोकापवाद है, इस प्रकार यक्ष समझा रहा है कि हे प्रिये ! मुझ पर अविश्वास मत करो। मैं किसी दूसरी स्त्री में आसक्त नहीं हूँ। यहाँ दोनों अर्थ युक्ति-युक्त हैं, क्योंकि स्त्रियों के मन में अपने पति के लिए वियोगावस्था में इस प्रकार के दोनों भाव सदा उत्पन्न होते ही रहते हैं। अविश्वासिनी—'वि' उपसर्गपूर्वक 'श्वस्' धातु से धूम् प्रत्यय करके 'विश्वास' शब्द निष्पन्न होता है। और न विश्वासः अविश्वासः। तथा अविश्वास अस्त्यस्याः, इस विग्रह में 'अत इनिठनौ' इस सूत्र से इनि प्रत्यय करके स्त्रीत्व की विवक्षा में डीप् करके 'अविश्वासिनी' रूप बनता है। ध्वंसिनः—ध्वंसन्तीति तच्छीलाः इस विग्रह में 'णिनि' प्रत्यय करके 'ध्वंसिन्' शब्द बनता है, यह प्रथमा के बहुवचन का रूप है। अभोगात्—'नव्' दो प्रकार के होते हैं—(१) पर्युदास (२) प्रसज्य-प्रतिषेध। इन दोनों का स्वरूप थोड़ा समझ लें—

(१) पर्युदास—जहाँ प्रतिषेध पर बल नहीं रहता, अपितु विधि की प्रधानता रहती है, इसलिए नव् का सम्बन्ध क्रिया के साथ न होकर प्रातिपदिक के साथ रहता है वहाँ 'पर्युदास' होता है। जैसे अविद्वान्, असुखी इत्यादि।

(२) प्रसज्यप्रतिषेध—पर्युदास के ठीक विपरीत जहाँ प्रतिषेध पर बल, विधि की प्रधानता न होकर निषेध की प्रधानता तथा क्रिया के साथ नव् का सम्बन्ध होता है वहाँ प्रसज्यप्रतिषेध होता है, जैसे—न करोति। यहाँ क्रिया के साथ सम्बन्ध न होने के कारण पद असमस्त ही रहते हैं।

अब प्रकृत पर ध्यान दीजिए, उपर्युक्त विवेचनानुसार यहाँ 'प्रसज्यप्रति-षेध' है और तब उचित था कि नव् का सम्बन्ध क्रिया के साथ होता परन्तु नहीं क्रिया गया है, अतः यहाँ 'अविमृष्टविषेधयांश' नामक काव्य-दोष की आपत्ति हो सकती है, परन्तु; 'वामनाचार्य' ने अपने काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में

पाणिनि के 'आदेच उपदेशेऽशिति' इस सूत्र के 'अशिति' इस सूत्र का निर्देश देकर 'प्रसञ्ज्य प्रतिषेद्धेऽपि समाप्तोऽस्ति' ऐसा लिखा है, अतः यहाँ उक्त दोष का निवारण हो सकता है।

प्रेरमाशी-भवन्ति—वियोगावस्था में व्यक्ति अभिलिखित वस्तु का उप-भोग तो कर पाता नहीं अपितु उसके विषय में सतत कुछ-न-कुछ सुन्दर कल्पना करता रहता है, परिणाम यह होता है कि उस वस्तु के लिए उसके हृदय में अभिलाषा बढ़ती रहती है और एक ऐसा समय आ जाता है कि वह व्यक्ति उस अभिलिखित वस्तु के विना रह ही नहीं सकता, उसे ही प्रेम कहते हैं। स्नेह और प्रेम में यही सूक्ष्म अन्तर है कि 'अभीष्ट' वस्तु के लिए व्यापार करना स्नेह है और उसके विना नहीं रह पाना, उसके वियोग को न सह सकना ही प्रेम है। अतः यक्ष कहता है। 'स्नेह मरता नहीं अपितु वियोग में वह प्रेमपुञ्ज बन जाता है' संयोग की सात अवस्थाएँ होती हैं जिसमें स्नेह और प्रेम का अलग-अलग कथन है—

प्रेक्षा दिदूशा रम्येषु तच्चन्तात्वभिलाषकः ।

रागस्तत्सङ्गवुद्धिः स्यात्स्नेहस्तत्रवणक्रिया ॥

तद्वियोगाऽसहं प्रेम रतिस्तत्सहवर्तनम् ।

शृङ्गारस्तत्समं क्रीडा संयोगः सप्तधा क्रमात् ॥

अलङ्कारः—यहाँ अर्थात् रन्धास नामक अलङ्कार है ॥ ४९ ॥

आश्वास्यैवं प्रथमविरहोदग्रशोकां सखीं ते

शैलादाशु त्रिनयनवृषोत्खात्कूटान्निवृत्तः ।

साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तदवचोभिर्ममापि

प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ॥५०॥

अन्वयः—प्रथमविरहोदग्रशोकाम्, ते, सखीम्, एवम्, आश्वास्य, त्रिनयन-वृषोत्खात्कूटात्, शैलात्, आशु, निवृत्तः, साऽभिज्ञानप्रहित-कुशलैः, तद्वचोभिः; प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलम्, मम, अपि, जीवितम्, धारयेथाः ॥ ५० ॥

व्याख्या—प्रथमविरहोदग्रशोकाम् = आद्यवियोगतीव्र-दुःखाम्, ते = तब; सखीम् = प्रातुरजायाम्, मत्प्रियामिति भावः, एवम् = अनेन प्रकारेण, आश्वास्य =

उपजीव्य, त्रिनयनवृषोत्खातकूटात् = शङ्कर-वृषभ (नन्दि) - विदीर्णसानोः; शैलात् = पवंतात्, कैलासादिति भावः, आशु = शीघ्रम्, निवृत्तः = प्रत्यागतः, साऽभिज्ञानप्रहित-कुशलैः = सचिह्नप्रेषितक्षेमैः, तद्वचोभिः = मत्प्रियावचनैः, प्रातःकुन्द-प्रसवशिथिलम् = प्रात्यूषिकमाध्यपुष्पदुर्बलम्, मम अपि = यक्षस्यापि, जीवितम् = जीवनम्, धारयेथा = धारणं कुर्याः ॥ ५० ॥

शब्दार्थः—प्रथमविरहोदग्रशोकम् = अभूतपूर्ववियोग के कारण तीव्रदुःख-वाली, ते = तुम (अपनी), सखीम् = भाभी को (मेरी प्रिया को), एवम् = पूर्वोक्त प्रकार से, आश्वास्य = आश्वासन देकर, त्रिनयनवृषोत्खातकूटात् = शिवजी के बैल (नन्दी) के द्वारा विदीर्ण किये गये शिखरों वाले, शैलात् = पवंत (कैलास) से, आशु = शीघ्र ही, निवृत्तः = लौटा हुआ, साऽभिज्ञानप्रहित-कुशलैः = लक्षण युक्त कुशल वार्ता वाले, तद्वचोभिः = उसके संदेशों से, प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलम् = प्रातःकालिक खिले हुए कुन्द (चमेली) के फूल के समान दुर्बल, ममापि = मेरे भी, जीवितम् = जीवन की, धारयेथा = रक्षा करना ॥ ५० ॥

भावार्थः—हे मेघ ! अभूतपूर्ववियोगेनातीवदुःखां मत्प्रियतमामेवमाश्वास्य कैलास-पवंतात् त्वरितं प्रत्यागतः सलक्षणप्रेषितसन्देशैः मत्प्रियावचोभिस्त्वं प्राभातिक-कुन्द-पुष्प-दुर्बलं मम जीवनमपि रक्ष ॥ ५० ॥

हिन्दी—हे मेघ ! इस प्राथमिक वियोग के कारण तीव्र दुःखवाली अपनी भाभी (मेरी प्रिया) को इस प्रकार आश्वासन देकर कैलास पवंत से शीघ्र लौटा हुआ तुम लक्षणयुक्त संदेशों वाले मेरी प्रिया के वचनों से प्रातःकाल में खिले चमेली के फूल के समान दुर्बल मेरे जीवन की भी रक्षा करना ॥ ५० ॥

समाप्तः—प्रथमश्वासी विरहश्च प्रथमविरहः (कर्म ०) उद्गतमग्रं यस्य स उदग्रः (बहु०); उदग्रः शोको यस्याः सा उदग्रशोका (बहु०) प्रथमविरहेण उदग्रशोका = प्रथमविरहोदग्रशोका (तृ० तत०) ताम् । त्रीणि नयनानि यस्य सः त्रिनयनः (बहु०) तस्य वृषः = त्रिनयनवृषः (ष० तत०) उत्खाताः कूटा यस्य स उत्खातकूटः (बहु०) त्रिनयन-वृषेण उत्खातकूटः = त्रिनयनवृषोत्खातकूटः (तृ० तत०) तस्मात् । अभिज्ञानेन सहितम् = साऽभिज्ञानम् (तुल्य० बहु०) । प्रहितं कुशलं येषु तानि प्रहित-कुशलानि (बहु०) साभिज्ञानं यथा स्यात्था-

प्रहित-कुशलानि = साभिज्ञान-प्रहित-कुशलानि (सुप्तुपा०) तैः । तस्याः वचांसि तद्वाचांसि (ष० तद०) तैः । प्रातर्भवः कुन्द-प्रसवः = प्रातर्कुन्दप्रसवः (मध्यम-पदलोपी समाप्त), प्रातःकुन्दप्रसव इव शिथिलम् = प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलम् (उपमान कर्म धा०) ।

कोशः—कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्, इत्यमरः । अविलम्बितमाशु च; इत्यमरः । कुशलं क्षेममस्त्रियाम्, इत्यमरः । उच्चवः प्रांशूलतोदग्नः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—आश्वास्य—‘आङ्’ उपसर्गपूर्वक ‘इवस्’ धातु से णिच् करके पुनः वत्वा प्रत्यय लाकर उसके स्थान में ‘त्यप्’ आदेश करके ‘आश्वास्य’ रूप बनता है । त्रिनयन—यहाँ ‘क्षुभ्नादिषु च’ इस सूत्र से णत्व का निषेध किया गया है । साऽभिज्ञानप्रहित-कुशलैः—यक्ष प्रिया के सन्देश में भी स्वयं की ही तरह ‘अभिज्ञान’ चाहता है । यह मेरी प्रिया का ही संदेश है या स्वयं बनाकर कुछ कह रहा है, इस शङ्खा की निवृत्ति के लिए यहाँ साभिज्ञान पद दिया गया । प्रातःकुन्दप्रसव-शिथिलम्—प्रातःकाल में चमेली का फूल बहुत शिथिल होता है, अतः यक्ष ने प्राण की उपमा उससे दी है कि प्रिया-विरह के कारण मेरा प्राण भी वैसा ही दुलङ्घ है । धारयेथाः—‘धारणार्थकं’ ‘धू’ धातु से ‘हेतुमति च’ इस सूत्र से ‘णिच्’ प्रत्यय करके लिङ् लकार लाकर उसके स्थान में मध्यमपुरुष एकवचन में ‘यास्’ आदेश करके ‘धारयेथा’ ऐसा रूप निष्पन्न होता है । यहाँ ‘णिचश्च’ इस सूत्र से आत्मनेपद का विधान किया जाता है ।

यहाँ प्रार्थना अर्थ में ‘लिङ्’ लकार आया है ॥ ५० ॥

कच्चित् सौम्य ! व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे

प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि ।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः

प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्षियंव ॥५१॥

अन्वयः—हे सौम्य ! इदम्, मे, बन्धुकृत्यम्, त्वया, व्यवसितम्, कच्चित्, प्रत्यादेशात्, भवतः, धीरताम्, न, कल्पयामि; खलु । याचितः (सत्) निः

शब्दः, अपि, चातकेभ्यः, जलम्, प्रदिशसि । हि, सताम्, प्रणयिषु, ईप्सितार्थं-
क्रिया, एव, प्रत्युक्तम् ॥ ५१ ॥

व्याख्या—हे सौम्य ! =हे सज्जन ! इदम्=एतत्, मे=मम, बन्धुकृत्यम्
=सखाकार्यम्, त्वया=मेधेन, व्यवसितं कच्चित्=करिष्यामीति निश्चितं
किम् ? प्रत्यादेशात्=प्रत्याख्यानात्, खलु भवतः=मेघस्य, धीरताम्=
गम्भीर्यम्, न कल्पयामि=नातुमोदयामि । याचितः=प्रार्थितः सन्, निःशब्दः
अपि=स्तनितरहितोऽपि, चातकेभ्यः=सारङ्गेभ्यः, जलम्=तोयम्, प्रदिशसि
=प्रयच्छति । हि=यस्मात्, सताम्=सज्जनानाम्, प्रणयिषु=प्रार्थिषु, (विषये)
ईप्सितार्थंक्रिया एव=अभिलिपित-कार्य-करणमेव, प्रत्युक्तम् = प्रतिवचनम्,
अभीष्ट-कार्यसम्पादनमेव प्रार्थिषुत्तरं भवतीति भावः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थः—हे सौम्य ! =हे भद्र ! इदम्=इस सन्देश पहुँचाना रूप, मे
=मेरे, बन्धुकृत्यम्=मित्रता के कार्य को, त्वया=तुमने, व्यवसितं कच्चित्
=करूँगा क्या यह सोच लिया है, प्रत्यादेशात्=ठुकरा देने के कारण ही, भवतः
=तुम्हारी, धीरताम्=गम्भीरता को, न कल्पयामि=मैं कल्पना नहीं करता ।
याचितः=प्रार्थना करने पर, निःशब्दोऽपि=गर्जन किये बिना भी, चातकेभ्यः
=चाचकों के लिए, जलम्=पानी, प्रदिशसि=देते हो । हि=क्योंकि, सताम्
=सज्जनों का, प्रणयिषु=याचकों के प्रति, ईप्सितार्थं-क्रियैव=अभीष्ट कार्य
का सम्पादन ही, प्रत्युक्तम्=उत्तर (होता है) ॥ ५१ ॥

भावार्थः—हे भद्र ! त्वया मत्कार्यं करिष्यते इति हृदये निश्चितं किम् ?
यस्त्वं याचितः सन् स्वीकृतिरूपं स्तनितमकृत्वाऽपि चातकेभ्यः तोयं प्रददासि,
स त्वं मत्सन्देशवाहनरूपं कार्यमस्वीकरिष्यसीति त्वदगम्भीर्येन नाऽहङ्कृत्य-
यामि । यतः सज्जनानां प्रार्थिषु अभिलिपित-कृत्य-सम्पादनमेव प्रतिवचनं
भवति ॥ ५१ ॥

हिन्दी—हे सज्जन ! क्या तुमने मेरे इस बन्धु-कार्य को करने के लिए
निश्चय किया है ? जो तुम माँगने पर स्वीकृतिसूचक गर्जन किये बिना भी
चातकों को जल देते हो, वह तुम मेरी प्रार्थना को ठुकरा दोगे, ऐसी कल्पना
तुम्हारी गम्भीरता के कारण मैं नहीं कह रहा हूँ । क्योंकि सज्जनों का याचकों
के प्रति अभिलिपित प्रयोजन का सम्पादन ही प्रत्युत्तर हुआ करता है ॥ ५१ ॥

समासः—बन्धोः कृत्यम् = बन्धुकृत्यम् (ष० तद०) । निर्गतः शब्दः यस्मात् सः निःशब्दः (बहु०) । ईप्सितश्चासी अर्थः=ईप्सितार्थः (कर्म धा०) । तस्य क्रिया = ईप्सितार्थक्रिया (ष० तद०) ।

कोशः—कच्चित् काम प्रवेदने, इत्यमरः । उक्तिराभाषणं वाक्यमादेशो वचनं, इति शब्दार्णवः । प्रत्याख्यानं निरसनं प्रत्यादेशो निराकृतिः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—मे—अस्मद् शब्द की छढ़ी विभक्ति के एकवचन 'मम' के स्थान में 'तेमयावैकवचनस्य' इस सूत्र से 'मे' आदेश होता है । इस 'मे' पद का 'बन्धु-कृत्यम्' घटक बन्धोः के साथ अपेक्षा होने पर 'गमकत्वात्' समास हुआ है । गमकत्व वहाँ होता है जहाँ की समास-वृत्ति एवं विग्रह (वृत्ति के अर्थ का अवबोधन करनेवाला वाक्य) में एक समान ही उपस्थिति होती है क्योंकि लक्षण है 'वृत्तिविग्रहयोः समानप्रकारोपस्थितिजनकत्वं गमकत्वम्' इति । कच्चित्—यह अव्यय पद है । इसका प्रयोग अभिप्राय प्रगट करने के अर्थ में होता है । प्रत्यादेशात्—'प्रति' पूर्वक एवं 'आङ्' पूर्वक 'दिश' धातु से 'धब्' प्रत्यय करके 'प्रत्यादेश' शब्द निष्पन्न होता है । यहाँ हेतु में पञ्चमी है ।

प्रत्यादेश शब्द का अर्थ महामहोपाध्याय मल्लिनाथजी ने प्रतिवचन अर्थात् प्रत्युत्तर माना है, उनका प्रमाण है शब्दार्णव कोश की 'उक्तिराभाषणं वाक्यमादेशो वचनं वचः' यह उक्ति है । तदनुसार अर्थं यह हो सकता है कि 'उत्तर देकर तुमने मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया है इसलिए मैं तुम्हारी गम्भीरता का समर्थन नहीं कर पाता, जो तुम माँगने पर बिना शब्द किए ही चातकों को जल देते हो क्योंकि सज्जनों का याचकों के प्रति अभीष्ट प्रयोजन सम्पादन ही प्रत्युत्तर होता है । इति । परन्तु महाभाष्य आदि ग्रन्थों में प्रत्यादेश का प्रत्याख्यान, निरादर आदि अर्थ में ही प्रयोग मिलता है । अतः एतदनुसार ही व्याख्या की गई है ।

कल्पयामि—णिजन्त 'कल्प' धातु के लट् लकार के उत्तमपुरुष के एक-वचन का रूप है । 'प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव' इसके उदाहरण स्वरूप मल्लिनाथजी ने निम्नलिखित श्लोक दिया है—

गर्जन्ति शरदि न वर्षति, वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः ।

नीचो वदति न कुक्षते, न वदति सुजनः करोत्येव ॥

नैषध्यचरित में इसी भाव का कथन है—

ब्रूवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ।

(नैषध०, २।४८।)

अलङ्कारः—यहाँ तृतीय चरणोक्त वाक्यार्थ का समर्थन अतुर्थं चरण कथित वाक्य के द्वारा होता है । अतः ‘अथन्तरन्यास’ नामक अलङ्कार है ।

एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावतिनो मे

सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मध्यनुक्रोशबुद्ध्या ।

इष्टान्देशान् विचर जलद ! प्रावृषा सम्भृतश्री-

मभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥५२॥

अन्वयः—हे जलद ! सौहार्दाति, वा, ‘विधुर इति वा, मयि, अनुक्रोश-बुद्ध्या, वा, अनुचितप्रार्थनावतिनो, मे, एतत्, प्रियम्, कृत्वा, प्रावृषा, संभृतश्रीः, इष्टान्, देशान्, विचर । क्षणमपि, ते, विद्युता, विप्रयोगः, एवम्, मा, भूत ॥ ५२ ॥

व्याख्या—इदानीं यक्षः स्वकार्यार्थं मेघं प्रार्थमानः तं विसृजति एतदिति । हे जलद ! = हे पयोधर ! सौहार्दाति = मित्रभावात्, वा = अथवा, विधुर इति वा = प्रियवियुक्त इति कारणात्, वा = अथवा, मयि = यक्षे, (विषये) अनुक्रोशबुद्ध्या = दयामत्या, वा = अथवा, अनुचितप्रार्थनावतिनः = अननुरूपयाचकत्य, मे = यक्षस्य, एतत् = सन्देशहरणरूपम्, प्रियम् = अभिप्सितं कार्यम्, कृत्वा = सम्पादयित्वा; प्रावृषा = वर्षाभिः, संभृतश्रीः = परिवर्धित-शोभः सन्, इष्टान् = निजाभिलिपितान्, देशान् = प्रान्तान्, विचर = गच्छ, अन्ते च मेघमाशिषमुक्त्वा स्ववक्तव्यं यक्ष उपसंहरति माभूदिति । क्षणमपि = निमेषमात्रमपि, ते = मेघस्य, विद्युता = चपलया, प्रेयसिरूपयेति भावः, विप्रयोगः = वियोगः, एवम् = मत्स-दृशम्, माभूत = न भवेत् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थः—हे जलद ! हे मेघ, सौहार्दति = मित्र भाव से, वा = अथवा, विद्युर इति = (मेरे) प्रिया वियुक्त होने के कारण, वा = अथवा, मयि = मेरे विषय में, अनुक्रोशबुद्ध्या = करुणाबुद्धि से, अनुचितप्रार्थनावर्तिनः = अनुपयुक्त प्रार्थना करने वाले, मे = मेरे, एतत् = इस सन्देश पहुँचाने रूप, प्रियम् = अभिल-षित कार्यं को, कृत्वा = करके, प्रावृष्टा = वर्षाश्रितु के कारण, संभृतश्रीः = समृद्ध शोभा वाला, (होता हुआ) इष्टान् = अभिलषित, देशान् = देशों में, विचर = विहार करो (धूमो) । अन्त में आशीर्वाद देकर यक्ष अपना वक्तव्य समाप्त करता है । क्षणमपि = एक मिनट भी, ते = तुम्हारा, विद्युता = बिजली से अर्थात् अपनी प्रियतमा से, विप्रयोगः = वियोग, एवं = मेरे जैसा, माभूत् = न हो ॥ ५२ ॥

भावार्थः—हे मेघ ! मित्रभावाद्वा, एष प्रिया-विप्रयुक्त इति कारणाद्वा मद्विषये करुणाबुद्ध्या वा मत्प्रिया-सन्देशहरणरूपमधीष्टकृत्यं सम्पाद्य वर्षतुंनोपचितशोभस्त्वं स्वाभिलषितान्देशान् विहर । सत्सदृशः ते विद्युत्कान्ता-वियोगः एकं क्षणमपि न भवेदिति ॥ ५२ ॥

हिन्दी—हे मेघ ! मित्र-भाव से, या यह ‘प्रिया से बिछुड़ा हुआ है’ इस कारण अथवा मेरे विषय में करुणाबुद्धि से अनुचित प्रार्थना करने वाले मेरे इस ‘प्रिया सन्देश हरण’ रूप अभिलषित कार्यं को करके अपने अभिलषित देशों में विहार करो । (अन्त में यक्ष आशीर्वाद देकर अपना वक्तव्य समाप्त करता है) ।

मेरे समान तेरा अपनी प्रियतमा बिजली से एक क्षण भी वियोग न हो ॥ ५२ ॥

समाप्तः—जलं ददातीति जलदः (उपपद०) सत्सम्बुद्धौ । शोभनं हृदयं यस्य सः सुहृत् (बहु०) । अनुक्रोशस्य बुद्धिः अनुक्रोशबुद्धिः (ष० तत०) तथा न उचिता = अनुचिता (नव०) अनुचितः चासौ प्रार्थना = अनुचित-प्रार्थना (कर्म० धा०) । संभृता श्रीर्यस्य सः सम्भृतश्रीः (बहु०) ।

कोशः—विद्युरन्तु प्रविश्लेषे, इत्यमरः । अथ मित्रं सखा सुहृत्, इत्यमरः । स्त्रियां प्रावृद् स्त्रिया भूम्नि वर्षा, इत्यमरः । कृपादयाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—जलद—जल उपपद पूर्वक 'दा' धातु से 'क' प्रत्यय करके धातु के आकार का लोप करके जलद ऐसा रूप बनता है। **सुहृत्—**यहाँ 'हृदय' शब्द के स्थान पर 'सुहृददुहृंदौ मित्राऽमित्रयोः' इस सूत्र से 'हृत्' शब्द निपातन किया जाता है। सुहृदो भावः सौहार्दः यहाँ 'सुहृत्' शब्द से अण् प्रत्यय करके 'हृदभगसिन्धवन्ते पूर्वं पदस्य च' इस सूत्र से 'तु' के उ को ओ, एवं 'हृ' के ऋ को आए, बृद्धि करके 'सौहार्दं' ऐसा रूप निष्पन्न होता है। **विधुरम्—**'वि' उपसर्गंपूर्वक 'धुर्' शब्द को 'विगतो धूर्यस्य' इस उपपद समास के पश्चात् 'ऋक्पूरव्यूपथामानक्षे' इस सूत्र से समाप्तान्त 'अ' प्रत्यय करके 'विधुर्' शब्द बनता है। पुनः विधुरमस्यास्तीति इस विग्रह में 'अर्शाऽप्रादिभ्योऽच्' इस सूत्र से 'अच्' प्रत्यय करके 'विधुर्' ऐसा रूप निष्पन्न होता है, जिसका 'वियुक्त' अर्थ होता है। **अनुचितप्रार्थनावर्तिनः—**अनुचितप्रार्थनायां वर्तंते तच्छीलः इस विग्रह में अनुचित प्रार्थना उपपद पूर्वक 'हृत्' धातु से 'ताच्छील्य' अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय करके 'अनुचित प्रार्थनावर्तीं' ऐसा शब्द निष्पन्न होता है, प्रकृत रूप षष्ठी विभक्ति का है। प्रार्थना में अनुचित विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि कहाँ तो मैं अभिसास यक्ष और कहाँ तुम देवताओं के राजा इन्द्र के मन्त्री, प्रधान पुरुष हो और तुमसे प्रिया के पास सन्देश पहुँचाने के लिए प्रार्थना करना अनुचित होता है। क्योंकि कहा गया है—न हि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः। इति। **संभृतश्रीः—**'सम्' उपसर्गंपूर्वक 'भृ' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' करके 'संभृता' ऐसा रूप बनता है। **संभृता श्रीयस्य संभृतश्रीः।** **देशान्—**यहाँ 'वि' उपसर्गंपूर्वक विहार अर्थ में विद्यमान अकर्मक 'चर्' धातु के योग होने के कारण 'अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽव्या च कर्म इति वाच्यम्' इस वार्तिक से कर्म संज्ञा हुई है। और 'कर्मणि द्वितीया' इस सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुई है। यह बहुवचन का रूप है। यह 'चर्' धातु यद्यपि अकर्मक है, परन्तु उक्त कारण से 'देश' यह पद 'विचर' का कर्म हुआ। उदाहरण—स्वरूप देखिए—'अधिज्ञघ्नन्वाविचचार दावम्' रघुवंश द्वितीय सर्ग में भी 'दाव' यह पद 'विचचार' का कर्म है। **विप्रयोग—**

‘वि’ एवं ‘प्र’ उपसर्गपूर्वक योगार्थक ‘युज्’ धातु से वब् प्रत्यय करके ‘विप्र-योग’ रूप निष्पत्ति होता है। मा भूत—यहाँ ‘मा’ के योग में ‘भू’ धातु से आशीर्वाद अर्थ में ‘माडि लुङ्’ इस सूत्र से लुङ् लकार आया है और ‘लुङ्लुङ्-लुङ्लुङ्’ इस सूत्र से प्राप्त आगम का निषेध ‘न माड् योगे’ इस सूत्र से हो गया है। यह एकवचन का रूप है।

अलङ्कारः—यहाँ लिङ्ग-साम्य अर्थात् मेघ में पुलिङ्ग होने के कारण नायकत्व का एवं स्त्रीलिङ्ग होने के कारण ‘विद्युत्’ में नायिकात्व का समारोप होने के कारण ‘समासोक्ति’ नामक अलङ्कार है ॥ ५२ ॥

इस प्रकार कविकुलगुरु कालिदास ने वियोगी यक्ष के द्वारा अचेतन मेघ को कहे गये सन्देश-वार्ता संकलन रूप ‘मेघद्रूत’ की समाप्ति यहीं पर कर दी है। महामहोपाध्याय मलिनाथजी ने भी यहीं तक के श्लोकों की टीका की है। आगे के श्लोकों द्वारा प्रतिपादित अर्थ की असंभाव्यता के कारण एवं कालिदास की शैली के अभाव के कारण उन्होंने आगे के संक्षिप्त श्लोकों की टीका नहीं की है। परन्तु कुछ टीकाकारों ने जिन दो श्लोकों की टीका की है उनकी टीका में भी कर दे रहा हूँ।

[तं संदेशं जलधरवरो दिव्यवाचाऽवचक्षे

प्राणांस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः ।

प्राप्योदन्तं प्रमुदितमनाः साऽपि तस्थौ स्वभर्तुः

केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु ॥१॥]

अन्वयः—जनहितरतः, जलधरवरः, तस्याः, यक्षवध्वाः प्राणान्, रक्षितुम्, दिव्यवाचा, तम्, सन्देशम्, आचचक्षे । सा, अपि, स्वभर्तुः, उदन्तम्, प्राप्य, प्रमुदितमनाः, तस्थौ, हि, उत्तमेषु, प्रार्थना, केषाम्, अभिमतफला, न स्यात् ?

व्याख्या—जनहितरतः=लोककल्याणतत्परः जलधरवरः=मेघश्रेष्ठः, तस्याः=पूर्वकथितायाः, यक्षवध्वाः=यक्षप्रियायाः, प्राणान्=जीवितान्, रक्षितुम्=पालियतुम्, दिव्यवाचा=लोकोत्तरवाण्या, तम्=यक्ष-कथितम्, सन्देशम्=वार्ताम्, आचचक्षे=उवाच । सा अपि=यक्षप्रिया अपि, स्वभर्तुः=निजप्रियतमस्य

उदन्तम्=वृत्तान्तम्, प्राप्य=लब्धवा, प्रमुदितमनाः=प्रफुल्लहृदया, तस्थौ=स्थिता, हि=यतः, उत्तमेषु=महत्सु (विषये) प्रार्थना=याच्चात्, केषाम्=जनानाम्, अभिमतफला=प्राप्तकामा, न भवेत्=न स्यात्, सर्वेषाम् प्रार्थना महत्सु लब्धकामा, भवत्येवेति भावः ॥ १ ॥

शब्दार्थः—जनहितरतः=लोकोपकार में लगे, जलधरवरः=श्रेष्ठ मेघ ने, तस्याः=उस, यक्षवृष्टाः=यक्षप्रिया के, प्राणात्=प्राणों की, रक्षितुम्=रक्षा के लिए, दिव्यवाचा=अलौकिक वाणी से, तम्=उस यक्ष के द्वारा कहे गये, सन्देशम्=सन्देश को, आचचक्षे=कहा । सा अपि=वह यक्षपत्नी भी, स्वभर्तुः=अपने प्रियतम के, उदन्तम्=वृत्तान्त को, प्राप्य=पाकर, प्रमुदितमनाः=प्रसन्न हृदय वाली, तस्थौ=हुई । हि=क्योंकि, उत्तमेषु=बड़ों से, प्रार्थना=की गयी याचना, केषाम्=किनकी, अभिमतफला=सफल, न स्यात्=न हो ? अर्थात् सबों की प्रार्थना सफल होती ही है ॥ १ ॥

भावार्थः—लोकोपकारी मेघश्रेष्ठो यक्षपत्न्याः प्राणरक्षार्थं यक्षोक्तं सन्देशं लोकोत्तरवाण्या तस्यै जगाद् । यक्ष-प्रियाऽपि स्वभर्तुवृत्तान्तं श्रुत्वा प्रमुदितमना बभूव । महत्सु केषां प्रार्थना सफला न भवत्यपितु सर्वेषां भवत्येवेति भावः ॥ १ ॥

हिन्दी—लोक के उपकार में संलग्न श्रेष्ठ मेघ ने उस यक्षपत्नी के प्राणों की रक्षा के लिए यक्ष के द्वारा कहे गये सन्देश को अलौकिक वाणी से यक्षप्रिया को कहा । वह यक्षप्रिया भी अपने पति के वृत्तान्त को सुनकर प्रसन्न मन वाली हो गयी । क्योंकि महापुरुषों से की गयी किसकी प्रार्थना सफल नहीं होती । अर्थात् सबों की होती है ।

समाप्तः—जनहितेः रतः=जनहितरतः (स० तद०), जलानां धराः=जलधराः (ष० तद०) तेषु श्रेष्ठः जलधरश्रेष्ठः (स० तद०) । यक्षस्य वधूः यक्षवधूः (ष० तद०) तस्याः । दिव्या चासौ वाक्=दिव्यवाक् (कर्म० धा०) तथा । स्वस्य भर्ता=स्वभर्ता (ष० तद०) तस्य । प्रमुदितं मनो यस्याः सा प्रमुदितमना (बहु०) । अभिमतं फलं यस्याः सा अभिमतफला (बहु०) ।

कोशः—योषा नारी सीमन्तनी वधूः, इत्यमरः । सन्देशवाक् वाचिकं स्यात्, इत्यमरः । वार्ताप्रिवृत्तिवृत्तान्तमुदन्तं स्यात्, इत्यमरः । स्वान्तं हृन्मानसं मनः, इत्यमरः ।

टिप्पणी—जनहितरतः—‘जनेभ्यो हितम्’ यहाँ जन शब्द से हित के योग में ‘हितयोगे च’ इस सूत्र से चतुर्थी विभक्ति आयी है । पञ्चात् ‘चतुर्थी तदर्थाद्यं-बलि-हित-सुखरक्षितैः’ इस सूत्र से चतुर्थी समास होकर ‘भ्यस्’ का लोप किया गया है । ‘पञ्चात् समसी समास किया गया है । जलधार-धरतीति धरा: ‘धू’ धातु से पचाच्यच् करके ‘धरा:’ ऐसा रूप बनता है और उसके योग में ‘कर्तुंकर्मणोः कृति’ इस सूत्र से ‘जल’ शब्द से षष्ठी विभक्ति हुई है । यहाँ यदि द्वितीया समास किया गया तो ‘कर्मण्यण्’ इस सूत्र से अण् प्रत्यय होकर णित्वात् धातु के आकार को वृद्धि होने लगेगी । यदि ‘जलधार’ रूप स्वीकार कर भी लिया जाय तो छन्दोभङ्ग होने लगेगा । रक्षितुम्—‘रक्ष्’ धातु से ‘तुमुन्’ प्रत्यय करके ‘रक्षितुम्’ ऐसा रूप निष्पन्न होता है । आचचक्षे—‘आङ्’ उपसर्गपूर्वक चक्ष् (इङ्) धातु के लिट् लकार का ‘आचचक्षे’ रूप है । डित्वात् आत्मनेपद हुआ है । प्राप्य—‘प्र’ उपसर्गपूर्वक ‘आप्’ धातु से ‘क्त्वा’ प्रत्यय करके उसके स्थान में ‘ल्यप्’ करके ‘प्राप्य’ ऐसा रूप बनता है । तस्थौ—‘स्था’ धातु के लिट् लकार के प्रथमपुरुष के एकवचन का रूप है ‘तस्थौ’ ।

अलङ्कारः—यहाँ तृतीय चरणोक्त विशेष अर्थ का चतुर्थं चरणोक्त सामान्य के द्वारा समर्थन होने के कारण ‘अर्थान्तरन्यास’ अलङ्कार है ।

श्रुत्वा वार्ता जलदक्यितां तां धनेशोऽपि सद्यः

**शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायाऽस्तकोपः ।
संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ,**

भोगानिष्टानविरतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥ २ ॥

अन्वयः—धनेशः, अपि, जलदक्यिताम्, ताम्, वार्ताम्, श्रुत्वा, सदयहृदयः

अस्तकोपः, सद्यः, शापस्य, अन्तम्, संविधाय, विगलितशुचौ, हृष्टचित्तौ, एतौ,
दम्पती, संयोज्य, इष्टान्, भोगान्, अविरतसुखम्, शश्वत्, भोजयामास ॥ २ ॥

व्याख्या—धनेशः अपि = कुबेरोऽपि, जलदकथिताम् = मेघव्याहृताम्,
ताम् = पूर्व-प्रतिपादिताम्, वार्ताम् = प्रवृत्तिम्, श्रुत्वा = आकर्ष्य, सदयहृदयः =
सकरुणचित्तः, अस्तकोपः = विगतमन्युः, सन्, सद्यः = तत्क्षण एव, शापस्य =
शपनस्य, अन्तम् = समाप्ति, संविधाय = कृत्वा, विगलितशुचौ = अपगतशोकौ,
हृष्टचित्तौ = प्रसन्नहृदयी; एतौ = पूर्वोक्तौ, दम्पती = जायापती, अज्ञातनामानं
यक्षं तस्य पत्नीञ्च, संयोज्य = सम्मेल्य, इष्टान् = प्रियान्, भोगान् = भोग्यपदा-
र्थान्, अविरतसुखम् = निरन्तरसुखम्, यथा स्यात्तथा, शश्वत् = पुनः: पुनः:
भोजयामास = अनुभावयाम्बभूव ॥ २ ॥

शब्दार्थः—धनेशः = कुबेर, अपि = भी, जलद-कथिताम् = मेघ के द्वारा
कहे गये, ताम् = उस, वार्ताम् = सन्देश को, श्रुत्वा = सुनकर, सदयहृदयः =
करुणहृदय, अतएव, अस्तकोपः = शान्तक्रोध (वाला होकर) सद्यः = तुरत ही;
शापस्य = (अपने द्वारा दिये गये) शाप का, अन्तम् = अन्त, संविधाय = करके,
विगलितशुचौ = विनष्ट शोक वाले, अतएव, प्रहृष्टचित्तौ = प्रसन्न मन वाले, एतौ
= इन, दम्पती = पति-पत्नी को, संयोज्य = मिलाकर, इष्टान् = अभिलिष्ठि,
भोगान् = भोग्य पदार्थों का, अविरतसुखम् = जिस प्रकार निरन्तर सुख मिलता
रहे, शश्वत् = बार-बार, भोजयामास = उपभोग कराया ॥ २ ॥

भावार्थः—कुबेरोऽपि मेघोक्तं यक्षसन्देशमाकर्ष्य सकरुणः विगतमन्युः
सन् शापस्य तत्क्षणमेवावसानं कृत्वा निर्गंतशोकौ प्रसन्नमानसावेतौ जायापती
सम्मेल्य निरन्तरं यथाऽनन्दं स्यात्तथा पुनः पुनः: अभिलिष्ठिभोग्यपदार्थान्
भोजयामास ॥ २ ॥

हिन्दी—कुबेर भी मेघ द्वारा कहे गये यक्ष के सन्देश को सुनकर करुणा
से शान्त क्रोध वाला होकर अपने शाप को तुरंत समाप्त करके विनष्ट-दुःख
वाले अतः प्रसन्न हृदय वाले उन दोनों यक्ष एवं उसकी पत्नी को मिलाकर
जिससे उन्हें सर्वांगा आनन्द मिलता रहे, इस प्रकार पुनः पुनः: उन दोनों को
अभिलिष्ठि भोग्य पदार्थों का उपभोग कराया ।

समाप्तः—इयाया सहितम् = सदयम् (तुल्ययोग बहु०) । सदयं हृदयं यस्य

सः सदयहृदयः (बहु०) । अस्तः कोपो यस्मात्तः अस्तकोपः (बहु०) । विगलिता
शुक्-भयस्तौ विगलितशुचौ (बहु०) । जाया च पति च दम्पत्ती (द्वन्द्व) तौ ।
न विरतम् = अविरतम् (नव०) । अविरतं सुखं यस्मिन् तद्यथा स्यात्था
अविरतसुखम् (बहु०) ।

कोशः—दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ, इत्यभरः । सतता-
ज्ञाराताऽश्रान्तसन्तताऽविरताऽनिशम्, इत्यमरः ।

टिप्पणी—अस्त—अस् धातु से 'क्त' प्रत्यय करके 'अस्त' ऐसा रूप
निष्पन्न होता है । हृष्टः—हृष् धातु से 'क्त' प्रत्यय करके षटुत्व आदि करके
'हृष्टः' ऐसा रूप निष्पन्न होता है । दम्पती—जाया च पतिश्च इस विश्रह में
द्वन्द्व समास होने के पश्चात् 'राजदन्तादिषु परम्' इस सूत्र से 'जाया' शब्द को
'दम्' भाव निपातन होता है, तब दम्पती वह रूप बनता है । जहाँ उसी सूत्र
से 'जाया' शब्द को 'जम्' भाव निपातन होता है वहाँ 'जम्पती' ऐसा रूप
निष्पन्न होता है । संयोज्य—'सम्' उपसर्गपूर्वक 'युज्' धातु से 'णिच्' प्रत्यय
करके धातु संज्ञा करके पश्चात् क्त्वा प्रत्यय करके उसके स्थान में 'ल्यप्'
आदेश करके 'संयोज्य' ऐसा रूप उपपन्न होता है । भोजयामास—णिजन्त
'भोजि' धातु से लिट् लकार लाकर पुनः तिप् णलादि करके उसका लोप
इत्यादि करके आम आदि लाकर, पुनः 'कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि' इस सूत्र से
लिट् परक 'अस्' का अनुपयोग करके गुण अयादेश आदि करके, 'भोजयामास'
ऐसा रूप निष्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति शम् ॥

सीता-महो-मण्डल-मध्यवर्ती,

ग्रामोऽलपूरा' बुधवास-भूमिः ।

निवासिना तस्य कृताऽत्र टीका,

श्रीवैद्यनाथेन प्रपूरितैषा ॥

इति श्रीकविकुलगुरुमहाकविकालिदासविरचित-मेघदूतस्य मधुवनीमण्डलान्त-

गंत 'अलपूरा' ग्राम-निवासिना ज्ञोपाहृवैद्यनाथेन कृतया 'इन्दुकला'

टीकया भगवान् विश्वेश्वरः प्रसीदतु ॥

इति शम् ॥



